जैन धर्म और दर्शन

मुनिश्री प्रमाणसागरजी महाराज

पूर्व प्रकाश

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। उसकी प्रवृत्ति खोजी रही है। उसने सदा से जीव और जगत्, चित् और अचित्, सत्ता और परमसत्ता के विषय में चिन्तन किया है। जो कुछ भी उसके तर्क, बुद्धि और अन्तर्दृष्टि से अधिगत हुआ वही दर्शन है। दर्शन का अर्थ है 'दिव्यदृष्टि'।

जीवन के दु:ख7ों को दूर करना ही दर्शन का मूल उद्देश्य है। भारतीय दर्शनों के अनुसार केवल सत्य की खोज और उनका ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु उसे आत्मसात् कर तदनुरूप जीना भी आवश्यक है। यही कारण है कि भारत में धर्म और दर्शन सहचर और सहगामी रहे हैं। दर्शन सत्ता की मीमाँसा करता है और उसके स्वरूप को तर्क एवं विचार से ग्रहण करता है, जिससे कि मोक्ष की उपलब्धि हो। धर्म उस तत्त्व को प्राप्त करने का व्यावहारिक उपाय है। दर्शन हमें आदर्श लक्ष्य को बताता है, धर्म उसको प्राप्त करने का रास्ता है। दर्शन द्वारा तत्त्व प्रतिपादित होते हैं, धर्म उनका क्रियान्वयन करता है, हेय को छोड़ता है, उपादेय को ग्रहण करता है, दर्शन और धर्म दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

दर्शन की अनेक धाराएँ हैं। उनका वर्गीकरण भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के रूप में किया जा सकता है। जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह जैन दर्शन के ये चार महान् स्तम्भ हैं, जिन पर जैन दर्शन का महाप्रासाद खड़ा है। जैन दर्शन एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है। यह केवल कमनीय कल्पनाओं के अनन्त आकाश में विचरण नहीं करता, वरन् उन विमल विचारों को जीवन के प्रत्येक व्यवहार में प्रतिफलित भी करना चाहता है।

जैन साहित्य का विपुल भण्डार है। उसके अधिकांश ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश जैसी प्राचीन भाषाओं में होने से नयी पीढ़ी का उनमें प्रवेश नहीं हो पाता। हिन्दी भाषा में भी कुछ सरल ग्रन्थों का सृजन और जटिल ग्रन्थों का अनुवाद आदि कार्य हुआ है। उन सभी की अपनी उपयोगिता है, लेकिन भाषागत जटिलता एवं प्रस्तुतिगत कठिनाई के कारण नयी पीढ़ी उनसे पूर्ण रूप से लाभान्वित नहीं हो सकी है। आज की नयी पीढ़ी हर बात को उसकी वैज्ञानिकता एवं युक्तियुक्तता के साथ समझना चाहती है। यदि धर्म और दर्शन जैसे गूढ़ विषयों की भी वैज्ञानिक प्रस्तुति हो तो वे उसके लिए सहज ग्राह्य बन सकते हैं। अतः आज प्राचीन ग्रन्थों की आधुनिक व्याख्या की आवश्यकता है।

इसी उद्देश्य से वर्षों से यह भावना थी कि जैन दर्शन की वैज्ञानिकता को रेखांकित करने वाली कोई पुस्तक लिखी जानी चाहिए। प्रस्तुत कृति उसी प्रयास की एक कड़ी है।

प्रस्तुत सृजन में नया कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है वह सब पूर्वाचार्यों की देशना ही है। मैंने तो पुरातन आचार्यों की देशना को नूतन आयाम देने का विनम्र प्रयत्न मात्र किया है, जिससे कि आचार्यों की वाणी से सर्वसाधारण लाभान्वित हो सके। मैं अपने प्रयास में कितना सफल हो सका इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही करेंगे, फिर भी मुझे विश्वास है कि यह कृति पूर्वाचार्यों के मूलग्रंथों को हृदयंगम करने में सहायक बनेगी। यदि ऐसा हो सका तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूँगा।

सर्वप्रथम मैं परम पूज्य गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के चरणों में विनयावनत होता हुआ हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनके कृपापूर्ण आशीष से कृति और कृतिकार का यह स्वरूप बन सका है।

कृति के लेखन में पूर्वाचार्यों के अनेक ग्रन्थों का आलम्बन है, अतः मैं पूरी आचार्य परम्परा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हें अपनी आस्था का अर्घ्य समर्पित करता हूँ। इसके साथ ही मैं उन सभी आधुनिक विद्वानों का भी आभारी हूँ जिनकी खोजपूर्ण पुस्तकों का आश्रय इस कृति में लिया गया है। प्रस्तुत सृजन में अनेक साधर्मी साधकों एवं जिनवाणी के आराधकों ने अपने मूल्यवान् सुझावों से कृति की उपयोगिता बढ़ाई है। मैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ।

-लेखक

समर्पण

त्वदीयं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये

जिनकी असीम अनुकम्पा से
कृति और कृतिकार का
यह स्वरूप बन सका
उन परम पूज्य आचार्य गुरुवर
श्री विद्यासागरजी महाराज के
पावन कर कमलों में
सादर

आमुख

कुछ समय पूर्व मुझे अमरकंटक में पाँच दिन पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के सानिध्य में व्यतीत करने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अमरकंटक भारत के विशेष तीर्थों में से है। वह नर्मदा, सोन तथा जुहिला नदियों का उद्गम है। बड़ा रमणीक स्थान है। आचार्यश्री की उपस्थिति ने उस रमणीकता में चार चाँद लगा दिये थे। उन पाँच दिनों में आचार्यश्री से विभिन्न विषयों पर जो चर्चाएँ हुईं, वे मेरे लिए चिरस्मरणीय थीं। उन चर्चाओं में धर्म, अध्यात्म, संस्कृति, साहित्य, देश और समाज की दशा और दिशा आदि कोई भी विषय छूटे नहीं। सबसे बड़ी बात यह थी कि उन सारगर्भित चर्चाओं का मूल अधिष्ठान मानव, उसका जीवन और मानवीय मूल्य थे।

आचार्यश्री के संघ में कई मुनि थे, जिन्होंने मेरा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। वे सारी चर्चाओं में बड़े मनोयोग से सम्मिलित रहे, उनके चेहरों पर निरंतर मुस्कराहट थी। स्पष्ट था कि चर्चाएँ उनके लिए आनंददायक थीं। वस्तुतः अपने गुरु की भाँति वे स्वयं ज्ञान, विद्वत्ता और वक्तृत्वकला से अभिसिक्त थे।

इन अन्तेवासी सन्तों में मुनि प्रमाणसागरजी की छाप मेरे मन पर बड़ी गहरी पड़ी। जब-जब उनसे बातचीत का प्रसंग आया, मैंने पाया कि वे विद्वान् हैं, किन्तु विद्वत्ता के बोझ से दबे नहीं हैं, बड़े सरल हैं और सहज हैं। बाद में जब कटनी में मैंने उनके गूढ़ प्रवचन सुने तो मुझे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुई। जैन तत्त्व-ज्ञान को वे कथा-कहानियों के माध्यम से इतना ग्राह्य बना देते थे कि श्रोता मन्त्र-मुग्ध होकर उनकी बात सुनते थे। बाद में भोपाल में भी उनसे लम्बी चर्चा हुई।

इन्हीं मुनि महाराज को आज मैं एक नए रूप में देख रहा हूँ। वह रूप है लेखक का। उनकी पुस्तक ''जैन धर्म और दर्शन'' की पाण्डुलिपि मेरे सामने

है। विषय नया अथवा अछूता नहीं है। उस पर पहले भी अनेक लेखकों ने पुस्तकें लिखी हैं। वे सुपाठ्य, ज्ञानवर्धक और उपयोगी हैं, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक की अपनी विशेषता है। मुनि साधक होते हैं। वे जो कुछ कहते या लिखते हैं वह उनकी साधना में से प्रस्फुटित होता है। गाँधीजी कहा करते थे,
''मेरा जीवन ही मेरा दर्शन है'' इसी प्रकार साधक के हाथ में हर क्षण साधना की तुला होती है। उस तुला पर तौल कर ही वह अपनी बात कहता है। इस पुस्तक की विशिष्टता यही है कि यह कोरे पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर नहीं लिखी गई है। इसके पीछे लेखक की अनुभूतियाँ हैं, जो पुस्तक को अधिकाधिक ग्राह्य बना देती हैं।

पुस्तक की पृष्ठभूमि में लेखक धर्म और दर्शन को परिभाषित करते हुए कहते हैं:

''मुक्त तत्त्व-दृष्टाओं ने अपनी आत्मा के अन्तर-मन्थन से जो नवनीत प्राप्त किया है, धर्म उसी की अभिव्यक्ति है। उसी के निरूपण से विविध दर्शनों की उभ्दूति हुई है। दर्शन का अर्थ होता है दृष्टि।''

वस्तुतः इसी दृष्टि की प्रधानता जैन धर्म और दर्शन का मूलमन्त्र है। यदि यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह दृष्टि प्रदान करना ही इस पुस्तक का अभिप्रेत है।

जैन धर्म भावप्रधान धर्म है और जैन दर्शन भावना प्रधान है। जैन धर्म में साधना को प्रमुखता दी गई है। सहज साधना की चर्या का परमोत्कृष्ट रूप मुनि दीक्षा है। सब प्रकार के परिग्रह से मुक्ति, राग-द्वेष से सर्वथा विरति, वीतराग मार्ग का अनुसरण और आत्मसाधना में निमग्नता, यह है मुनिचर्या। मुझे हर्ष है कि ऐसे ही एक मुनि की लेखनी से इस पुस्तक का सृजन हुआ है। उनकी अन्तरङ्ग भावना और धर्म के अनवरत अध्ययन का प्रतिफल है यह पुस्तक। सर्वथा निरपेक्ष भाव से रचित यह कृति तद्विषयक कृतियों में अपनी अलग पहचान रखती है।

'जैन' शब्द का उद्भव 'जिन' से है, जो अपने को, अर्थात् अपनी इन्द्रियों को जीतता है वह 'जिन' है। जिन कोई ईश्वरीय अवतार नहीं है। जिसने काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह-माया आदि को सम्पूर्ण रूप में जीत लिया, वही सच्चा विजेता है, जिन है। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, उसका अर्थ है धारण करना। जिस प्रकार बिना नींव के किसी भवन की कल्पना नहीं की जा

सकती, उसी प्रकार बिना धर्म के मानव-जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती।

जैन तत्त्व चिन्तकों ने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। वैसे तो जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसके स्वभाव में धर्म न हो, परन्तु आचार-स्वरूप धर्म केवल जीवात्मा में पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। जीव के विशुद्ध आचार को धर्म कहा गया है। वही आत्मा का स्वभाव है।

जहाँ तक जैन धर्म का सम्बन्ध है, उसका अपना लम्बा इतिहास है, उसकी अपनी परम्पराएँ हैं। उसका उद्भव कब हुआ है अपने विकास में उसे किन-किन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा, उसका सांगोपाङ्ग विवेचन लेखक ने इस पुस्तक में किया है। इतिहास पूर्व-दर्शक और मार्ग-प्रदर्शक होता है। विभिन्न दृष्टियों से जब उसका प्रतिपादन किया जाता है तो समन्वय के अभाव में न्याय-अन्याय के दृष्टिकोण बन जाना स्वाभाविक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साधक समन्वय का मार्ग अपनाता है। अपनी साधना-प्रधान दृष्टि से लेखक ने स्वतन्त्र चिन्तन से साक्ष्य के साथ इस पुस्तक में बड़ी गम्भीरता से इसका विवेचन किया है।

जैन धर्म के इतिहास के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। भगवान् महावीर को जैन धर्म का प्रवर्त्तक मानकर कहा गया है कि वह और बौद्धधर्म समकालीन हैं। यह एक बड़ी भूल है। ऐतिहासिक अभिलेखों और पुरातात्विक अवशेषों से पता चलता है कि जैन धर्म बहुत प्राचीन है। उसका प्रवर्त्तन तीर्थङ्कर भगवान् आदिनाथ या ऋषभदेव ने किया था। इसकी विस्तृत चर्चा लेखक ने इस पुस्तक में की है।

इसी प्रकार की भ्रान्तियाँ जैन दर्शन के विषय में हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि भारतीय दर्शन दो वर्गों में विभाजित है- आस्तिक और नास्तिक। वैदिक दर्शनों को आस्तिक और जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों को नास्तिक माना जाता है। यह वर्गीकरण भूल से हुआ है। लेखक ने लिखा है :

आस्तिक और नास्तिक शब्द 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक जिसको हम दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं की सत्ता को मानने वाला आस्तिक तथा न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द-प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तु तत्त्व पर विचार करने के

कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।

चार्वाक जहाँ नास्तिक दर्शन है, वहाँ जैन और बौद्ध दर्शन आस्तिक हैं, क्योंकि ये दोनों ही मोक्ष और परलोक में आस्था रखते हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन में दो ही विभाग हैं - वैदिक और अवैदिक, जैन और बौद्ध दर्शन दूसरी कोटि में आते हैं, क्योंकि ये वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते।

जैन धर्म और दर्शन विश्व को निवृत्ति मूलक जीवन-शैली प्रदान करता है। सन्तुलित जीवन जीने की कला जैन धर्म की प्रमुख देन है। यह अहिंसा मूलक सिद्धांत से सम्पृक्त है। महात्मा गाँधी ने श्रीमद्राजचन्द्र के सुदपदेश से आजीवन निवृत्ति मूलक शैली अपनाई और अहिंसा को अपने जीवन का आधार स्तम्भ बनाया। 'जिओ और जीने दो' यह जैन दर्शन-जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। जैनाचार अहिंसा की मूल-भित्ति पर अवस्थित है।

चार खण्डों में विभक्त पुस्तक के आरम्भ में जैन धर्म की पृष्ठभूमि बताते हुए मुनिश्री ने जैन इतिहास की एक झलक दर्शायी है। अन्तर तत्त्व एवं द्रव्य का विवेचन है। जिसमें जीव और उसकी अवस्थाएँ, अजीव तत्त्व और पुद्गल द्रव्य का विशद वर्णन करके अगले अध्याय में कर्म बन्ध की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। फिर वे आते हैं आत्म विकास के क्रमोन्नत सोपान पर। जैनाचार, मुनिधर्म, सल्लेखना आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए वह अनेकान्त व स्याद्वाद की प्रस्तुति के साथ पुस्तक का समापन करते हैं। पुस्तक की संपूर्ण सामग्री को उन्होंने उन्नीस अध्यायों में समेटा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनागम के मूल तत्त्वों के निरूपण से लेकर कर्म सिद्धान्त की विशद व्याख्या करते हुए कर्म बन्ध से मुक्ति के उपाय संवर-निर्जरा द्वारा मोक्ष-साधन, अन्तर श्रावक के लिए श्रावकाचार और श्रमण के लिए श्रमणाचार का प्रतिपादन करते हुए जैनधर्म की मूल धुरी अनेकान्त और स्याद्वाद का सविस्तार उल्लेख करते हैं। अन्त में सल्लेखना का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

जैन धर्म और दर्शन बड़ा जटिल विषय है। उसकी पारिभाषिक शब्दावली में सामान्य पाठक तो क्या प्रबुद्धवर्ग भी प्रायः उलझ जाता है, किंतु मुनिश्री ने इस पुस्तक में गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को भी सरल तथा लोकभाषा में समझाया है। उन्होंने विश्व के विख्यात दार्शनिक, विज्ञानवेत्ताओं के मतों को मूल शब्दावली में परिभाषित किया है। इस शब्दावली को उन्होंने सुगम व बोधगम्य बना दिया है।

प्रामाणिकता की दृष्टि से उन्होंने यथास्थान सन्दर्भ भी दे दिये हैं। पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के सभी अन्तेवासी, जैनधर्म, दर्शन और साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन में अनवरत संलग्न रहते हैं और वाणी तथा लेखनी के द्वारा जिन सिद्धान्तों को सरल से सरल भाषा में लोक-कल्याणार्थ प्रतिपादित करते रहते हैं। मुनि श्री प्रमाणसागरजी का यह प्रयास भी उसी दिशा का है। अपने अध्ययन, चिन्तन और मनन के द्वारा गूढ़ विषयों को सहज रूप में प्रस्तुत करने की कला में वे निष्णात हैं। उसका उत्कृष्ट नमूना यह पुस्तक है। इससे सामान्य पाठक वर्ग को तो लाभ होगा ही, प्रबुद्ध वर्ग को भी समाधान होगा।

प्रस्तुत पुस्तक वर्तमान समय के एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। आज हमारा देश बड़ी तेजी से भौतिक मूल्यों का उपासक बन रहा है। नैतिक मूल्य आहत हो रहे हैं। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य आज विस्मृत हो गया है। मानव भटक रहा है। इस सङ्क्रान्त काल में, सङ्कट काल में, यह पुस्तक दीप-स्तंभ का काम करती है। यह उस मार्ग को दर्शाती है, जो लोक कल्याण का मार्ग है, जो समाज की सुप्त चेतना को जागृत करता है।

ऐसी उद्‌बोधक कृति सुलभ करने के लिए, मैं विद्वान् लेखक के प्रति हृदय से श्रद्धावनत हूँ और आशा करता हूँ कि इस कृति का सभी वर्गों और क्षेत्रों में हार्दिक स्वागत होगा।

7/8, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
26 जनवरी, 1996

- **यशपाल जैन**

अनुक्रम

पृष्ठभूमि

धर्म और उसका ध्येय

भारत धर्म प्रधान देश है। अनादिकाल से ही यहाँ के अनेक तत्त्व-चिन्तकों ने जीवन और जगत् के सम्बन्धों को पहचाना है। उसके रहस्य को समझा है। व्यक्ति के सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, संयोग-वियोग के कारणों पर उनका ध्यान गया। उन्होंने व्यक्ति के रागद्वेषादिक द्वन्द्वों तथा उसके जन्म और मृत्यु के चक्र से ऊपर उठने के मार्ग की गवेषणा की है। जिस प्रकार अपने दीर्घकालीन जीवन के अनेक प्रयोगों के बाद कोई निष्पत्ति वैज्ञानिकों के हाथ लगती है, वे वस्तु की तह में जाकर उसके मर्म को पकड़ते हैं, तब उन्हें कोई सूत्र मिलता है। ठीक उसी तरह ऐहिक चिन्ताओं से मुक्त तत्त्व दृष्टाओं ने अपनी आत्मा के अन्तर्मन्थन से जो नवनीत प्राप्त किया है, धर्म उसकी ही अभिव्यक्ति है, उसी के निरूपण के लिए विविध दर्शनों की उद्भूति हुई है। 'दर्शन' का अर्थ होता है 'दृष्टि'। दर्शन विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं के वैचारिक पक्ष का नाम है, जबकि धर्म उसके आचारात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। आत्मा क्या है? परलोक क्या है? विश्व क्या है? ईश्वर क्या है? आदि जिज्ञासाओं का समाधान दर्शन से ही किया जाता है। दर्शन के ही माध्यम से आत्मा अपनी अनन्त शक्ति को पहचानकर परमात्म दशा को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। यद्यपि धर्म और दर्शन अलग-अलग हैं, फिर भी इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचारों का प्रभाव मनुष्य के आचरण पर अवश्य पड़ता है तथा व्यक्ति का आचार ही व्यक्ति के विचारों को अभिव्यक्ति दे सकता है। आचार के बिना विचार साकार रूप ग्रहण नहीं कर सकता। एक-दूसरे के अभाव में दोनों अधूरे और एकङ्गीगी हैं। व्यक्ति के आचार और विचारों को स्वपर हितकारी बनाकर उनका सम्यक् समायोजन ही धर्म का परम ध्येय है।

सभी धर्मों के अपने सिद्धान्त हैं, उनका अपना इतिहास है तथा उनकी अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं। जहाँ तक जैन-धर्म की बात है, उसके उद्भव, विकास, सिद्धान्त, इतिहास और परम्पराओं के सम्बन्ध में हमें समझना है।

जिन और जैन धर्म

जैन शब्द जिन से बना है। जिन का अर्थ है जीतने वाला। जो अपनी इन्द्रियों, मानसिक विकारों, इच्छाओं, वासनाओं को जीतता है वह जिन है। जिन कोई ईश्वरीय अवतार नहीं है, अपितु काम-क्रोधादिक विकारों को जीतने वाला सामान्य मनुष्य ही है। जिनत्व की प्राप्ति से पूर्व वे भी साधारण मनुष्य थे। हम जैसे साधारण प्राणी भी अपनी अध्यात्मिक साधना द्वारा जिनत्व को उपलब्ध कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य में जिन बनने की शक्ति प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। अपनी साधना के द्वारा उस प्रच्छन्न शक्ति की अभिव्यक्ति ही जिनत्व है।

जिन के अनुयायी ही जैन कहलाते हैं। जैन का अर्थ है जिन का अनुसरण-अनुगमन करने वाला, जिन के चरण चिह्नों पर चलने वाला।

जैसे बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म बौद्ध धर्म, ईसा द्वारा उपादिष्ट धर्म ईसाई धर्म कहलाता है, उसी प्रकार जिन द्वारा प्ररूपित-प्रवर्तित धर्म जैन धर्म कहलाता है। जैसे शिव और विष्णु को इष्ट मानकर चलने वाले शैव और वैष्णव कहलाते हैं, उसी प्रकार जिन को इष्ट मानकर चलने वाले जिन के उपासक जैन कहलाते हैं।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि बुद्ध, शिव और विष्णु की तरह जिन कोई विशेष व्यक्ति नहीं है, जिससे कि उसका व्यावहारिक नाम जैन पड़ गया। जो जितेन्द्रिय है वही जिन है। जैन धर्म में व्यक्ति पूजा का कोई महत्व नहीं है, वह व्यक्ति के गुणों को आधार मानकर उसकी पूजा प्रतिष्ठा में विश्वास रखता है। जैन धर्म के अनुसार हर वह व्यक्ति प्रणम्य है, जो अपनी आध्यात्मिक साधना के द्वारा जिनत्व को प्राप्त है। इसका प्रमाण है जैन धर्म का मूलमन्त्र नमस्कार मन्त्र-

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोये सव्व साहूणं

इस नमस्कार मन्त्र में किसी व्यक्ति को नमस्कार नहीं किया गया है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये साधना की दिशा में प्रस्थित साधकों की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाएँ अथवा सिद्धि प्राप्त आत्माओं की भूमिकाएँ हैं। इन भूमिकाओं पर आरूढ़ हर व्यक्ति वन्दनीय है। प्रणम्य है। नमस्कार मन्त्र के माध्यम से हम अर्हता, सिद्धता, आचार-सम्पन्नता, ज्ञान-सम्पन्नता और साधुता की वन्दना करते हैं।

इससे ज्ञात होता है, जैन धर्म व्यापक और उदार दृष्टि वाला धर्म है। वह जाति, वर्ण, आदि की सङ्कीर्णताओं से मुक्त सार्वभौम है, यद्यपि जैनधर्म वर्तमान में मुख्यतः वैश्य वर्ण से जुड़ा है, पर प्राचीन समय में सभी जातियों और वर्गों के लोग जैन धर्म के अनुयायी थे। भगवान् महावीर क्षत्रिय थे, उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति ब्राह्मण थे, शालिभद्र धण्णा आदि वैश्य थे। उनका प्रमुख श्रावक आनन्द किसान था। आज भी दक्षिण भारत में महाराष्ट्र आदि कुछ राज्यों में कृषिकार, कुम्भकार आदि जैन है।

जैन धर्म का उद्भव

जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म अनादि से है, जो समय-समय पर उत्पन्न होने वाले तीर्थङ्करों द्वारा प्रवर्तित होता रहा है। इस कालचक्र में जैन धर्म का प्रवर्तन प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव ने किया। तीर्थङ्कर ऋषभदेव का काल निर्णय आज की संख्या में नहीं किया जा सकता। वे बहुत प्राचीन हैं। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में ऋषभदेव का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है। भागवत् 5/2/6 में भी जैन धर्म के संस्थापक ऋषभदेव का उल्लेख है, पुराण साहित्य में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी ऋषभदेव को जैन धर्म का प्रचारक कहा गया है। इसके अतिरिक्त हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त सीलों/मुहरों पर भी तीर्थङ्कर ऋषभदेव कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण है। अतः इनकी प्राचीनता निर्विवाद है। ऋषभदेव के बाद क्रमशः तेईस तीर्थङ्कर और हुए जिनमें अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर थे। ऋषभदेव के अतिरिक्त जैनधर्म के 21 तीर्थंकर, प्रागैतिहासिक काल में हुए। तीर्थङ्कर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं।

जैन दर्शन नास्तिक नहीं

समस्त भारतीय दर्शनों को यदि वैदिक और अवैदिक इन दो विभागों में बाँटा जाये तो जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन अवैदिक दर्शन की कोटि में आते हैं; क्योंकि न तो वे वेदों को प्रमाण मानते हैं, न ही उसे ईश्वर प्रणीत या अपौरुषेय मानते हैं। इसी मान्यता के कारण कुछ लोग समस्त भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में विभक्त कर जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन को चार्वाकों की तरह नास्तिक दर्शन कहते हैं। यह मात्र कल्पना आधारित है; क्योंकि ऐसे तो कोई भी किसी को आस्तिक और किसी को नास्तिक ठहरा सकता है। वस्तुतः आस्तिक और नास्तिक होना वेदों को मानने या न मानने पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा और परलोक को मानने और न मानने के आधार पर ही आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का वर्गीकरण होता है। इस दृष्टि से जैन-दर्शन और बौद्ध दर्शन दोनों सर्वथा आस्तिक दर्शन हैं, क्योंकि दोनों दर्शन मोक्ष, आत्मा और परलोक में आस्था रखते हैं।

वेद आधारित आस्तिकता और नास्तिकता की उक्त मान्यता को एक परम्परागत भ्रम निरूपित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने प्रो. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य कृत जैन- दर्शन पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है- ''भारतीय दर्शन के विषय में एक परम्परागत मिथ्या भ्रम का उल्लेख करना भी हमें आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ काल से लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की आस्तिक और नास्तिक नाम से दो शाखाएँ हैं। तथाकथित वैदिक दर्शनों को आस्तिक दर्शन और जैन तथा बौद्ध जैसे दर्शनों को 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है।

वस्तुतः यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (पा. 4.4.30) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ता को माननेवाला आस्तिक और न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, हम तो यह समझते हैं कि शब्द प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तु तत्त्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।

जैन धर्म की मौलिक अवधारणा

अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, स्याद्वाद और कर्मणा वर्ण व्यवस्था जैन दर्शन की मौलिक आवधारणा है।

अहिंसा- यह जैन धर्म का प्राण है। अहिंसा का जितना-सूक्ष्म विवेचन जैन धर्म में मिलता है, उतना अन्य किसी परम्परा में देखने को नहीं मिलता। प्रत्येक आत्मा चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो, तात्त्विक दृष्टि से समान है। चेतना के धरातल पर समस्त प्राणी समूह एक है। उसमें कोई भेद नहीं है। जैन दृष्टि का यह साम्यवाद भारत के लिए गौरव की चीज है। इसी साम्यवाद के आधार पर जैन परम्परा यह घोषणा करती है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध की बात न सोचें। शरीर से हत्या कर देना तो पाप है ही, किन्तु मन में तद्विषयक भाव होना भी पाप है, मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को सन्ताप नहीं देना, उनका वध नहीं करना, उसे कष्ट नहीं देना यही सच्ची अहिंसा है। वनस्पति जगत् से लेकर मानव तक की अहिंसा की यह कहानी जैनाचार की विशिष्ट देन है। विचारों में एकात्मवाद का आदर्श तो अन्यत्र भी मिल जाता है, किन्तु आचार पर जितना बल जैन-दर्शन में दिया गया है, उतना अन्यत्र नहीं मिल सकता। आचार विषयक अहिंसा का उत्कर्ष जैन परम्परा की अनूठी देन है।

सामाजिक दृष्टि से इसी अहिंसा को व्रतों के रूप में व्याख्यायित किया गया है। अहिंसा को केन्द्र बिन्दु बनाकर उसकी रक्षा के लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे आचार सूत्र दिये गये हैं। जैनाचार के पाँच व्रतों का ठीक रीति से पालन हो, इस उद्देश्य से व्रतों के दो स्तर स्थापित किये गये हैं- प्रथम- अणुव्रत और द्वितीय- महाव्रत। हिंसादिक पापों का परिपूर्ण त्याग महाव्रत कहलाता है तथा आंशिक रूप से त्याग होने पर अणुव्रत होता है। साधु महाव्रतों का पालन करते हैं तथा श्रावक (गृहस्थ) अणुव्रतों का। साधना द्वारा श्रावक क्रमशः साधुत्व की ओर कदम बढ़ाते हैं। व्रताचरण के उक्त आधार पर जैन संघटन मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका रूप चार संघों में विभक्त हैं। इसे ही चतुर्विध संघ कहते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से जैन धर्म ने विश्व को एक समन्वित जीवन-शैली दी है। कमल-पत्र पर पड़े जल-बिन्दु की तरह त्याग और भोग का सन्तुलित

जीवन जीने की कला जैन-धर्म की प्रमुख देन है। जिस सह-अस्तित्व की चर्चा आज जोर-शोर से की जाती है, वह हजारों-हजार वर्ष पहले से ही जैन धर्म के अहिंसा मूलक सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है। 'जिओ और जीने दो' का जीवन-दर्शन जैन धर्म का प्रमुख उद्घोष है। जैनाचार अहिंसा की ही मूलभित्ति पर खड़ा है। जैनत्व की आधारशिला अहिंसा है। अतः हम जैन संस्कृति को अहिंसा मूलक संस्कृति भी कह सकते है।

अपरिग्रह- अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह का अभाव। धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों का ममत्व मूलक संग्रह परिग्रह कहलाता है। यह आसक्ति से बढ़ता है और आसक्ति को बढ़ाता है। मनुष्य का सारा जीवन इसी परिग्रह के अर्जन, रक्षण और संवर्धन में लगा रहता है। परिग्रह मनुष्य की आध्यात्मिक साधना में सबसे बड़ा अवरोधक है। यह हिंसा का जनक है।

यह जैन-दर्शन का अपना वैशिष्ट्य है, जहाँ परिग्रह के परिपूर्ण त्याग को परम आदर्श कहा गया है। जैन साधक अपरिग्रह के आराधक होते हैं। जैन मुनि परिग्रह का परिपूर्ण त्याग कर दिगम्बर अवस्था में रहते हैं। अपने पास तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते। सर्वस्व त्याग की साधना का यह रूप मात्र जैन मुनियों में ही मिलता है। जैन गृहस्थ अपरिग्रह को आदर्श मानकर अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप परिग्रह की एक सीमा बना कर रखते हैं। सामाजिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह अपरिग्रह सिद्धान्त अनावश्यक संग्रह से रोकता है। अनावश्यक का संग्रह शोषण का कारण बनता है। शोषण हिंसा है। आज कहीं अतिभाव है तो कहीं अति-अभाव। अति-भाव और अति-अभाव वर्ग भेद कराता है, जबकि अपरिग्रह सिद्धान्त अनावश्यक के संग्रह से बचाकर समभाव स्थापित करता है। समाजवाद की स्थापना में अपरिग्रह का अनुसरण अनिवार्य है।

अनेकान्त- ''अनेकान्त'' जैन दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, अर्थात् एक ही वस्तु परस्पर विरोधी अनेक धर्मों/गुणों का पिंड है। उसे समझने के लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि को अपनाना जरूरी है। अनेकान्त का अर्थ है अनन्त धर्मात्मक वस्तु को तत्तद् दृष्टि से स्वीकार कर वस्तु का समग्र बोध कराने वाली दृष्टि। उसके बिना वस्तु का समग्र बोध नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु को हम जैसी देखते हैं वस्तु वैसी ही नहीं है, अपितु

उसे उन जैसी अनन्त दृष्टियों से देखे जाने की सम्भावना है। हमारा स्वल्प ज्ञान समग्र वस्तु को विषय नहीं बना सकता। जब तक हम वस्तु को समग्र दृष्टि से नहीं देखते तब तक हमें उसका समग्र बोध नहीं हो सकता। वस्तु के समग्र बोध के लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि को अपनाना अनिवार्य है।

स्याद्वाद- स्याद्ववाद उसी अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन के लिए अपनायी जानेवाली भाषा शैली है। ''स्यात्'' यह एक निपात शब्द है। इसका अर्थ ''शायद'' या ''सन्देह'' नहीं। यह तो कथंचित् किसी अपेक्षा से , किसी दृष्टि से, किसी एक धर्म की विवक्षा से आदि अर्थों में प्रयुक्त है। ''वाद'' शब्द का अर्थ है कथन अथवा वचन। इस प्रकार जो स्यात् का कथन अथवा प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है। तात्पर्य यह है कि जो विरोधी धर्म का निराकरण न करता हुआ अपेक्षा विशेष से विवक्षित पक्ष/धर्म का प्रतिपादन करता है वह स्याद्वाद है।

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तात्मक है, तब हम उसे एक साथ पूरा नहीं कह सकते। उसके लिए हमें सापेक्ष वर्णन शैली अपनाने की जरूरत है। जैसे- कोई व्यक्ति किसी का पिता है तो वह सिर्फ पिता ही नहीं है। अन्य सन्दर्भों में पुत्र, पौत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भाँजा, भाई आदि अनेक रिश्ते उसके साथ सम्भव हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हमें जो कुछ कहना है, सापेक्ष ही कहना है। ऐसा कहकर ही हम वस्तुस्थिति का सही कथन पर सकते हैं। पुत्र की अपेक्षा से ही उसे पिता कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन ने जिस सापेक्षवाद (Theory of Relativity) का कथन किया है वह यही सापेक्षता का सिद्धान्त है, लेकिन वह सिर्फ भौतिक पदार्थों तक ही सीमित है। जैनदर्शन में इसे और भी व्यापक अर्थों में कहा गया है कि लोक के सारे अस्तित्व सापेक्ष हैं। उन्हें लेकर कहा गया कोई भी निरपेक्ष कथन सत्य नहीं है।

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था- जैन समाज की संरचना जातीय आधार पर न होकर कर्मों/गुाणों के आधार पर की गयी है। जैनदर्शन के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने जन्म मात्र से महान् नहीं बनता, अपितु अपने सत्कर्मों से ही वह महान् बन पाता है। मानव मात्र के प्रति समान दृष्टि रखकर की जाने वाली इस

समाज-व्यवस्था में ब्राह्मणत्व आदि जातियों का प्रमुख आधार वर्ग विशेष में जन्म न होकर अहिंसादिक सद्व्रतों के संस्कार ही हैं।[1] इस मान्यता के अनुसार जिनमें अहिंसा, दया आदि सद्व्रतों के संस्कार विकसित हों वे ब्राह्मण, पर की रक्षा की वृत्ति वाले क्षत्रिय, कृषि, वाणिज्यादि व्यापार प्रधान वैश्य तथा शिल्प सेवादि कार्यों से अपनी आजीविका करने वाले शूद्र हैं। कोई भी शूद्र अपने व्रत आदि सद्गुणों का विकास कर ब्राह्मण बन सकता है। ब्राह्मणत्व का आधार व्रत संस्कार है न कि नित्य ब्राह्मण जाति।

कर्मणा वर्ण व्यवस्था स्वीकार कर जैनदर्शन ने ऐसे समाज की व्यवस्था दी है जिसमें न तो किसी वर्ग विशेष को संप्रभुता प्रदान कर विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है, न ही किसी को हीन बताकर उसे अनावश्यक शोषण का शिकार बनाया गया है। मानव मात्र के प्रति सम भूमिका के आधार पर की जानेवाली इस सामाजिक व्यवस्था को हम समता मूलक समाज-व्यवस्था भी कह सकते हैं।

इस प्रकार हम कहें कि ''आत्मा'' से ''परमात्मा'' की यात्रा करने वाला जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसकी अपनी मौलिक और स्वतन्त्र परम्परा है। अहिंसा जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है। जैनाचार अहिंसा की ही मूल भित्ति पर खड़ा है। अनेकान्त जैन-विचार का मूलाधार है। वस्तु/पदार्थ स्वातन्त्रय की उद्घोषणा करने वाले जैन-धर्म में कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर जो समता मूलक समाज व्यवस्था दी गई है, वह जैन दर्शन की अनन्य देन है।

1. ब्राह्मणः व्रत संस्कारात् आदिपुराण 30/46

जैन इतिहास- एक झलक

- जैन परम्परागत इतिहास
- तिरेसठ शलाका पुरुष
- प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव
- वैदिक साहित्य में ऋषभदेव
- वातरशना श्रमण केशी और भगवान् ऋषभदेव
- पुराणों और स्मृतियों में ऋषभदेव
- बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव
- सिन्धुघाटी और जैन धर्म
- शिलालेखीय साक्ष्य
- विद्वानों के अभिमत
- अन्य तीर्थंकर
- तीर्थंकर नेमिनाथ
- तीर्थंकर पार्श्वनाथ
- तीर्थंकर महावीर
- महावीर के बाद जैन धर्म
- श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव
- दिगम्बरत्व की प्राचीनता
- दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में भेद
- उत्तर कालीन पन्थ भेद

जैन इतिहास- एक झलक

किसी भी धर्म के मूल सिद्धान्तों को समझने के पूर्व उसके उद्भव और विकास की कहानी की जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक है। उक्त जिज्ञासाएँ जहाँ उस धर्म/संस्कृति की निर्मल परम्परा का बोध कराती हैं, वहीं अनेक प्रकार के ऐतिहासिक सत्य को भी अनावृत करती हैं। प्रत्येक धर्म का अपना इतिहास है, उसके उद्भव और विकास की एक लम्बी कथा है, जो अपने-अपने प्रवर्तकों/प्रचारकों से सम्बद्ध है, जहाँ तक जैन धर्म के इतिहास की बात है इस सम्बन्ध में एक लम्बी कालावधि तक भ्रमपूर्ण स्थिति रही है। कोई इसे बौद्ध धर्म की शाखा समझते हैं तो कोई इसे वैदिक क्रियाकाण्डों के विरोध में उत्पन्न हुआ धर्म मानते हैं। कोई भगवान् महावीर को इसका संस्थापक मानने की भूल में हैं, तो कोई इसके उद्भव का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ से जोड़ते हैं। भारतीय इतिहास के क्षेत्र में हुए अधुनातन अन्वेषणों ने उक्त मान्यताओं का निराकरण कर जैन धर्म की प्राचीनता को संपुष्ट किया है।

जैन मान्यता के अनुसार जैन धर्म अनादि से है, जो समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले चौबीस तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित होता रहा है। चौबीस तीर्थंकरों की यह परम्परा अनन्तकालीन है। इस युग में जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभदेव ने किया था। इसके प्रमाण स्वरूप पुरातात्त्विक सामग्री, ऐतिहासिक अभिलेख एवं साहित्यिक सन्दर्भ उपलब्ध है। इन्हीं के आधार पर अनेक प्राच्य व पाश्चात्य विद्वानों ने अपने गवेषणात्मक निष्कर्षों में यह बात स्थापित की है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक/प्राग्वैदिक धर्म है। इसके आद्य प्रवर्तक ऋषभदेव रहे हैं। इस अध्याय का प्रयोजन जैन इतिहास की संक्षिप्त प्रस्तुति के साथ उसकी प्राचीनता को दिग्दर्शित करना है।

जैन परम्परागत इतिहास

जैन अनुश्रुतियाँ भारत का इतिहास उस समय से प्रस्तुत करती हैं, जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। उस समय व्यक्ति प्रायः जंगलों में रहते थे। मनुष्य ग्राम व नगरों में नहीं बसते थे। लोग न खेती करना जानते थे, न पशु-पालन, न ही कोई उद्योग-धन्धे। उस समय के लोग अपने खान-पान आदि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक कल्पवृक्षों से कर लिया करते थे। (इच्छित/कल्पित आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने से ही इन्हें कल्पवृक्ष कहा जाता था) उस समय न कोई समाज-व्यवस्था थी, न ही पारिवारिक सम्बन्ध। माता-पिता युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर दिवंगत हो जाते थे। पुराणकारों ने उक्त व्यवस्था को भोग-भूमि-व्यवस्था कहा है। धीरे-धीरे उक्त व्यवस्था में परिवर्तन हुआ और उस युग का आरम्भ हुआ जिसे पुराणकारों ने कर्मभूमि कहा है। इसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ भी कह सकते हैं। कल्पवृक्षों से फल प्राप्ति में कमी आने लगी। फलतः लोग एक-दूसरे से झगड़ने लगे। शीत-तुषारादि की बाधाएँ सताने लगीं। जंगली पशुओं का आतंक बढ़ने लगा। उस समय क्रमशः चौदह कुलकर हुए, जिन्होंने तत्कालीन समस्याओं का समाधान कर समाज को नई व्यवस्था दी। ये कुलकर ही मानव सभ्यता के सूत्रधार थे। कुलकारों ने प्राकृतिक परिवर्तन से चकित और चिन्तित मानव समूह को प्रकृति का रहस्य बताया। उन्होंने मानव और प्रकृति के सम्बन्धों को उद्घाटित कर मनुष्य को जीने की कला सिखायी एवं समाज का ढाँचा तैयार कर विवेक एवं विचार की शिक्षा दी। जैन परम्परा में कुलकरों का वही स्थान है जो वैदिक परम्परा में मनुओं का। मनुओं की संख्या भी चौदह बतायी गयी है। कुलकरों ने लोगों को हिंसक पशुओं से रक्षा का उपाय बताया। भूमि/वृक्षों की वैयक्तिक स्वामित्व की सीमाएँ निर्धारित कीं। गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदि वन्य पशुओं का पालन कर उन्हें वाहन के उपयोग में लाना सिखाया। बाल-बच्चों का लालन-पालन एवं उनके नामकरण आदि का उपदेश दिया। शीत-तुषारादि से अपनी रक्षा करना सिखाया। नदियों को नौकाओं द्वारा पार करना, पहाड़ों पर सीढ़ियाँ बनाकर चढ़ना, वर्षा से छत्रादिक धारण कर अपनी रक्षा करना सिखाया और अन्त में कृषि द्वारा अनाज उत्पन्न करने की कला सिखाई। इसके बाद वाणिज्य, शिल्प आदि वे सब कलाएँ व उद्योग-धन्धे हुए जिनके कारण यह भूमि कर्मभूमि कहलाने लगी।

इस प्रकार सभी कुलकरों ने अपने-अपने समय में समाज को सभ्यता का कोई न कोई शिक्षण प्रदान किया, जिससे आधुनिक सभ्यता का विकास होने लगा। कृषि और औद्योगिक सभ्यता की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करने का श्रेय कुलकर परम्परा को ही है। ये कुलकर ही ग्राम और नगर संस्कृति के जनक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्वानों ने इस काल को पूर्व-पाषाण-युग और उत्तर-पाषाण-युग का समन्वित रूप कहा है।

तिरेसठ शलाका पुरुष

चौदह कुलकरों के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता के युग में धर्मोपदेश व अपने चरित्र द्वारा अच्छे-बुरे का भेद सिखाया, ऐसे तिरेसठ महापुरुष हुए, जो शलाका पुरुष अर्थात् विशेष गणनीय पुरुष माने गये हैं। शलाका पुरुषों का अर्थ उन महापुरुषों से है, जो सभी तरह की सामाजिक व्यवस्था एवं वैयक्तिक जीवनोत्थान में योगदान देते हैं। सामाजिक चेतना का विकास और धर्मचक्र का प्रवर्तन भी इन्हीं महापुरुषों द्वारा होता है। उन्हीं का चरित्र जैन पुराणों में विशेष रूप से पाया जाता है। इन तिरेसठ शलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र और नौ प्रतिनारायण सम्मिलित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं-

24 तीर्थंकर- 1. ऋषभदेव, 2. अजितनाथ, 3. सम्भवनाथ, 4. अभिनन्दन नाथ, 5. सुमतिनाथ, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्वनाथ, 8. चन्द्रप्रभ, 9. पुष्पदन्त, 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांसनाथ, 12. वासुपूज्य, 13. विमलनाथ, 14. अनन्तनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शान्तिनाथ, 17. कुन्थुनाथ, 18. अरहनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनिसुव्रतनाथ, 21. नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23 पार्श्वनाथ, 24. महावीर।

12 चक्रवर्ती- 1. भरत, 2. सगर, 3. मघवा, 4. सनतकुमार, 5. शान्ति, 6. कुन्थु, 7. अरह, 8. सुभौम, 9. पद्म, 10. हरिसेन, 11. जयसेन, 12. ब्रह्मदत्त।

9 नारायण- 1. त्रिपृष्ठ, 2. द्विपृष्ठ, 3. स्वयम्भू, 4. मधु, 5. निशुम्भ, 6. बलि, 7. प्रह्लाद 8. रावण, 9. जरासंध।

9 प्रतिनारायण- 1. अश्वग्रीव, 2. तारक, 3. मेरक, 4. मधु, 5. निशुंभ, 6. बलि, 7. प्रह्लाद 8. रावण, 9. जरासन्ध।

9 बलभद्र- 1. अचल, 2. विजय, 3. भद्र, 4. सुप्रभ, 5. सुदर्शन, 6. आनन्द, 7.नन्दन, 8. राम, 9.बलराम।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव

चौदहवें कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी से ऋषभदेव उत्पन्न हुए। इनका जन्म अयोध्या में हुआ था। इन्हें वृषभनाथ भी कहा जाता है। चौबीस तीर्थंकरों में से आदिम/प्रथम होने के कारण इन्हें आदिनाथ भी कहा जाने लगा। जैन मार्ग का प्रारम्भ यहीं से माना जाता है। अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में ये राज्यासीन हुए। उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आजीविका के साधनभूत इन छह कर्मों की विशेष रूप से व्यवस्था की तथा देश और नगरों को सुविभाजित कर सम्पूर्ण भारत को बावन जनपदों में विभाजित किया। लोगों को कर्मों के आधार पर इन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन तीन वर्णों की व्यवस्था की, इसलिए इन्हें प्रजापति कहा गया। इनकी दो पत्नियाँ थीं सुनन्दा और नन्दा। इनसे उनके शतपुत्रों एवं दो पुत्रियों का जन्म हुआ। उनमें सुनन्दा से भरत और ब्राह्मी तथा नन्दा से बाहुबली और सुन्दरी प्रमुख हैं। इन्होंने अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों पुत्रियों को क्रमशः अक्षर और अंक विद्या सिखाकर, समस्त कलाओं में निष्णात किया। ब्राह्मी लिपि का प्रचलन तभी से हुआ। आज की नागरी लिपि को विद्वान् उसका ही विकसित रूप मानते हैं।

एक दिन राजमहल में नीलाञ्जना नामक नृत्यांगना की नृत्य करते हुए ही आकस्मिक मृत्यु हो जाने से इन्हें वैराग्य हो गया। फलतः अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को समस्त राज्य का भार सौंपकर, दिगम्बरी दीक्षा धारण कर, वन को तपस्या करने चले गये। भरत बहुत प्रतापी सम्राट् हुए। उन्होंने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। इसलिए इस देश का नाम इनके नाम के आधार पर भारत पड़ गया। जैनेतर साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है तथा विद्वानों ने भी इसमें अपनी सहमति प्रकट की है।[1]

ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या की, साधना के परिणामस्वरूप उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर समस्त भारत भूमि को अपने धर्मोपदेश से उपकृत किया। चूँकि उन्होंने अपने समस्त विकारों को जीत लिया था, इसलिए जिन कहलाए तथा उनके द्वारा प्ररूपित धर्म जैन-धर्म कहलाने लगा। अपने जीवन के अन्त में उन्होंने कैलाश पर्वत से मोक्ष/निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार जैन-धर्म

1. (अ) देखें भरत और भारत
   (ब) मार्कण्डेय पुराण-एक अध्ययन, पृ. 138, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल।

का प्रवर्तन प्रारम्भ हो गया और उसी समय से जैन-धर्म पूरी मानवता का धर्म बन गया।

जैन-धर्म की उक्त मान्यता का समर्थन जैनेतर साहित्य एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर भी होता है। वैदिक साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है, साथ ही उसमें जिन वातरसना केशी आदि मुनियों का उल्लेख मिलता है, विद्वज्जनों ने उनका सम्बन्ध भी जैन मुनियों से ही माना है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में प्रयुक्त ''अर्हन्'' शब्द भी जैन संस्कृति के पुरातन होने का परिचय देता है।

वैदिक साहित्य में ऋषभदेव

पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ कुछ वैदिक ऋचाओं/मन्त्रों को उद्धृत करते हैं जिनसे जैन संस्कृति का परिचय मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋषभदेव को ज्ञान का अगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है कि-

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा, अस्य शुरुधः सन्तिपूर्वीः।
दिवो न पाता विद्थस्धीभिः क्षत्रं राजाना प्रतिवोदधाथे॥[1]

अर्थात् जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और पृथ्वी की प्यास बुझा देता है उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान् हैं, उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान-आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और सिद्ध) आत्माएँ अपने ही आत्म गुणों से चमकती हैं। अतः वही राजा हैं, वे पूर्व ज्ञान के आगार हैं और आत्म पतन नहीं होने देते।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था- आत्मा में ही परमात्मा का अधिष्ठान है। उसे प्राप्त करने का उपाय करो। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख पूर्वक कहा गया है-

त्रिधावद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्याआविवेश[2]

अर्थात् मन, वचन, काय से बुद्ध (संयत) ऋषभदेव ने घोषणा की- महादेव मर्त्यों में निवास करता है।

1. ऋग्वेद 3/38/5
2. ऋग्वेद 4/58/3

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य शरीर में रहते हुए उसे प्रमाणित भी कर दिखाया। ऐसा उल्लेख भी वेदों में है–

तनमर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे। ऋग्वेद 39/17

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे। जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व प्राप्त किया था।

वातरशना श्रमण/केशी और भगवान् ऋषभदेव

ऋग्वेद में जो वातरशना मुनियों और श्रमणों की साधना का चित्रण मिलता है, उनका सम्बन्ध जैन मुनियों से ही है–

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥[1]

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मलिन तन हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई पड़ते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् वे रोक लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरूप प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं ''मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु भाव में स्थित हो गये। मर्त्यो! तुम हमारा बाह्य शरीर मात्र देखते हो, हमारे अभ्यन्तर शरीर को नहीं देख पाते।'' यह वर्णन निश्चित ही किसी वैदिकेतर तपस्वी का है और वे तपस्वी ऋषभदेव ही होंगे। तैत्तरीयारण्यक में इन्हीं वातरशना मुनियों को ''श्रमण'' और ''उर्ध्वमंथी'' भी कहा है। साथ ही उसमें ऋषभदेव का भी उल्लेख है–

''वातरशना हवा ऋषभाः श्रमणा उर्ध्वमंथिनो बभूवुः[2]।''

श्रीमद्भागवत में श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशना उर्ध्वमंथी श्रमण मुनि हैं वे शान्त, निर्मल, संपूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं। वातरशना मुनियों का सम्बन्ध दिगम्बर श्रमणों से ही है, इसलिए

---

1. ऋग्वेद 10, 136, 2–3
2. तैत्तरीयारण्यक 2/7/1

निघंटु की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है-

श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणाः वातरशना।

भागवत 11/2 में उपर्युक्त व्याख्या का समर्थन इसी प्रकार करते हुए कहा गया है-

श्रमणा वातरशना आत्म-विद्या विशारदाः।

श्रमण दिगम्बर मुनि का ही नामान्तर है। आचार्य जिनसेन ने आदि-पुराण में वातरशना शब्द का अर्थ निर्ग्रंथ, निरम्बर, दिगम्बर करते हुए कहा है-

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः।[1]

ऋग्वेद में केशी की भी स्तुति प्राप्त होती है। यह केशी साधना-युक्त होते हैं। लिखा है-

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ ऋग्वेद 10/136/1

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। उसकी ज्ञान ज्योति केवलज्ञान रूप है।

ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनियों की साधनाओं का भागवत पुराण में उल्लिखित ऋषभ की साधनाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के वातरशना श्रमण एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं। केशी का अर्थ केशधारी है, सम्भवतः ये वातरशना मुनियों के अधिनायक थे। इनकी साधना में मलधारण, मौनव्रत, उन्मादभाव का विशेष उल्लेख हे। श्रीमद् भागवत में ऋषभदेव की जिस वृत्ति का वर्णन है, उससे स्पष्ट है कि वे केशधारी योगी रूप में विचरण करते थे।[2]

जैन मूर्ति कला में ऋषभदेव के कुटिल केशों की परम्परा प्राचीनतम काल से पायी जाती है। चौबीस तीर्थंकरों में से केवल ऋषभदेव की मूर्ति के सिर पर ही कुटिल केश दिखाई पड़ते हैं और वहीं उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। पद्मपुराण में ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख आया है।[3] हरिवंश पुराण में भी उन्हें प्रलम्ब जटाधारी कहा है।[4]

---

1. जिन सहस्रनाम
2. श्रीमद् भागवत 5/6/28-31
3. पद्म पुराण 3/288
4. हरिवंश पुराण 9/204

अतः ऋषभदेव का ''केशी'' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है।

ऋग्वेद में एक ऐसी ऋचा उपलब्ध है जिसमें केशी और ऋषभ इन दोनों का उल्लेख है। यहाँ केशी ऋषभ का विशेषण जैसा प्रयुक्त है। मूल ऋचा निम्न प्रकार है-

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस,ऋच्छन्तिष्मानिष्पदो मुद्गलानीम्।।ऋग्वेद10/102/6

अर्थात् मुद्गलऋषि की गायों को चोर चुरा ले गये थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गायें आगे की ओर न जाकर पीछे को लौट पडीं। सायण ने केशी को ऋषभ का विशेषण बताया है-

अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्ट केशो वृषभः अवावचीत भृशमशब्दयत्।

अर्थात् मुद्‌गल ऋषि ने केशी वृषभ को शत्रुओं का विनाश करने के लिए अपना सारथी नियुक्त किया। इस ऋचा का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्‌मुख थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ का उपदेश सुनकर अन्तर्मुखी हो गयीं। अतएव यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में जो केशी सूक्त आया है वह ऋषभदेव के उल्लेख का सूचक है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अर्हन्, यति और व्रात्यों का उल्लेख आया है। विद्वानों के अनुसार उनका सम्बन्ध भी जैन संस्कृति से ही है। ऋग्वेद के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर डॉक्टर सागरमल जैन ने 'ऋग्वेद' में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचाएँ, नामक लेख में लिखा है-

''ऋग्वेद में ने केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बद्ध अर्हत्, अर्हन्, व्रात्य, वातरशना, मुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है, अपितु उसमें अर्हत् परम्परा के उपास्य वृषभ का भी उल्लेख शताधिक बार मिलता है। मुझे ऋग्वेद में वृषभवाची 112 ऋचाएँ प्राप्त हुई हैं। सम्भवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं।[1] यद्यपि यह कहना कठिन है

1. डॉ. गोकुलप्रसाद के अनुसार ऋग्वेद की 141 ऋचाओं में ऋषभदेव का स्तुतिपरक उल्लेख एवं उत्कीर्तन हुआ है, जिनमें ऋषभदेव को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाशक कहा गया है।
णाणसायर ऋषभ अंक पृ.21

कि इन समस्त ऋचाओं में प्रयुक्त वृषभ शब्द ऋषभदेव का ही वाची है, फिर भी कुछ ऋचाएँ तो अवश्य ऋषभदेव से सम्बद्ध ही मानी जा सकती हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, प्रो. जिम्मर, प्रो. विरूपाक्ष वार्डियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान् भी इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बद्ध निर्देश उपलब्ध होते हैं।''[1] ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में भी ऋषभदेव का अनेकशः उल्लेख मिलता है।

पुराणों और स्मृतियों में ऋषभदेव

इस प्रकार वेदों में ऋषभदेव का उल्लेख तो मिलता ही है, श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेय पुराण, कूर्मपुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वराहपुराण, विष्णुपुराण एवं स्कंधपुराण आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ ही साथ उनके माता-पिता, पुत्र आदि के नाम तथा जीवन की घटनाओं का भी विस्तार से वर्णन है।[2]

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध अध्याय तीन में अवतारों का कथन करते हुए बताया गया है। ''राजा नाभि की पत्नी मरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवाँ अवतार ग्रहण किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने परमंहसों को वह मार्ग दिखाया जो सभी आश्रमवासियों के लिए वन्दनीय है।'' महाभारत शान्तिपर्व में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। ऐसा कहा जाता है कि अड़सठ तीर्थों की यात्रा करने से जो फल प्राप्त होता है उतना फल भगवान् आदिनाथ के स्मरण मात्र से ही मिल जाता है-

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥

इस प्रकार पौराणिक साहित्य के अनुशीलन से ऋषभदेव की ऐतिहासिकता के साथ-साथ जैन-धर्म के प्रस्थापक के रूप में उनके महान् व्यक्तित्व का भी पता चलता है।

1. देखें श्रमण, अप्रैल-जून 1994
2. विशेष के लिए देखें ऋषभ सौरभ पृ.77

बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव

बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। धम्मपद में उन्हें ''प्रवर वीर'' कहा है (उसभं पवरं वीरं- 422)। मंजुश्री मूल कल्प में उनको निर्ग्रन्थ तीर्थंकर और आप्त देव के रूप में उल्लिखित किया गया है।[1] ''न्याय बिन्दु'' अध्याय तीन में ऋषभ (वृषभ) और वर्द्धमान को सर्वज्ञ अर्थात् केवल ज्ञानी आप्त तीर्थंकर बताते हुए दिगम्बरों का अनुशास्ता कहा गया है।[2] ''धर्मोत्तर प्रदीप'' पृष्ठ 286 में भी उनका स्मरण किया गया है। इस प्रकार ऋषभदेव का उल्लेख प्राचीन इतिहास, जैन, वैदिक, बौद्ध तीनों साहित्यों में मिलता है।

सिन्धु घाटी और जैन-धर्म

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं की यह मान्यता है कि वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत थी। विद्वानों ने उसे श्रमण संस्कृति से सम्बद्ध किया है। सन् 1922 से 1927 के बीच भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा सिन्धु घाटी के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से कई नये तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिनसे जैन-धर्म की प्राचीनता के साथ-साथ उसकी प्राग्वैदिकता भी सिद्ध होती है। इन दोनों स्थानों में जिस संस्कृति की खोज हुई वह सिन्धु घाटी की सभ्यता कही जाती है। विद्वानों के अनुसार वह लगभग 5000 वर्ष पुरानी संस्कृति है। इन स्थानों से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री के आधार पर तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, पहनाव व रीतिरिवाज और धार्मिक विश्वासों का पता चलता है।

मोहनजोदड़ों से कुछ नग्न कायोत्सर्ग योगी मुद्राएँ मिली हैं, उनका सम्बन्ध जैन संस्कृति से है। इसे प्रमाणित करते हुए स्व.रायबहादुर प्रो.रामप्रसाद चन्द्रा ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है-

''सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियाँ न केवल योग मुद्रा में अवस्थित हैं, वरन् उस प्राचीन युग में सिन्धु घाटी में प्रचलित योग पर भी प्रकाश डालती हैं। उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रकट करते

---

1. सर्वज्ञ आप्ति वा सज्योति ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् यथा वृषभ वर्धमानादिरिति-न्यायबिन्दु अ.3
2. ऋषभो बर्द्धमाश्च तावादी यस्य स ऋषभ-वर्द्धमानादिः दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्च ॥ न्यायबिन्दु 3/13

हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से सम्बद्ध है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदि पुराण सर्ग अठारह में ऋषभ अथवा वृषभ की तपस्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्त्व संग्रहालय में एक शिला फलक पर जैन वृषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या 12 में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिस्री स्थापत्य में कुछ ऐसी प्रतिमाएँ विद्यमान हैं जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिस्री मूर्तियाँ या ग्रीक कुरों प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है जो सिन्धु घाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ होता है वृषभ (बैल) और वृषभ, जिन ऋषभ का चिह्न है।[1]

प्रो. चन्द्रा के इन विचारों का समर्थन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है। वे सिन्धु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं, उन्होंने तो सील क्रमांक 449 पर ''जिनेश्वर'' शब्द भी पढ़ा है।[2]

इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि फलक 12 और 118 आकृति 7 (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभ देवता की मूर्ति में। वृषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F.G.H. फलक पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल भी बना है। संभव है कि यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा है तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।[3]

---

1. मार्डन रिव्यु अगस्त 1932 पृ. 156-60
2. It may also noted that inscription on the indus seal No. 449. reads according to decipherment "jinesh". Indian Historical Quarterly. Vol. VIII No. 250.
3. हिंदू सभ्यता पृ. 39

इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं-

''मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।[1]

इसी संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. एम.एल. शर्मा लिखते हैं-

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चिह्न अंकित है वह भगवान् ऋषभदेव का है। यह चिह्न इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। सिन्धु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की पूजा करते थे।[2]

इसी बात के समर्थन में जैनधर्म को प्रागैतिहासिक धर्म निरूपित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् वाचस्पति गेरौला लिखते हैं-

''श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैनधर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। मोहनजोदड़ो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन धर्म ने ही किया है। धर्म-दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनों का विशेष योग रहा है।''[3]

इसी प्रकार अपनी पुस्तक *''हिमालय में भारतीय संस्कृति''* में विश्वम्भर सहाय प्रेमी लिखते हैं-

''शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से यदि इस प्रश्न पर विचार करें तो भी यह मानना ही पड़ता है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनियों का हाथ था। मोहनजोदड़ों की मुद्राओं में जैनत्व बोधक चिह्नों का मिलना तथा वहाँ की योग मुद्रा ठीक जिन मूर्तियों के सदृश होना इस बात का प्रमाण है कि तब ज्ञान और ललित कला में जैनी किसी से पीछे नहीं थे।''[4]

1. संस्कृति के चार अध्याय पृ. 62
2. भारत में संस्कृति और धर्म पृ. 62
3. भारतीय दर्शन पृ. 93
4. हिमालय में भारतीय संस्कृति पृ. 47

इसी आधार पर जैन धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक धर्म है। इस बात की पुष्टि करते हुए डॉ. विशुद्धानन्द पाठक और पं. जयशंकर मिश्र लिखते हैं-

''विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से मिली योग मूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में ऋषभ तथा अरिष्ट नेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णु पुराण में मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैन धर्म की प्राचीनता व्यक्त करती है।''[1]

इसी प्रकार जैनाचार्य विद्यानन्दजी द्वारा लिखित- *मोहनजोदड़ो, जैन परम्परा और प्रमाण नामक शोधात्मक लेख दृष्टव्य है।* उन्होंने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करते हुए लिखा है-

''जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से मान सकते हैं- पुरातत्त्व और इतिहास। जैन पुरातत्त्व प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय कर पाना कठिन है, क्योंकि मोहनजोदड़ो की खुदाई में कुछ ऐसी सामग्री मिली है जिसने जैन धर्म की प्राचीनता को कम से कम पाँच हजार वर्ष आगे धकेल दिया है।''[2]

इसी प्रकार हड़प्पा की खुदाई से एक नग्न मानव धड़ मिला है। नग्न मुद्रा कायोत्सर्ग मुद्रा है। केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन महानिदेशक टी.एन.रामचन्द्रन् ने उस पर गहन अध्ययन किया है। उन्होंने अपने *'' हड़प्पा एण्ड जैनिज्म''* नामक शोधपूर्ण पुस्तक में उस मूर्ति को ऋषभदेव की प्रमाणित करते हुए लिखा है-

''हड़प्पा की कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्णित मूर्ति पूर्ण रूप से जैन मूर्ति है, उनके मुख पर जैन धर्म का साम्य भाव दूर से झलकता है।''[3]

डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इसे तीर्थंकर ऋषभ की मूर्ति माना है। उनके अनुसार ''पटना के पास लोहानीपुर से प्राप्त तीर्थंकर महावीर की मूर्ति

---

1. भारतीय इतिहास और संस्कृति पृ. 199-200
2. मोहनजोदड़ो जैन परम्परा और प्रमाण पृ. 12
3. The Harappan Statuette being exactly in the above specified Pore. We may not be wrong in identifying. The God represented as a Tirthnakara or a jaina ascetic of accredited fame and penance. पृ.4

भारत की सबसे प्राचीन मूर्ति है। हड़प्पा की नग्न मूर्ति और इस जैन मूर्ति में समानता है। इनकी विशेषता है योग मुद्रा।''[1]

बाबू कामताप्रसाद जैन ने अपनी पुस्तक *''महावीर और अन्य तीर्थंकर''* में लिखा है कि ''हड़प्पा से प्राप्त एक प्लेट नं. 10 पर केवल मानव मूर्ति का धड़ उत्कीर्णित है। यह भी नग्न है और कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इसका हूबहू साम्य बाँकीपुर की जैन मूर्ति में मिलता है। यह मौर्य कालीन है।''[2]

हड़प्पा की संस्कृति को विद्वानों ने ईसा पूर्व 2000 से 3000 वर्ष का माना है। इससे स्पष्ट होता है कि आज से चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व भी तीर्थंकरों का अस्तित्व था और उनकी मूर्तियों की पूजा-अर्चना होती थी। इन सब आधारों से अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता जैन संस्कृति से सम्बद्ध थी। श्री पी.आर. देशमुख ने अपनी पुस्तक इंडस सिविलाइजेशन ऋग्वेद एंड हिन्दू कल्चर'' में लिखा है-

''जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धु जनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।'' उन्होंने सिन्धु घाटी की भाषिक संरचना का उल्लेख करते हुए लिखा है-

''सिन्धुजनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन-सामान्य की भाषा है। जैनों और हिन्दुओं में भारी भाषिक भेद हैं। जैनों के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत में हैं। विशेषतया अर्धमागधी में, जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रन्थ संस्कृत में हैं। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक है और सिन्धु घाटी से उनका सम्बन्ध था।''[3]

इस विषय में डॉ. प्रेमसागर जैन द्वारा लिखित *''सिन्धु घाटी में ऋषभ युग''* दृष्टव्य है। उन्होंने अपने शोधात्मक लेख में अनेक प्रमाणों के आधार पर यह स्थापित करते हुए कहा है कि ''समूची सिन्धु घाटी उसमें चाहे मोहनजोदड़ो हो या हड़प्पा ऋषभदेव की थी, उनकी ही पूजा-अर्चना होती थी।''[4]

1. द इंडस वैली सिविलाइजेशन एंड ऋषभदेव, वी.जी. नैयर, पृ.1
2. महावीर और अन्य तीर्थंकर, पृ. 23
3. इंडस सिविलाइजेशन एंड हिंदू कल्चर, पी.आर.देशमुख, पृ. 344
4. सिंधु घाटी में ऋषभयुग डॉ.प्रेमसागर जैन, णाणसायर ऋषभदेव अंक।

इतिहासकारों के अनुसार वैदिक आर्यों के भारत आगमन अथवा सप्त सिन्धु से आगे बढ़ने से पूर्व भारत में द्रविड़, नाग आदि मानव जातियाँ थीं। उस काल की संस्कृति को द्रविड संस्कृति कहा गया है। डॉ.हेरास, प्रो.एस.श्रीकंठ शास्त्री जैसे अनेक शीर्षस्थ विद्वानों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उस संस्कृति को द्रविड तथा अनार्य संस्कृति का अभिन्न अंग माना है। प्रो.एस.श्रीकंठ शास्त्री ने सिन्धु सभ्यता का जैन धर्म के साथ सादृश्य बताते हुए लिखा है, ''अपने दिगम्बर धर्म,'' योग मार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लाञ्छनों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है। अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।[1] हड़प्पा से प्राप्त योगी मूर्तियाँ तथा वैदिक साहित्य में उल्लिखित दस्यु, असुर, नाग और व्रात्य आदि संस्कृतियाँ भी उन्हीं का स्मरण कराती हैं। ये सभी संसकृतियाँ जैन संस्कृति के अंगभूत संस्कृतियाँ थीं। इसी बात पर जोर देते हुए मेजर जनरल जे.सी.आर.फर्लांग एफ.आर.एस.ई. ने अपने ग्रन्थ में लिखा है-

''ईसा पूर्व 'अज्ञात समय से कुछ पश्चिमी, उत्तरी व मध्य भारतीय तुरानी जिनको द्रविड कहते हैं, के द्वारा शासित था। द्रविड श्रमण धर्म के अनुयायी थे। श्रमण धर्म जिसका उपदेश ऋषभदेव ने दिया था, वैदिकों ने उन्हें जैनों का प्रथम तीर्थंकर माना है। मनु ने द्रविड़ों को व्रात्य कहा है, क्योंकि वे जैन धर्मानुयायी थे।''[2]

श्री नीलकंठ शास्त्री ने *'उड़ीसा में जैन धर्म'* नामक पुस्तक में जैन धर्म को संसार का मूलधर्म बताते हुए द्रविड़ों को जैनों से संबद्ध किया है। वे लिखते हैं-

''जैन धर्म संसार का मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैन धर्म प्रचलित था। सम्भव है कि प्राग्वैदिक में शायद द्रविड़ों में यह धर्म था।'[3] इसी प्रकार पी.सी.राय चौधरी ने भी जैन धर्म को अत्यन्त प्राचीन धर्म माना है। उनके अनुसार मगध में पाषाण युग के बाद कृषि युग का प्रवर्तन ऋषभ युग में हुआ।[4]

---

1. देखें भारतीय इतिहास- एक दृष्टि. पृ. 243
2. शार्ट स्टडीज ऑफ कम्परेटिव रिलिजन, पृ. 243
3. उड़ीसा में जैन धर्म पृ. 3
4. जैनिज्म इन बिहार पृ. 47

शिलालेखीय साक्ष्य

जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से कलिंगाधिपति सम्राट् खारवेल द्वारा लिखाया गया उदयगिरि, खंडगिरि के हाथी गुफा वाला लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ***नमो अरहंतानं, नमो सव्व सिद्धानं*** से प्रारम्भ हुए उक्त लेख में जैन इतिहास की व्यापक जानकारी मिलती है। उसमें लिखा है कि महामेघवाहन खारवेल मगधराज पुष्यमित्र पर चढ़ाई कर ऋषभदेव की मूर्ति वापस लाया था। बैरिस्टर श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उस लेख का गम्भीर अध्ययन करके लिखा है- ''अब तक के उपलब्ध इस देश के लेखों में जैन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण शिलालेख है। उससे पुराण के लेखों का समर्थन होता है। वह राजवंश के क्रम को ईसा से 450 वर्ष पूर्व तक बताता है। इसके सिवाय यह सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर के 100 वर्ष के अनन्तर ही उनके द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म, राज धर्म हो गया था और उसने उड़ीसा में अपना स्थान बना लिया था।''[1] उक्त लेख से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर के समय में भी ऋषभदेव की पूजा-अर्चना होती थी।

मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त देव निर्मित स्तूप की सामग्री बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ सैकड़ों जैन मूर्तियाँ और शिल्पावशेषों के अतिरिक्त सौ से अधिक अभिलेख मिले हैं। उसमें सबसे प्राचीन देव निर्मित स्तूप विशेष उल्लेखनीय है। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसे देव निर्मित स्तूप कहा जाता है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार ईसा पूर्व 800 के आसपास उसका पुर्ननिर्माण हुआ।[2] कुछ विद्वान् उसे आज से 3000 वर्ष प्राचीन मानते हैं।[3]

उसके साथ ही वहाँ से ई.पू. दूसरी सदी से बारहवीं शताब्दी तक की अनेक तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी मिली हैं। इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

इन्हीं सब आधारों के कारण विसेंट ए.स्मिथ ने लिखा है-

''मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बात बताती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी

1. जैन सिद्धान्त भास्कर भा. 5 पृ. 26-30
2. 3. देखें 'ऋषभ सौरभ' में प्रकाशित डॉ.रमेश चन्द्र शर्मा द्वारा लिखित 'मथुरा के जैन साक्ष्य'

रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी वह अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ़ विश्वासी था"[1]

विद्वानों के अभिमत

इस प्रकार ऐतिहासिक खोजों, शिलालेखीय प्रमाणों, पुरातात्त्विक साक्ष्यों एवं प्राचीन साहित्य के सत्यानुशीलन से ऋषभदेव के साथ-साथ जैन धर्म की प्राचीनता दर्पणवत् स्पष्ट हो जाती है। अब प्रायः सभी विद्वान् यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है और इसका प्रवर्तन ऋषभदेव ने किया था। प्रसंगानुरोध से इसी क्रम में कुछ विद्वानों के महत्वपूर्ण गवेषणात्मक मन्तव्यों/निष्कर्षों को उद्धृत करते हैं जिनसे जैन धर्म की प्राचीनता का पता चलता है-

1. जैन धर्म के आरम्भ को जान पाना असम्भव है। इस तरह यह भारत का सबसे पुराना धर्म मालूम होता है।[2]

-मेजर जे.सी.आर.फरलांग

2. जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ। इससे मुझे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।[3]

-महामहोपाध्याय राम मिश्र शास्त्री

3. जैन परम्परा के अनुसार जैन दर्शन का उद्‌गम ऋषभदेव से हुआ, जिन्होंने कई शताब्दियों पूर्व जन्म धारण किया था। इस प्रकार के पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व भी ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव की पूजा करते थे, जो सबसे पहले तीर्थंकर थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्द्धमान एवं पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैन धर्म प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है- ऋषभदेव, अजितनाथ, अरिष्ट नेमि। भागवत पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।[4]

- पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

---

1. जैन स्तूपः मथुरा, पृ.6
2. दि शार्ट स्टडीज इन साइंस ऑफ कम्परेटिव रिलिजन, पृ.14
3. जैन इतिहास पर लोकमत
4. भारतीय दर्शन भाग-1 पृष्ठ-233

4. पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।[1]

–सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ.हर्मन जैकोबी

5. जब जैन और ब्राह्मण दोनों ही ऋषभदेव को इस अल्पकाल में जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।[2]

–स्टीवेन्सन

6. विशेषतः प्राचीन भारत में किसी भी धर्मान्तर से कुछ भी ग्रहण करके नूतन धर्म चलाने की प्रथा नहीं थी। जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। यह उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है।[3]

–प्रो.मेक्समूलर

7. डॉ. जिम्मर जैन धर्म को प्रागैतिहासिक, वैदिक धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं, ''ब्राह्मण आर्यों से जैन धर्म की उत्पत्ति नहीं है, अपितु वह बहुत प्राचीन प्राग्आर्य, उत्तरपूर्वी भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि विज्ञान और मनुष्य आदि के विकास तथा रीतिरिवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है।''[4]

8. जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं। जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में संशय नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भागवत में कई अध्याय ऋषभदेव के वर्णन में लगाए गए हैं। ये मनुवंशी महीपति नाभि और महारानी मरुदेवी के पुत्र थे। इनकी विजय वैजयंति

---

1. इंडियन एंटीक्वेरी 46/63
2. it is so seldom that jains and Brahmans agree I do not see now. We can refuse them credit in this instance where they do so.

   - kalpsutra Introduction
3. ऋषभ सौरभ पृ. 29
4. Jainism does not derive from Brahman Aryan sources but reflects the Cosmology and an Anthropology of a much old pre Aryan upper class of North Eastern India. **-The Philosophies of india-p. 217**

अखिल महीमंडल पर फहराती थी। इनके सौ पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे 'भरत'। जो भारत के नाम से अपनी अलौकिक आध्यात्मिकता के कारण प्रसिद्ध थे और जिनके नाम से प्रथम अधीश्वर होने के हेतु हमारा देश भारत के नाम से विख्यात हुआ।[1]

-डॉक्टर बलदेव उपाध्याय

9. ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद है तथा मतभेद से रहित है। सुतरां............इस विषय में इतिहास के सुदृढ़ सबूत है।[2]

-लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

10. यह सुविदित है कि जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर थे।.... भगवान् महावीर से पूर्व 23 तीर्थंकर हो चुके थे। उन्हीं में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे, जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है और यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि उसका क्या कारण रहा होगा? भागवत में इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत, ऋषभ के शतपुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया।[3]

-डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

11. लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किन्तु इसका प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।[4]

-वरदाकान्त मुखोपाध्याय

---

1. भारतीय दर्शन, पृ.88 सप्तम संस्करण
2. अहिंसा वाणी, जुलाई 82, पृ.197-198
3. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका प्रस्तावना पृ. 8
4. जैनधर्म की प्राचीनता पृ.8

12. जैन और बौद्ध धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में मुकाबला करने पर जैन धर्म वास्तव में बहुत प्राचीन है। मानव समाज की उन्नति के लिए जैन धर्म में

â Îæ æÚU· ¤æÕÇ æ× ÊØ ãÐ[1]

- फ्रेंच विद्वान् ए.गिरिनाट

13. संसार में प्रायः यह मत प्रचलित है कि भगवान् बुद्ध ने आज से 2500 वर्ष पहले अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया था। किसी इतिहास के ज्ञानी को इसका बिल्कुल ज्ञान नहीं कि महात्मा बुद्ध से करोड़ों वर्ष पूर्व एक नहीं अनेक तीर्थंकरों ने अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्राचीन क्षेत्र और शिलालेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जैन धर्म प्राचीन धर्म है, जिसने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ दिया।[2]

अन्य तीर्थंकर

पूर्व कथित प्रमाणों एवं उपर्युक्त विद्वानों के सम्मतियों के आधार पर भगवान् ऋषभदेव की ऐतिहासिकता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। इनके बाद क्रमशः तेईस तीर्थंकर और हुए, जिनका जीवन चरित्र जैन पुराण ग्रन्थों में सविस्तार मिलता है। इसके अतिरिक्त मथुरा के कंकाली टीला एवं अन्य स्थानों से प्राप्त ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व की निर्मित प्रतिमाओं से भी शेष तीर्थंकरों का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित होता है।[3]

तीर्थंकर नेमिनाथ

इनमें बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ जिन्हें अरिष्ट नेमि भी कहते हैं, की ऐतिहासिकता को विद्वानों ने स्वीकार किया है। वे नारायण श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे।[4] यजुर्वेद आदि ग्रन्थों में भी अरिष्ट नेमि का उल्लेख हुआ है।

---

1. जैन धर्म पृ. 128
2. जैन धर्म पृ.128
3. जैन स्तूप एंड अदर एण्टीक्वीटीज ऑफ मथुरा पृ. 24.25
4. Neminath is connected with the legend of shri krishna as his relative... The Harivansa Puran establishes the Historicity of Neminath. He was never a mythical person. He is referred to as a jina in Prabhasas Purana. Who obtained solvation on the M.T. Raivataka - **Dr.B.C.Law Voa, S.P.No.Vol.v.P48**

पुराणों से भी स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण के समकालीन एक अरिष्ट नेमि नामक ऋषि थे। महाभारत में भी उनका उल्लेख है।[1]

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ था। ये उग्रवंशी राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवी के पुत्र थे। 30 वर्ष की अवस्था में इनका मन वैराग्य से भरा उठा और कुमार अवस्था में ही समस्त राज-पाट छोड़कर इन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर तपस्या मार्ग अपना लिया। कुछ दिन तक दुर्द्धर तपस्या करने के उपरान्त इन्हें कैवल्य की उपलब्धि हुई। तदनन्तर देश-देशान्तरों में भ्रमण करते हुए उन्होंने जैन धर्म का उपदेश दिया। अन्त में 100 वर्ष की अवस्था में झारखण्ड प्रदेश में स्थित सम्मेद शिखर से निर्वाण लाभ किया। यह पर्वत तब से आज भी पारसनाथ हिल्स के नाम से विख्यात है। जैन पुराणों के अनुसार इनके और महावीर के निर्वाण काल में 250 वर्ष का अन्तर है। इतिहासकारों के अनुसार इनकी जन्मतिथि 877 ई.पू. तथा निर्वाण तिथि 777 ई.पू. है।

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बारे में भी किसी प्रकार के सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्ध[2] और जैन[3] ग्रन्थों में इनके शिष्यों का उल्लेख मिलता है। उनके

---

1. एक समय था जब इतिहासज्ञ विद्वान् भगवान् नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं रखते थे, किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक खोजों के आधार पर अब विद्वान् यह मानने लगे हैं कि श्रीकृष्ण के समय नेमिनाथ जैसे कोई महापुरुष हुए हैं। प्रसिद्ध कोषकार डॉ. नागेंद्रनाथ वसु, पुरातत्त्वज्ञ डॉ.फ़ूहरर, प्रो.वारनेट, कर्नल टाड, मि.कवा, डॉ.हरिसत्य भट्टाचार्य, डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकर, डॉ. राधाकृष्णन् आदि अनेक प्रौढ़ और प्रामाणिक विद्वान् तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे हैं। स्वयं ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, ऐतरेय ब्राह्मण, यास्कनिरुक्त, सर्वानुक्रमणिका टीका, वेदार्थ दीपिका, सायण भाष्य, महाभारत, भागवत, स्कंद पुराण एवं मार्कण्डेय पुराण आदि प्रसिद्ध ब्राह्मणीय ग्रन्थों में इनके उल्लेख मिलते हैं। इतना ही नहीं तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में भी पहुँचा प्रतीत होता है।
   कर्नल टाड अपनी पुस्तक राजस्थान में लिखते हैं कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। इनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केण्डिनेविया निवासियों के प्रथम 'ओडिन' तथा चीनियों के प्रथम 'फो' नामक देवता थे। डॉ.प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसके अतिरिक्त 19 मार्च 1935 के साप्ताहिक 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में काठियावाड़ से प्राप्त कर प्राचीन ताम्र शासन प्रकाशित किया था। उनके अनुसार उक्त दानपत्र पर जो लेख अंकित था उसका भाव यह है कि 'सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्दियन सम्राट् नेवुचेदनज्जन ने जो रेवानगर (काठियावाड़) का अधिपति है, यदुराज की इस भूमि (द्वारका) में आकर रेवताचल (गिरिनार) के स्वामी नेमिनाथ की भक्ति की तथा उनकी सेवा में दान अर्पित किया।' दानपत्र पर उक्त पश्चिमी एशियाई नरेश की मुद्रा भी अंकित है और उसका काल ईसा पूर्व 1140 केलगभग अनुमान किया जाता है। - **भारतीय इतिहास- एक दृष्टि : पृ. 45**
2. मज्झिम निकाय, 1/25
3. उत्तराध्ययन गौतम केशी संवाद

स्तूप, मन्दिर और मूर्तियाँ स्वयं उनके काल से अब तक की बराबर मिलती हैं, जिनसे उनका अस्तित्व प्रमाणित होता है।[1] डॉ. चार्ल कारपेंटर, डॉ. गिरिनाट, डॉ. हर्म्सवर्थ, प्रो. रामप्रसाद चन्द्रा, डॉ. विमल चरण लाहा तथा डॉ. जिम्मर[2] प्रभृति अनेक विद्वान् इनकी ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि ''भगवान् पार्श्व अवश्य हुए, जिन्होंने लोगों की शिक्षाएँ दी थीं। इनकी ऐतिहासिकता स्वयंसिद्ध है।''[3]

तीर्थंकर महावीर

अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म चैत्र शुक्ल त्रयोदशी (सोमवार 27 मार्च ईस्वी पूर्व 598) के दिन कुण्डग्राम में हुआ। कुण्डग्राम प्राचीन भारत के व्रात्य क्षत्रियों के प्रसिद्ध वज्जि संघ के वैशाली गणतन्त्र के अन्तर्गत था। वर्तमान में उस स्थान की पहचान बिहार के वैशाली नगर से की गई है। वहाँ भगवान् महावीर का स्मारक भी बना हुआ है। उनके पिता सिद्धार्थ वहाँ के प्रधान थे। वे ज्ञातृवंशी काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे तथा माता त्रिशला उक्त संघ के अध्यक्ष लिच्छवि नरेश चेटक की पुत्री थीं। उन्हें प्रियकारिणी देवी के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। नाथवंशी होने के कारण महावीर को बौद्ध ग्रंथों में नात पुत्र (नाथ पुत्र) भी कहा गया है। महावीर के बचपन का नाम वर्धमान था, किंतु समय-समय पर घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं के कारण वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर आदि नाम भी उनके साथ जुड़ गए।

भगवान् महावीर के समय देश की स्थिति अत्यन्त अराजक थी। चारों ओर हिंसा का बोलबाला था। धर्म के नाम पर प्रतिदिन निरपराध पशुओं की बलि दी जाती थी। समाज का अभिजात वर्ग अपनी तथाकथित उच्चता के अभिमान में निम्नवर्ग का हर प्रकार से शोषण कर रहा था। वे मनुष्य होकर भी मानवोचित अधिकारों से वंचित थे। कुमार वर्धमान का मन इस हिंसा और विषमता से होने वाली मानवता के उत्पीड़न से बेचैन था। इस विषम परिस्थिति ने उन्हें आत्मानुसन्धान

---

1. कंकाली टीला मथुरा का जैन स्तूप उनके ही समय बना था।
2. देखें भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ. 47
3. At least with respect to Parshva the Tirthankare just preceding Mahavira. We have ground three for Parshva believing that he actualy lived and thought... Parshva....is the first of The Long Series. Whom we can fairly visualize in and all historical setting **- Philosophies of India**

की ओर प्रवृत्त किया। अतः इन्होंने तीस वर्ष की भरी जवानी में विवाह के प्रस्ताव को ठुकराकर मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी (29 नवंबर ई.पू. 569) के दिन समस्त राज-पाट का त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। वे बारह वर्ष तक कठिन मौन साधना में रत रहे। परिणामस्वरूप वैशाख शुक्ल दशमी (23 अप्रैल ई. पूर्व 557) के दिन बिहार के जृम्भक गाँव में ऋजुकूला नदी के किनारे उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। वे पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा बन गए। वहाँ से चलकर वे राजगृह के बाहर स्थित विपुलाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया।

उनका उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ। यही उनका प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन था। तीर्थंकर महावीर ने किसी नये धर्म का प्रवर्तन नहीं किया था, बल्कि पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित धर्म का ही पुनरुद्धार किया था। उनकी धर्मसभा समवशरण कहलाती थी, जहाँ जन समुदाय को बिना किसी वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग आदि के भेदभाव के कल्याणकारी उपदेश दिया जाता था। इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, सुधर्म, मण्डिक पुत्र, मौर्य पुत्र, अकम्पित, अचल, मैत्रेय और प्रभास उनके ग्यारह गणधर या प्रधान शिष्य थे। महासती चन्दना उनके आर्यिका/साध्वी संघ की प्रधान थीं। सम्राट् श्रेणिक उनके प्रधान श्रोता थे तथा महाराज्ञी चेलना श्रावक संघ की नेत्री थीं। इस प्रकार उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की, जिसमें सभी वर्गों/जातियों के लोग सम्मिलित थे। तीस वर्षों तक देश-देशान्तरों में विहार करके उन्होंने लोक को मुक्ति की राह दिखाई। अनेक राज्यों की राजधानियों में उनका विहार हुआ और तत्कालीन राजा-महाराजाओं में अधिकांश उनके उपदेशों से प्रभावित हुए। उनमें से अनेक ने श्रमण दीक्षा ग्रहण कर आत्म-साधना की। लाखों लोग उनके अहिंसा, संयम, समता और अनेकान्त मूलक उपदेशों से प्रभावित होकर अनुयायी बने। भारतवर्ष में प्रायः प्रत्येक भाग में महावीर के अनुयायी थे। भारत के बाहर भी गांधार, कपिसा, पारसीक आदि प्रत्यन्त देशों में उनके भक्त थे।

अन्त में 72 वर्ष की अवस्था में कार्तिक कृष्ण अमावस्या (15 अक्टूबर, मंगलवार ईसा पूर्व 527) के दिन प्रातःकाल मनोहर प्रहर ब्रह्म मुहूर्त में मध्यम पावानगर के कमल सरोवर के मध्य स्थित द्वीपाकर स्थल प्रदेश से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उस स्थान पर आज भी एक विशाल मन्दिर बना हुआ है, जो हमें भगवान् महावीर के निर्वाण का स्मरण दिलाता है।

अहिंसा, अनेकान्त, समता और कर्मवाद रूप धर्म चतुष्टय ही भगवान् महावीर के उपदेशों का सार है। सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अहिंसा को जितना व्यापक रूप भगवान् महावीर ने प्रदान किया, सम्भवतया उतना किसी अन्य धर्मोपदेष्टा ने नहीं दिया। जैन धर्म को उसके अन्तिम विकसित रूप देने का श्रेय अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को ही है।

इस प्रकार ऋषभदेव से महावीर तक जैनधर्म की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म रहा है और उसने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की एकता एवं विकास की दृष्टि से जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं वे आज भी उतने ही प्रासंगिक और उपयोगी हैं जितने उस समय थे।

भगवान् महावीर के बाद जैन धर्म

भगवान् महावीर के निर्वाणोपरानत उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम जैन संघ के नायक बने। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करने से पूर्व वह वेद-वेदान्तों के प्रकाण्ड ज्ञाता ब्राह्मण पण्डित थे। भगवान् महावीर के निर्वाण के दिन ही इन्हें शाम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। 12 वर्ष तक संघ इनके नेतृत्व में रहा। तत्पश्चात् महावीर संवत् 12 (ई.पू. 515) में निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके बाद सुधर्माचार्य को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। 22 वर्षों तक संघ इनके नेतृप्त में रहा। उनके निर्वाण के उपरान्त जम्बू स्वामी संघ के नायक बने। ये चम्पा नगरी में एक कोट्यधीश श्रेष्ठी के पुत्र थे और महावीर स्वामी के प्रभाव से शिष्य हो गये थे। उन्होंने 39 वर्ष तक धर्म प्रवचन दिया और अन्त में मथुरा चौरासी नामक स्थान पर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उनके पश्चात् क्रमशः विष्णुकुमार, नन्दिपुत्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए, जिनके नेतृत्व में संघ चला। इन पाँचों का कालयोग 100 वर्ष होता है। इन्हें सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान था।[1] इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का जैनधर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इनके पूर्व समस्त जैन संघ अखण्ड और अविभक्त था, किन्तु इनके स्वर्गवास के उपरान्त साधुओं में मतभेद, गणभेद आदि प्रारम्भ हो गये। दिगम्बर और श्वेतात्मबर रूप विभाजन का बीजारोपण भी यहीं पर हुआ था।

1. तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व श्रुत कहलाता है। श्रुतकेवली उसके पूर्ण ज्ञाता होते हैं।

श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव

उपर्युक्त मतभेदादिक का सबसे बड़ा कारण मगध को ग्रसने वाला बारह वर्षीय महादुर्भिक्ष था। आचार्य भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी भी थे। अतः उन्होंने भावी संकट को जानकर सम्पूर्ण संघ को दक्षिण भारत की ओर विहार करने का आदेश दिया। उनके नेतृत्व में श्रमण संघ का बहुभाग दक्षिण भारत को प्रस्थान कर गया। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी उस संघ के साथ दक्षिण की ओर चले गये थे। अपना अन्त समय निकट जानकर आचार्य भद्रबाहु कनार्टक के श्रवणबेलगोला में कटवप्र नामक पहाड़ी पर रुक गये तथा समस्त संघ को चोल, पाण्ड्य आदि प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया। फिर उन्होंने समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया। नवदीक्षित सम्राट् चन्द्रगुप्त भी उनके साथ थे। मुनि चन्द्रगुप्त ने भी वहीं तपस्या की, जिसके कारण इस पहाड़ी का नाम चन्द्रगिरि पड़ गया। इस आशय का छठी शताब्दी का एक शिलालेख वहाँ मिला है, जिसके आधार पर विद्वानों ने चन्द्रगुप्त को जैन मुनि होना निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है।

उधर आचार्य स्थूलभद्र (शान्ति आचार्य) के नेतृत्व में मुनियों का एक संघ उत्तर भारत में ही रुक गया था। दुर्भिक्ष के दुर्दिनों में वे अपनी कठोर चर्या/नियम संयम, आचार-विचार को आगमानुकूल सुरक्षित नहीं रख सके। परिणामतः वस्त्र, पात्र, आवरण, दंड आदि भी उनसे जुड़ गए। इस प्रकार समय बीतने पर जब सुभिक्ष हो गया तो आचार्य स्थूलभद्र ने उनसे कहा कि ''अपने कुत्सित आचरण को छोड़कर अपनी निन्दा गर्हा पूर्वक फिर से मुनियों का श्रेष्ठ आचरण ग्रहण कर लो।'' किन्तु बहुत प्रयास करने पर भी वे बढ़ते हुए शिथिलाचार को नहीं रोक सके। इसी समय से जैन संघ दो भागों में बँटना प्रारम्भ हो गया। पहला संघ मूल आगम में अनुसार आचरण करने वाला था, वह मूल आम्नाय कहलाया तथा दूसरा संघ शिथिलाचारी साधुओं का था, जो आगे चलकर ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में श्वेताम्बर मत का जनक बना।

प्रारम्भ में शिथिलाचारी साधुओं ने अपनी नग्नता को छिपाने के लिए एकमात्र खण्ड-वस्त्र रखा, जिसे वे अपनी कलाई पर लटका लेते थे, इसलिए वे अर्द्धफालक कहलाए। मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक शिला पट्ट पर (आयगपट्ट) एक ऐसे ही साधु का चित्र अंकित है, जो अपने हाथ पर वस्त्र लटकाए हुए है, उसका शेष शरीर नग्न है। आगे चलकर उस वस्त्र को धागे द्वारा

कटि में बाँधा जाने लगा। फिर लँगोट का प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे सम्पूर्ण वस्त्र प्रयोग होने लगा। वस्त्रों के साथ पात्र आदि चौदह उपकरणों का भी विधान हो गया।[1] वस्त्रधारी साधु श्वेताम्बर तथा मूल आगम के अनुसार चर्या करने वाले निर्वस्त्र साधु दिगम्बर कहलाए। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि के सम्बोध प्रकरण से प्रकट होता है कि विक्रम की 7वीं, 8वीं शताब्दी तक श्वेताम्बर साधु भी एक कटि वस्त्र ही रखते थे तथा जो साधु उस कटि वस्त्र का निष्कारण उपयोग करता था वह कुसाधु माना जाता था,[2] किन्तु आगे चलकर वस्त्र पात्रादि का जोरदार समर्थन किया गया। इस क्रम में सर्वप्रथम जम्बू स्वामी के काल से जिन कल्प के विच्छेद का मिथक रचकर उस ओर बढ़ने वाले साधकों को रोका गया तथा प्राचीन आगमों में उल्लिखित अचेल, नाग्न्य जैसे स्पष्ट शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन कर डाला गया।

इस प्रकार उक्त वस्त्र ही दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप संघ-भेद का सबसे बड़ा कारण बना। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित बेचरदासजी दोशी का निम्न कथन बड़ा सटीक मालूम पड़ता है कि ''किसी वैद्य ने संग्रहणी के रोगी को दवा के रूप में अफीम सेवन की सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होने पर भी जैसे उसे अफीम की लत पड़ जाती है और वह उसे नहीं छोड़ना चाहता, वैसी ही दशा इस अपवादिक वस्त्र की हुई।''[3]

दिगम्बरत्व की प्राचीनता

भगवान् महावीर से आचार्य भद्रबाहु के काल तक सम्पूर्ण जैन संघ निर्ग्रन्थ संघ कहलाता था तथा उस समय सभी साधु दिगम्बर ही रहते थे। पण्डित

---

1. श्वेताम्बर साधु के चौदह उपकरण-

   1. पात्र 2. पात्र बंध 3. पात्र स्थापन 4. पात्र प्रमार्जनिका 5. पटल 6. रजस्राण 7. गुच्छक 8-9 दो चादरें 10. ऊनी वस्त्र 11. रजोहरण 12. मुख वस्त्रिका 13. मात्रक 14. चोल पट्टक।

   यह उपाधि औद्यिक अर्थात् सामान्य मानी गयी। आगे जाकर जो उपकरण बढ़ाये गये वे ''औपग्रहिक'' कहलाए। औपग्रहिक उपाधि में संस्तारक, उत्तरपट्टक, दण्डासन और दण्ड ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आज के श्वेताम्बर जैन मुनि रखते हैं।

   -जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 474

2. कीवो न कुणइ लोयं लज्जई पडिमाई जल्लमुवाणोई।
   सोवाहणो य हिंडई बंधइ कडि पट्ट मकज्जे॥ **-संबोध प्रकरण, पृ.14**

   अर्थात् क्लीव दुर्बल श्रमण लोच नहीं करते, प्रतिमा वहन करते समय शर्माते हैं, शरीर पर का मल उतारते हैं, पैरों में जूता पहनकर चलते हैं और बिना प्रयोजन कटिवस्त्र बाँधते हैं।

3. जैन साहित्य में विकार, पृ. 40

कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ने *''जैन साहित्य का इतिहास''* नामक ग्रन्थ में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अनेक इतिहासज्ञ, विद्वानों ने भी इसे स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि आचार्य भद्रबाहु के समय पड़ने वाले महादुर्भिक्ष के कारण ही निर्ग्रंन्थ संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआा।[1]

प्राचीन साहित्य के अन्वेषण, शिलालेखीय साक्ष्यों एवं पुरातात्विक सामग्री के आधार पर भी दिगम्बरों की प्राचीनता सिद्ध होती है। जितनी भी प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं वह सब दिगम्बर रूप में ही हैं। स्वयं श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव और महावीर ने दिगम्बर धर्म का उपदेश दिया था। उन ग्रन्थों में दिगम्बर वेश को अन्य वेशों से श्रेष्ठ बताते हुए यह भी कहा

---

1. (क) दिगम्बर सम्प्रदाय के विषय में अंग्रेजी विश्वकोषकार का निम्न कथन विशेष बोधप्रद है-

"The jains are divided into two great parties Digambers or sky clad ones and the Swetambers or the white robed ones. The latter have only as yet veen traced and that doubtfully as far back as the 5th century after Christ the former are almost certainty. The same as the Nirgranthas who are reffered to in numerous passage of Buddhist Pali Pitakas and must therefore be at least as old as 6th century B.C. The Nirgranthas are reffered to in one of Ashoka's edicts."

- vide Ency. Brit. Eleventh, Vol. 15 Page 127

(ख) श्री आर.सी. मजुमदार ने लिखा है ''जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध लौटे तो एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। नियमानुसार जैन साधु नग्न रहते थे, किन्तु मगध के जैन साधुओं ने सफेद वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिण भारत से लौटे हुए जैन साधुओं ने इसका विरोध किया, क्योंकि वे पूर्ण नग्नता को महावीर की शिक्षाओं का आवश्यक भाग मानते थे। विरोध का शान्त होना असम्भव पाया गया ओर इस तरह श्वेताम्बर (जिसके साधु सफेद वस्त्र धारण करते हैं) और दिगम्बर (जिसके साधु एकदम नग्न रहते हैं) सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। जैन समाज आज भी दोनों सम्प्रदायों में विभाजित है।'' **-प्राचीन भारत, पृ. 149**

(ग) केम्ब्रिज हिस्ट्री में भद्रबाहु के दक्षिण गमन का निर्देश करके आगे लिखा है ''यह समय जैन संघ के लिए दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ईस्वी पूर्व 300 के लगभग महान् संघ भेद का उद्भव हुआ, जिसने जैन संघ को श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। दक्षिण से लौटे हुए साधुओं ने, जिन्होंने दुर्भिक्ष के काल में बड़ी कड़ाई के साथ अपने नियमों का पालन किया था, मगध में रह गए अपने अन्य साथी साधुओं के आचार से असन्तोष प्रकट किया तथा उन्हें मिथ्या विश्वासी और अनुशासनहीन घोषित किया।''

-केम्ब्रिज हिस्ट्री आऊपे इंडिया (हि.संस्करण 1955), पृ. 147

(घ) विश्वेश्वरनाथ रेणु ने लिखा है- ''कुछ समय बाद जब अकाल निवृत्त हो गया और कर्नाटक के जैन लोग वापिस लौटे तब उन्होंने देखा कि मगध के जैन साधु पीछे से निश्चित किये गये धर्म ग्रन्थों के अनुसार श्वेत वस्त्र पहनने लगे, परन्तु कर्नाटक से लौटने वाले साधुओं ने इस बात को नहीं माना। इससे वस्त्र पहनने वाले साधु श्वेताम्बर और नग्न रहने वाले साधु दिगम्बर कहलाए।''

-भारत के प्राचीन राजवंश, पृ. 41

है कि भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ श्रमण और दिगम्बरत्व का प्रतिपादन किया था और आगामी तीर्थंकर भी उसका ही प्रतिपादन करेंगें।[1] वैदिक साहित्य और बौद्ध ग्रन्थों में दिगम्बर मुनियों के रूप में ही जैन धर्म का उल्लेख हुआ है। वेदों में वातरसना मुनियों के रूप में तो दिगम्बर मुनियों का उल्लेख मिलता ही है। उपनिषदों में दिगम्बरों को ''**यथाजात रूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः शुक्ल-ध्यान परायणः**'' लिखा है।[2] हिंदू पद्मपुराण में निर्ग्रन्थ साधुओं को नग्न कहा है।[3] वहाँ जैन धर्म की उत्पत्ति की कथा बताते हुए कहा है कि दिगम्बर मुनि द्वारा जैन धर्म की उत्पत्ति हुई।[4] वायु पुराण में जैन मुनियों को नग्नता के कारण श्राद्धकर्म में अदर्शनीय कहा है।[5] टीकाकार उत्पल और सायण ने भी निर्ग्रन्थों को नग्न क्षपणक माना है।[6] बौद्ध ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों को अचेलक बताया है। विशाखवत्थु धम्मपदट्ठ कथा में निर्ग्रन्थ साधु का वर्णन नग्न रूप में मिलता है।[7] दाढ़ा वंशों में निर्ग्रन्थों को नग्नता के कारण अहिरिका (अदर्शनीय) कहा है। इसी प्रकार दीर्घनिकाय, मज्झिम निकाय, महावग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों के रूप में दिगम्बर साधुओं का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जैन साधु निर्ग्रन्थ कहलाते थे और वे नग्न रहते थे।[8]

श्वेताम्बर आचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ मूलसंघ के अनुपालक दिगम्बर मुनि लिखा है। वे लिखते हैं– *निर्ग्रन्थ एतेन मूलसंघादिः दिगम्बराः*[9] अर्थात् ''निर्ग्रन्थ''

---

1. ''सजहानामाए अज्जोमए समणाण निग्गंथाणं नग्गभावे मुंड भावे अण्हाणए अदंतवणे अच्छत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलग सेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरबासे लद्धाबलद्ध वित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवमेव महा पउमेवि रहा समणाणं णिग्गथाणं नग्गभावे जाव लद्धाबलद्ध वित्ताओ जाव पन्नवेहिंत्ति।''

   अर्थात् भगवान् महावीर कहते हैं कि श्रमण निर्ग्रंथ को नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, दातौन नहीं करना, छत्र नहीं रखना, पगरखी नहीं पहनना, भूमि शैया, केशलोंच, ब्रह्मचर्य पालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना, आहार की वृत्ति जैसे मैंने कही वैसे महापद्म अरहंत भी कहेंगे। – **ठाणा, पृ. 813/ देखें दि.दि. मुनि, पृ. 48-49**
2. यथाजात रूप धरो निर्ग्रन्थों निष्परिग्रह....शुक्लध्यान परायणः। –**सूत्र 6, जावालोपनिषद 5:130**
3. ''अर्हंतो देवता यत्र निर्ग्रन्थों गुरुरुच्यते'' – **हिंदू पद्म पुराण**
4. वृहस्पति सहाय्यार्थ विष्णुना मायामोह समुप्पादवमः
   दिगम्बरेण मायामोहदैत्यान् प्रति जैन धर्मोपदेशः दानवानां।
   माया मोह मोहितानां गुरुणां धर्म दीक्षा दानम्।
5. दि. दि. मुनि, पृ. 59
6. (क) निर्ग्रन्थो नग्नः क्षपणकः
   (ख) कथा कोपीनोत्तरा संगादिनाम त्यागिना, यथाजात रूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः इति सर्वत्र श्रुतिः।
7. दि.दि. मुनि. पृ. 50
8. दि. दि. मुनि, पृ. 46 से 59
9. प्रशम रति प्रकरण-8/142

इस शब्द का अर्थ मूलसंघ वाले दिगम्बर ही है। उन्होंने निर्ग्रन्थ प्राकृत रूप ''णिग्गंठ'' शब्द का अर्थ ही दिगम्बर कर दिया है। चूँकि तीर्थंकर महावीर आदि के लिए भी उनके अनेक ग्रन्थों में निर्ग्रन्थ (णिग्गंठ) विशेषण प्राप्त होता है, जिससे स्पष्ट होता है कि वे महावीर पर्यन्त संपूर्ण जैन तीर्थंकर परम्परा एवं उनकी परम्परा के ''निर्ग्रन्थ श्रमणों'' की मूलधारा को निःसंकोच दिगम्बर स्वीकार कर रहे हैं।

इतना ही नहीं विश्व की प्राचीनतम सभ्यता के रूप में परिगणित मो-अन-जो-दड़ो के पुरातात्त्विक अवेशषों से भी पता चलता है कि उस समय भी जैन श्रमण *''नग्न दिगम्बर''* ही होते थे। इस तथ्य को स्वीकारते हुए वर्तमान काल के प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य नथमल मुनि (आचार्य महाप्रज्ञ) जी लिखते हैं कि मो-अन-जो-दड़ो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों की यह विशेषता है कि वे कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं।[1]

शिलालेखीय साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है। सम्राट् अशोक के धर्म लेखों में निग्गंथ (निर्ग्रन्थ) साधुओं का उल्लेख है। जिनका अर्थ *प्रो. जनार्दन भट्ट* ''नग्नजैन साधु'' करते है।[2] पाँचवीं शताब्दी में कदम्बवंशी नरेश मृगेश वर्मा ने अपने एक ताम्रपत्र में अर्हत् भगवान् और श्वेताम्बर महाश्रमण संघ तथा निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर महाश्रमण संघ के उपभोग के लिए कालवंग नामक गाँव को भेंट करने का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उस काल के श्वेताम्बर भी अपने को निर्ग्रन्थ न कहकर दिगम्बर संघ को ही निर्ग्रन्थ मानते थे। यदि ऐसा नहीं था तो वे स्वयं को श्वेतपट तथा दिगम्बरों को निर्ग्रन्थ न लिखने देते।[3]

उक्त सन्दर्भों में दिगम्बरत्व की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में भेद

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक रूप से कोई विशेष भेद नहीं है। जो कुछ भी है उसमें अधिकांश व्यावहारिक रूप में ही है। दोनों ही

1. अतीत का अनावरण पृ. 16
2. अशोक के धर्म लेख, पृ. 327
3. कदम्बनां श्री विजय शिवमृगेश वर्मा कालवगं ग्रामं विभज्यं दत्तवान् अत्रपूर्व्वमर्हच्छाला परम पृष्कलस्थान निवासिभ्यः भगवर्दहम्महाजिनेन्द्र देवताभ्य एकोभागः द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरण परस्य श्वेतपट महाश्रमणं संघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघोपभोगायेति....। **जैहि. भा. पृ. 229**

सम्प्रदाय अहिंसा और अनेकान्तवाद का अनुसरण करते हैं। आत्मा-परमात्मा, मोक्ष और संसार आदि के स्वरूप के विषय में भी कोई भेद नहीं है। सात तत्त्वों का स्वरूप भी दोनों परम्पराओं में एक-सा ही वर्णित है। कुछ परिभाषाओं को छोड़कर कर्म सिद्धान्त में भी कोई मौलिक भेद नहीं है। जो कुछ भी भेद है वह आचारगत शिथिलता के करण ही उत्पन्न हुआ है। अपनी इसी शिथिलाचार पर आवरण डालने के लिए स्त्री-मुक्ति की कल्पना की गयी तथा सवस्त्र मुक्ति को सैद्धान्तिक रूप दिया गया। स्वयं श्वेताम्बर आगम के प्राचीन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर उनके उक्त बातों से विरोध आता है। इस विषय में पं. वेचरदासजी दोशी द्वारा रचित *''जैन साहित्य में विकार''* तथा पं. अजितकुमार शास्त्री कृत ''श्वेताम्बर मत समीक्षा'' दृष्टव्य हैं। वहाँ उन्होंने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नीचे यहाँ कुछ श्वेताम्बर मान्यताओं का उल्लेख करते हैं, जो दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध ठहरती हैं-

श्वेताम्बर	**दिगम्बर**
1. केवली कवलाहार (भोजन) करते हैं	नहीं करते हैं
2. केवली को नीहार होता है	नहीं होता है
3. सवस्त्र मुक्ति हो सकती है	मुक्ति के लिए दिगम्बर होना अनिवार्य है
4. स्त्री मुक्ति प्राप्त कर सकती है	नहीं कर सकती है
5. गृहस्थ वेश में मुक्ति सम्भव	नहीं, साधु होना अनिवार्य है
6. मरुदेवी को हाथी पर चढ़े ही मुक्ति गमन	असम्भव
7. भरत चक्रवर्ती को भवन में ही केवलज्ञान	असम्भव
8. वस्त्राभूषणों से सुसज्जित प्रतिमा की पूजा	पूर्णतः दिगम्बर और वीतराग प्रतिमा ही पूजा योग्य
9. मुनियों के वस्त्र पात्रादि 14 उपकरण	मुनि पूर्णतः अपरिग्रही रहते हैं
10. तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री होना,	स्त्री तीर्थंकर नहीं हो सकती
11. भगवान् महावीर का गर्भ परिवर्तन हुआ	यह असम्भव कल्पना है
12. महावीर का विवाह एवं कन्या का जन्म	नहीं हुआ
13. मुनियों का अनेक गृहों से भिक्षा ग्रहण	एक दिन में एक ही बार
14. मुनिगण अनेक बार भोजन ग्रहण करते हैं	एक ही स्थान पर खड़े-खड़े अपने हाथ में लेते हैं
15. महावीर स्वामी को तेजो लेश्या	नहीं
16. ग्यारह अंगों की मौजदूगी	अंग ज्ञान का लोप हो चुका है

उत्तरकालीन पन्थ भेद

मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के रूप में विभाजित जैन संघ समय-समय में अनेक गण गच्छादि के रूप में विभाजित होता रहा, परन्तु इनसे जैन मान्यताओं एवं मुनि आचार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। यही कारण है कि उनमें से अधिकांश का आज नाम शेष रह गया है, जिनका परिचय हमें शास्त्रों से मिलता है। उत्तर काल में दोनों सम्प्रदायों में कुछ पन्थ भेद अवश्य हुए जो आज भी अपने किसी न सिकी रूप में अस्तित्व में हैं। विस्तार भय से यहाँ हम उनका संक्षिप्त परिचय देते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय

भट्टारक पन्थ- प्रारम्भ में सभी जैन साधु वनों और उपवनों में निवास करते थे तथा वर्षावास को छोड़कर शेष काल में वे एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते थे। मात्र आहार चर्या हेतु वे शहरों में आते थे। धीरे-धीरे चौथी-चौथी-पाँचवीं शताब्दी में इनमें चैत्यवास (मंदिर निवास) की प्रवृत्ति बढ़ी। यह प्रवृत्ति दोनों सम्प्रदायों में एक साथ बढ़ी, जिसके फलस्वरूप श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वनवासी और चैत्यवासी गच्छ के रूप में मुनियों के दो भेद हो गए। पर, दिगम्बर सम्प्रदाय में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह निश्चित है कि उनमें भी चैतयवास की प्रवृत्ति हो चली थी। प्रारम्भ में चैत्यवास का प्रमुख उद्देश्य सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन और सृजन का था, किन्तु आगे चलकर वन-उपवन को छोड़कर इनमें नगरवास की ओर झुकाव बढ़ता गया। फिर भी उनकी मूलचर्या में कोई अन्तर नहीं आया। आचार्य गुणभद्र (नवमी सदी) ने मुनियों ने नगरवास को देखकर खेद प्रकट किया, परन्तु बढ़ती हुई चैत्यवास की प्रवृत्ति को एक वर्ग विशेष ने अपने जीवन का स्थायी आधार बना लिया। ये ही आगे चलकर मध्य काल के आते-आते भट्टारक पन्थ के जनक बने। इनके कारण अनेक मन्दिर भट्टारकों की गद्दियाँ एवं मठ आदि स्थापित हो गए तथा इनमें चैत्यवासी साधु मठाधीश बनकर स्थायी रूप से रहने लगे। इनका झुकाव परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर दिखाई देने लगा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो यह प्रवृत्ति पहले से ही पायी जाती थी, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय का यह वर्ग भी अब वस्त्र की ओर आकृष्ट होने लगा। इसका प्रारम्भ बसंत कीर्ति (13 वीं सदी) द्वारा मांडव दुर्ग (मांडवगढ़ मध्यप्रदेश) में किया गया।

भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारम्भ हुई।[1] यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि दिगम्बर भट्टारक नग्न रूप को पूज्य मानते थे और दिगम्बर मूर्तियों का ही निर्माण कराते थे। साथ ही यथा अवसर दिगम्बर मुद्रा भी धारण करते थे। ये मठाधीश बनकर रहते थे तथा वहीं से ये तीर्थों एवं मठों की समस्त गतिविधियों का संचालन करते थे। पीठाधीश भट्टारकों के उत्तराधिकारी ही इन मठों के स्वामी होते थे।

कुछ विद्वान् भट्टारक परम्परा को एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानते हैं। मेरी दृष्टि में यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि भट्टारकों की मान्यता और सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं था। वस्त्र स्वीकारने के बाद भी वे दिगम्बर मुद्रा को ही अपना आदर्श मानते थे। स्वयं को मुनि की जगह भट्टारक कहने का भी यहीं कारण था। वस्तुतः भट्टारक-परम्परा मध्यकाल में मुगलों के बढ़ते प्रभाव एवं बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम था। उस विषम परिस्थिति में संस्कृति की रक्षा के लिए एक नये मार्ग का प्रवर्तन करना पड़ा।

इस प्रकार भट्टारकों के आचार में कुछ शैथिल्य तो आया, किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियों और मठों में विशाल शास्त्र भण्डारों से युक्त अनेक विद्या केन्द्र स्थापित हो गये। मध्यकालीन साहित्य का सृजन प्रायः इसी प्रकार के केन्द्रों में हुआ। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दियाँ प्रायः सभी प्रमुख नगरों में स्थापित हो गयीं और मन्दिरों में भी अच्छा शास्त्र भण्डार रहने लगा। यहीं से प्राचीन शास्त्रों की लिपि प्रतिलिपि कराकर विभिन्न केन्द्रों में आदान-प्रदान किया जाने लगा। आज भी भट्टारक युग में प्रतिलिपि कराये गये अनेक प्राचीन ग्रन्थ जयपुर, व्यावर, जैसलमेर, ईडर, कारंजा, श्रवणबेलगोल, मूढ़बिड्री, कोल्हापुर आदि के बड़े-बड़े शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं। जैन संघ और सम्प्रदाय को भट्टारकों की यह देन अविस्मरणीय है।

आज भट्टारकों का लगभग अभाव-सा हो गया है। मात्र दक्षिण भारत के कुछ प्रमुख स्थानों पर भट्टारकों की गद्दियाँ एवं मठ हैं जिनमें रहने वाले भट्टारक उन तीर्थो की समस्त गतिविधियों का संचालन करते हैं तथा उत्कृष्ट श्रावक के रूप में माने जाते हैं।

---

1. भट्टारक सम्प्रदाय विद्याधर जोहरापुरकर
   विशेष के लिए देखें-जैन संघ और सम्प्रदाय (तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ, ग्वालियर)

तेरह पन्थ और बीस पन्थ

इसी भट्टारक परम्परा के विरोध में विक्रम की सत्रहवीं सदी में पं. बनारसीदास ने एक नये पन्थ को जन्म दिया जो तेरह पन्थ कहलाया। इन्हें अपने आपको तेरह पन्थ कहने पर भट्टारकों के अनुयायियों ने अपने आपको बीस पन्थी कहना प्रारम्भ कर दिया। दोनों पन्थों में "तेरह" और "बीस" की संख्या के जुड़ने की समस्या आज तक अनसुलझी है। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की उपपत्तियाँ दी हैं। इस सम्बन्ध में पं. जगन्मोहनलालजी की यह उपपत्ति कुछ हद तक ठीक जँचती है। इनके अनुसार "उस समय देश में भट्टारकों की बीस प्रमुख गद्दियाँ थीं। उन्हें अपना गुरु मानने वाले बीस पन्थी कहलाए तथा जो तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले शुद्धाचारी मुनियों के उपासक थे वे तेरह पन्थी कहलाये। वस्तुतः तेरह पन्थ और बीस पन्थ मतों में कोई खास भेद नहीं है, मात्र पूजा पद्धति में ही अन्तर है। बीस पन्थी भगवान् की पूजा में हरे फल, फूल आदि चढ़ाते हैं, जबकि तेरह पन्थी उन्हें नहीं चढ़ाकर चावल आदि सूखे पदार्थ ही चढ़ाते हैं।

तारण पन्थ

पन्द्रहवीं शताब्दी में जिस समय मुस्लिम आक्रान्ताओं ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्य पर काफी आघात पहुँचा दिया था, उसी समय एक तारण तरण नाम के व्यक्ति ने इस पन्थ को जन्म दिया, जो आगे चलकर सन्त तारण स्वामी के नाम से ख्यात हुए। यह पन्थ मूर्ति पूजा के विरोध में उत्पन्न हुआ। सन्त तारणतरण के द्वारा प्ररूपित होने के कारण यह पन्थ तारण पन्थ के नाम से ख्यात हुआ। सन्त तारण ने चौदह ग्रन्थों की रचना की। इनके अनुयायी मूर्ति पूजा नहीं करते हैं। ये अपने चैत्यालयों में विराजमान शास्त्रों की पूजा करते हैं। इनके यहाँ सन्त तारण द्वारा रचित ग्रन्थों के अतिरिक्त दिगम्बर जैनाचार्यों के ग्रन्थों की भी मान्यता है तथा ये दिगम्बर मुनियों को ही अपना आदर्श गुरु मानते हैं। सन्त तारण का प्रभाव मध्य प्रदेश के ही कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहा, जहाँ इनके अनुयायी आज भी हैं। इनकी संख्या दिगम्बरों की अपेक्षा अत्यल्प है।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में पन्थ-भेद होने के बाद भी उनमें किसी प्रकार का विद्वेष, वैषम्य नहीं पाया जाता। सब एक-दूसरे से घुले-मिले हैं। इनकी आचार परम्परा लगभग एक सी है। सभी दिगम्बर प्रतिमा तथा तीर्थों को आदर्श

मानते हैं तथा दिगम्बर गुरुओं की उपासना करते हैं। दिगम्बर जैन पूरे भारतवर्ष के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। उसमें भी मध्यप्रदेश, गुजरात, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान तथा दक्षिण में महाराष्ट्र एवं कर्नाटक दिगम्बर जैनियों के गढ़ हैं। इसके अतिरिक्त बिहार, पश्चिम बंगाल एवं असम में भी दिगम्बर जैनों की काफी संख्या है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय

श्वेताम्बर संघ में निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए-

चैत्य वासी

चैत्यवासी सम्प्रदाय की स्थापना वीर निर्वाण संवत् 850 के लगभग हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनियों ने उग्र विहार को छोड़कर मन्दिरों में रहना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती गई और आगे चलकर एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन गया। इस सम्प्रदाय के साधु वनों को छोड़कर चैत्यों/मन्दिरों में निवास करने के साथ ग्रन्थ संग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य भी रखने लगे। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की भी रचना की। हरिभद्रसूरि ने अपने सम्बोध प्रकरण में इन चैत्यवासी साधुओं की कड़ी आलोचना की है। समय-समय पर इन दोनों समुदायों के बीच शास्त्रार्थों और विवादों का भी उल्लेख मिलता है।[1]

चैत्यवासी पैंतालीस आगमों को स्वीकार करते हैं। श्वेताम्बरों में आज जो ''जती'' या ''श्रीपूज्य'' कहलाते हैं, वे मठवासी या चैत्यवासी शाखा की ही सन्तान हैं तथा जो संवेगी मुनि कहलाते हैं वे वनवासी शाखा के हैं। संवेगी अपने को सुविहित मार्गी या विधि मार्ग का अनुयायी कहते हैं।

स्थानकवासी

स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी सम्प्रदाय के विरोध में हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में अहमदाबादवासी मुनि ज्ञानश्री के शिष्य ''लोकाशाह'' इस पन्थ के जनक बने। उन्होंने मूर्ति-पूजा एवं साधु समाज में प्रचलित आचार-विचार को आगम-विरुद्ध बताकर उनका विरोध किया। इसे लोकागच्छ नाम दिया गया। उत्तरकाल में सूरत निवासी एक साधु ने लोकागच्छ की आचार परम्परा में कुछ सुधार कर ढुँढिया मत की स्थापना की।

---

1. देखें, जैन धर्म, पण्डित कैलाशचन्द्र, पृ. 318

लोकागच्छ के सभी अनुयायी इस सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गए। ये लोग अपना धार्मिक क्रिया-कर्म मन्दिरों में न करके स्थानकों (गुरुओं के निवास स्थान) या उपाश्रम में करते हैं। इसीलिए इन्हें स्थानकवासी कहा जाता है। इस सम्प्रदाय को साधुमार्गी सम्प्रदाय भी कहते हैं। ये लोग तीर्थयात्राओं में विशेष विश्वास नहीं रखते हैं। इनके साधु श्वेत वस्त्र पहनते हैं तथा मुख पर पट्टी बाँधते हैं। इनके यहाँ बत्तीस आगमों की ही मान्यता है।

तेरा पन्थ

स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओं में आगे चलकर कुछ शिथिलता आने लगी। आचार-विचार में बढ़ती हुई शिथिलता के कारण श्रावकों में उसकी तीखी प्रतिक्रिया होने लगी तथा भिक्षुओं के प्रति श्रावकों की श्रद्धा भी डगमगाने लगी थी। यह सब देखकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में ही दीक्षित आचार्य ''भिक्षु'' (जन्म 1783 कंटालियां, जोधपुर) ने वि.सं. 1817 चैत्र शुक्ल नवमीं के दिन अपने पृथक् संघ की स्थापना कर ली। ऐसा कहा जाता है कि इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु और तेरह श्रावक थे। इसी संख्या के आधार पर इस सम्प्रदाय का नाम तेरा पन्थ रख दिया गया। कुछ लोग तेरा पन्थ से यह आशय भी निकालते हैं कि भगवान् यह तुम्हारा ही मार्ग है जिस पर हम चल रहे हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय की तरह इस सम्प्रदाय में भी 32 आगमों को ही प्रामाणिक माना जाता है। इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य होता है और उसी का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है।

इस प्रकार मूर्तिपूजक-मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी और तेरापन्थ नामक तीन सम्प्रदायों में विभक्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय भारत के विभिन्न भागों में फैला हुआ है। गुजरात, राजस्थान एवं पंजाब में इनकी विशेष संख्या है। फिर भी दिगम्बर जैनों की अपेक्षा इनकी संख्या आधी से भी कम है।

जैन धर्म एवं उसके विभिन्न संघो/सम्प्रदायों का यह संक्षिप्त इतिहास है। इनकी विस्तृत जानकारी एवं उत्तरकालीन इतिहास के लिए देखें- 'भारतीय इतिहास एक दृष्टि'

तत्त्व एवं द्रव्य

- तत्त्व स्वरूप
- द्रव्य विवेचन
- जीव और उसकी विविध अवस्थाएँ
- अजीव तत्त्व
- कर्मबन्ध की प्रक्रिया (आस्रव-बन्ध)
- कर्म और उसके भेद-प्रभेद
- कर्मों की विविध अवस्थाएँ
- कर्म मुक्ति के उपाय- संवर-निर्जरा
- मोक्ष आत्मा की परम अवस्था
- मोक्ष के साधन
- आत्मविकास के क्रमोन्नत सोपान

तत्त्व स्वरूप

- दार्शनिक जिज्ञासा
- तात्त्विक समाधान
- तत्त्व के भेद
- तत्त्व का अर्थ

तत्त्व स्वरूप

दार्शनिक जिज्ञासा

मनुष्य के जीवन में जैसे-जैसे समझ विकसित होती जाती है, वह जगत् और जीवन के प्रति जिज्ञासु होता जाता है। उसके मन में तत्सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाएँ उभरने लगती हैं यथा-

1. यह जो दृश्य जगत् है, वस्तुतः क्या है?
2. जीवन में प्रतिक्षण अनुभूत होने वाले सुख-दुःख आदि का कारण क्या है?
3. क्या कोई ऐसी भी गति या स्थिति है जो समस्त दुःखों से परिमुक्त हो?
4. यदि वह स्थिति है तो उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है?

ये कुछ ऐसी जटिल जिज्ञासाएँ हैं, जो प्रत्येक तत्त्व जिज्ञासु के मन में उत्पन्न हुआ करती हैं। इनके समाधान में वह यथासम्भव अपनी बुद्धि और युक्ति का प्रयोग भी करता है, किन्तु वह ज्यों-ज्यों तर्क की गहराइयों में प्रवेश करता है, त्यों-त्यों उतना ही उलझता जाता है। वह ऐसी किसी स्थिति तक नहीं पहुँच पाता, जहाँ उसे इसका समुचित समाधान मिल सके।

तात्विक समाधान

जैन-दर्शन में उक्त जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए कहा गया है कि यह दृश्य जगत् जड़ और चेतन पदार्थों के संयोग का ही परिणाम है। समस्त चेतन पदार्थ जीव हैं, उसके अतिरिक्त दृश्य जड़-जगत् का समग्र विस्तार अजीव है।

जीव अपने शुभाशुभ भावों के कारण ही सुख-दुःख का अनुभव करता है। आस्रव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है तथा वे ही जीव से बन्धकर सुख-दुःख उत्पन्न करते हैं। हमारे समस्त दुःखों का कारण कोई अन्य शक्ति न होकर यह आस्रव और बन्ध ही है।

क्या ऐसी कोई गति या स्थिति है जो सुख-दुःख से परिमुक्त है? जैन दर्शन में इसका समाधान स्वीकारोक्ति में देते हुए कहा गया है कि हाँ वैसी स्थिति/गति भी है। वह है ''मोक्ष'' जो समस्त सुख-दुःख से परे परम आनन्द की अवस्था है। जो व्यक्ति दुःख की निवृत्ति और सुख प्राप्ति का उद्देश्य रखता है उसे मोक्ष को ही अपना ध्येय बनाना चाहिए।

चौथे प्रश्न का समाधान जैन दर्शन में विस्तार से दिया गया है। इस प्रश्न का समाधान देते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि आस्रव और बन्ध के कारण सुख-दुःख होते हैं। उनका अभाव संवर और निर्जरा से सम्भव है। संवर द्वारा कर्मों का आगमन रुकता है तथा निर्जरा से संचित कर्म विनष्ट होते हैं।

इस प्रकार उक्त सात बातों के माध्यम से जैनाचार्यों ने मनुष्य के मन में उठने वाली सभी तात्त्विक जिज्ञासाओं का समाधान किया है और इसीलिए सत्यान्वेषक मुमुक्षु जनों के लिए उसका अध्ययन/अवलोकन आवश्यक हो जाता है। मोक्ष मार्ग में रत साधक को इन सात बातों का ध्यान/श्रद्धान रखना अनिवार्य है। इसके बिना वह यथार्थ साधना नहीं कर सकता। इसके लिए रोगी का उदाहरण दिया गया है।

जैसे कोई व्यक्ति रोगी है तो उसे रोग और रोग के कारणों पर विचार करने के साथ-साथ रोग के उपचार और उसके साधनों को अपनाना भी अनिवार्य है। कोई भी रोगी तभी रोग से मुक्त हो सकता है, जबकि उसे इन बातों का ध्यान रहे कि- 1. मैं स्वभावतः निरोगी हूँ, 2. वर्तमान में रोगी हूँ, 3. रोग का कारण क्या है? 4. रोग बढ़ता कैसे है? 5. रोग से बचने के उपाय क्या हैं? 6. रोग का इलाज क्या है? तथा 7. आरोग्य का स्वरूप क्या है? इन बातों पर विचार करने पर ही वह आरोग्य का अनुभव कर सकता है। यदि व्यक्ति अपने रोग का उपचार करता रहे, पर उसे यही पता न हो कि उसका रोग क्या है? उसका स्वरूप कैसा है? वह क्यों बढ़ता है? और कैसे घटता है? यदि कुछ नहीं जानता हो तो वह अपना रोग कभी भी मिटा नहीं सकता।

तत्त्व के भेद

जिस प्रकार रोग से मुक्ति के लिए रोग और रोग के कारण पर विचार करना आवश्यक है, उसी प्रकार दुःखों से मुक्ति के लिए भी दुःख और उसके कारणों पर विचार करना अनिवार्य है। यह बताते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि यह जानना बड़ा

जरूरी है- 1. दुःख किसे मिल रहा है? 2. दुःख किससे मिल रहा है? 3. दुःख का कारण क्या है? 4. दुःख बढ़ता कैसे है? 5. दुःख को रोका कैसे जाये? 6. दुःख दूर कैसे हो? तथा 7. दुःख से मुक्त अवस्था कैसी है? इन्हें ही जैन-दर्शन में तत्त्व कहा गया है। वे हैं- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

इनमें ''जीव'' चेतन पदार्थ है। वह ''अजीव'' जड़ पुद्गलों के संसर्ग से संसार में दुःखी हो रहा है। ''आस्रव'' वह दरवाजा है जिससे जड़ कर्म आत्मा में प्रवेश करते हैं। जीव और कर्म का एकमेक हो जाना ''बन्ध'' है। समस्त दुःखों का मूल कारण आस्रव और बन्ध ही है। आस्रव को रोकने का नाम ''संवर'' है। कर्मों के झड़ने को ''निर्जरा'' कहते हैं तथा सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है। यह जीव की स्वाभाविक अवस्था है।[1]

इन सात तत्त्वों में जीव और अजीव का मेल ही यह संसार है। आस्रव और बन्ध संसार के कारण हैं। मोक्ष संसारातीत अवस्था है। संवर और निर्जरा उसके साधन हैं।

तत्त्व का अर्थ

ये सात बातें ऐसी हैं जिनकी श्रद्धा और ज्ञान होने पर ही हमारा कल्याण सम्भव है। इसलिए इन्हें तत्त्व कहा गया है तथा इनके श्रद्धान् को सम्यक्दर्शन। तत्त्व का अर्थ है सारभूत पदार्थ। यह 'तत्+त्व' इन दो शब्दों के मेल से बना है। ''तत्'' का अर्थ है ''वह'' और ''त्व'' का अर्थ है ''पना''। अर्थात् वस्तु का वस्तुपना ही उसका तत्त्व है।[2] जैसे अग्नि का अग्नित्व, स्वर्ण का स्वर्णत्व, मनुष्य का मनुष्यत्व आदि। ''तत्त्व'' शब्द बहुत व्यापक है। यह अपनी समस्त जाति में अनुगत रहता है। जैसे स्वर्णत्व, समस्त स्वर्ण जाति में व्याप्त है। वह एक है भले ही स्वर्ण अलग-अलग हो। उसी प्रकार सभी जीवों का जीवत्व एक है भले ही जीव अनेक हैं। अजीवों का अजीवत्व एक है। इसी प्रकार आस्रवत्व आदि भी एक-एक ही हैं।

जैन-दर्शन का सार उक्त सात तत्त्वों में अन्तर्निहित है। जैन-दर्शन में अन्य बातों का ज्ञान भले ही हो या न हो, किन्तु उक्त सात तत्त्वों का ज्ञान/श्रद्धान अनिवार्य बताया गया है। इनके अभाव में भले ही सम्पूर्ण वाङ्मय का ज्ञान क्यों न हो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

1. सर्वा. सि., पृ. 11
2. तस्य भावः तत्त्वम्। सर्वा. सि. पृ. 6

द्रव्य-विवेचन

- द्रव्य का स्वरूप
- नित्यानित्यामकता
- गुण और पर्याय
- पर्याय के भेद

द्रव्य-विवेचन

द्रव्य का स्वरूप

जैन दर्शन में पदार्थ को सत् कहा गया है। सत् द्रव्य का लक्षण है।[1] यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है।[2] जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। सारा विश्व परिवर्तन की धारा में बहा जा रहा है। जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती है, सब कुछ बदल रहा है। वह देखो! सामने पेड़ खड़ा है, उसमें कोपलें फूट रही हैं, पत्तियाँ बढ़ रही हैं, वे झड़ रही हैं, प्रतिक्षण वह अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर नित नवीन रूप धर रहा है। बालक युवा हो रहा है, युवा वृद्ध हो रहा है, वृद्ध मर रहा है। सर्वत्र परिवर्तन ही परिर्वतन है। चाहे जड़ हो या चेतन, सभी इस परिवर्तन की धारा में बहे जा रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ विश्व के रंगमच पर प्रतिक्षण नया रूप धर कर आ रहे हैं। वह अपनी पुरानी अवस्था को छोड़ता है, नये को ओढ़ता है। पुराने का विनाश और नये का उत्पत्ति ही इस परिवर्तन का आधार है। कच्चे आम का पक जाना ही तो आम का परिवर्तन है। बालक का युवा, युवा का वृद्ध हो जाना ही तो मनुष्य का परिवर्तन है। पुरानी अवस्था के विनाश को व्यय कहते हैं तथा नयी अवस्था की उत्पत्ति को उत्पाद।[3] नये की उत्पत्ति और पुराने के विनाश के बाद भी द्रव्य अपनी मौलिकता को नहीं खोता। कच्चा आम बदलकर भले ही पक जाये पर वह अपने आमपने को नहीं खोता। बालक भले ही वृद्ध हो जाये पर मनुष्यता नहीं बदलती। इस मौलिक स्थिति का नाम ध्रौव्य है[4], जो प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के बाद भी पदार्थ में समरूपता बनाये रखता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। जगत् का कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नहीं है।

---

1. सद्द्रव्य लक्षणं तत्त्वार्थ सूत्र 5/29
2. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् त. सू. 5/30
3. सर्वार्थसिद्धिः पृ.229
4. ध्रौव्यमवस्थितिः प्र.सा.ता.वृ.95

पुरानी अवस्था का विनाश और नये की उत्पत्ति दोनों साथ-साथ होती हैं, प्रकाश के आते ही अन्धकार तिरोहित हो जाता है। इनमें कोई समय भेद नहीं है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है, यह बात अलग है कि सूक्ष्म होने के कारण वह हमारी पकड़ के बाहर है। बालक, यौवन और प्रौढ़ अवस्थाओं से गुजरकर ही वृद्ध हो पाता है। ऐसा नहीं है कि कोई साठ-सत्तर वर्ष की अवस्था में एकाएक वृद्ध हो गया, वह तो साठ-सत्तर वर्ष तक निरन्तर वृद्ध हुआ है; वृद्ध होने की यात्रा प्रतिक्षण हुई है। यदि एक क्षण भी वह रुक जाये तो वह वृद्ध हो ही नहीं सकता।

नित्यानित्यात्मकता

प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के कारण द्रव्य अनित्य है तथा परिवर्तित होते रहने के बाद भी वह अपने मूल में अपरिवर्तित है, अतः द्रव्य नित्य भी है। इसलिए जैन-दर्शन में द्रव्य को नित्यानित्यात्मक कहा गया है।[1] यदि द्रव्य सर्वथा नित्य होता तो जगत् के सारे पदार्थ कूटस्थ हो जाते। न तो नदियाँ बह पातीं, न ही पेड़ों के पत्ते हिल पाते। बालक, बालक ही रहता, वह युवा न हो पाता, युवा युवा ही रहता, वह वृद्ध नहीं हो पाता; वृद्ध-वृद्ध ही रहता, वह मर न पाता। जो जैसा है, वह वैसा ही रहता। यदि पदार्थ अनित्य ही होता तो प्रतिक्षण बदलाव होते रहने के कारण हम एक-दूसरे को पहचान ही नहीं पाते। प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन की इस दौड़ में किसी का किसी से परिचय ही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में न तो हमें कोई स्मृति होती, न ही होते हमारे कोई सम्बन्ध, जबकि ऐसा है ही नहीं, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष और अनुभव के विपरीत है। अतः जैन-दर्शन में पदार्थ को नित्यानित्यात्मक कहा गया है।

नित्यानित्यात्मक होने के कारण द्रव्य को गुण-पर्याय वाला कहा गया है।[2] गुण पदार्थ का नित्य अंश है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता।[3] उसकी अवस्थाएँ/पर्यायें बदलती रहती हैं। पदार्थ अनेक गुणों का समूह है। उनमें होने वाला परिवर्तन ही पर्याय है।[4] प्रत्येक गुण द्रव्य के आश्रित रहता है, किन्तु स्वयं अन्य गुणों से हीन/रहित होता है।[5] इसलिए यह गुण होकर भी निर्गुण कहलाता है। गुण पदार्थ में सर्वत्र रहते हैं। ऐसा नहीं है कि वह पदार्थ के किसी एक अंश में रहता

---

1. सर्वार्थ सिद्धि, पृ. 232
2. गुणपर्ययवद् द्रव्यम्, त.सू. 5/38
3. का. अनु. गा. 241
4. गुणविकाराः पर्यायाः आलापपद्धतिः पृ. 134
5. द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः, त.सू. 5/41

हो; वह तो तिल में तेल की तरह पूरे पदार्थ में व्याप्त होकर रहता है। सर्वत्र होने के साथ-साथ यह सर्वदा पाया जाता है, इसलिए इसे नित्य कहते हैं। पर्यायें क्षणक्षयी होती हैं, प्रतिक्षण मिटते रहने के कारण ये (पर्यायें)अनित्य कहलाती हैं।

समझने के लिए, आम एक पदार्थ है। स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप इसके गुण हैं। इन गुणों का समूह ही आम है। यदि इन्हें पृथक् कर लिया जाये तो आम नाम का कोई पदार्थ ही नहीं बचता, किन्तु इन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता। ये द्रव्य के अनन्य अंग हैं। द्रव्य से इनका नित्य सम्बन्ध रहता है। आम का स्वाद, रंग, गन्ध और स्पर्श रूप गुण आम के रग-रग में समाये हैं। इनके अतिरिक्त आम नाम का कोई पदार्थ ही नहीं बचता। अतः वस्तु गुणों का समूह रूप है। इन गुणों में परिवर्तन होता रहता है। आम खट्टे से मीठा, मीठे से कड़वा, कड़वे से कसैला हो सकता है, उसका हरा रंग बदलकर पीला या काला हो सकता है, वह कठोर से मृदु अथवा पिलपिले स्पर्श वाला हो सकता है, सुगन्धित से वह दुर्गन्धित भी हो सकता है। ये सब पूर्वोक्त चार गुणों की अवस्थाएँ हैं, किन्तु गुणों में परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता। उसका रंग बदलकर रस नहीं होता, रस बदलकर रंग नहीं बन सकता। उसी तरह गन्ध और स्पर्श भी अपने मूल रूप में नहीं बदलते। गुण त्रैकालिक होते हैं। यही गुणों की नित्यता है।[1] पर्यायों में परिवर्तन होते रहने के कारण उन्हें अनित्य कहते हैं।[2]

इस प्रकार गुण भी सत्, द्रव्य की तरह नित्यानित्यात्मक है। चूँकि सत् नित्यानित्यात्मक है, इसलिए उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला कहा गया है। गुण नित्य है, पर्याय अनित्य है, इसलिए द्रव्य को गुण पर्याय वाला भी कहते हैं। इन तीनों लक्षणों में ऐक्य है, इसलिए आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने द्रव्य का लक्षण तीनों प्रकार से किया है-

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वय धुवत्त संजुत्तं।
गुण पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हु॥ पंचास्तिकाय 10

अर्थात्-भगवान् जिनेन्द्र द्रव्य का लक्षण सत् कहते हैं; वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है; अथवा जो गुण और पर्यायों का आश्रय है, वह द्रव्य है।

1. सहभुवो हि गुणाः ध.पृः 174
2. क्रमवर्तिनः पर्यायाः आलापपद्धति पृ. 140

आचार्य श्री समन्तभद्र ने एक उदाहरण से द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता की सुन्दर प्रस्तुति की है-

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्व्ययम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥ आ.मी. 59

एक राजा है जिसकी एक पुत्री है और एक पुत्र। उसके पास सोने का कलश है, पुत्री उसे चाहती है। पुत्र उसे गलवाकर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की भावना को पूर्ण करने के लिए कलश को गलवाकर मुकुट बनवा देता है। घट के नाश से पुत्री दुःखी होती है, पुत्र आनन्दित होता है। राजा स्वर्ण का स्वामी है, घट के टूटने और मुकुट के बनने दोनों में उसका स्वर्ण सुरक्षित है, इसलिए यह मध्यस्थ रहता है। अतः वस्तु त्रयात्मक है।

जैन-दर्शन मान्य पदार्थ की नित्यानित्यात्मकता को पातञ्जलि ने भी स्वीकार किया है, वे लिखते हैं- ''द्रव्यं नित्यं आकृतिरनित्या। सुवर्णं कयाचित् आकृत्या युक्तो पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमर्द्य रुचकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्ण-पिण्डः पुनरपरा च आकृत्या युक्तः खदिरांगार सदृशे कुण्डले भवतः। आकृति अन्या-च अन्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।''[1]

अर्थात्- द्रव्य नित्य है और आकार यानि पर्याय अनित्य है। सवुर्ण किसी एक विशिष्ट आकार से पिण्ड रूप होता है। पिण्ड रूप का विनाश करके उसकी माला बनाई जाती है। माला का विनाश करके उसके कड़े बनाये जाते हैं। कड़ों को तोड़कर उससे स्वस्तिक बनाये जाते हैं। स्वस्तिक को गलाकर फिर स्वर्ण पिण्ड हो जाता है। उसके अमुक आकार का विनाश करके खदिरांगार के सदृश दो कुण्डल बना लिये जाते हैं। इस प्रकार आकार बदलता रहता है, परन्तु द्रव्य वही रहता है। आकार के नष्ट होने पर भी द्रव्य शेष रहता ही है।

पातञ्जलि के उपर्युक्त कथन से जैनदर्शन मान्य द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता का पूर्ण रूप से पोषण होता है। नित्यानित्यात्मक होने से उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप वस्तु को ''मीमांसक दर्शन'' के प्रवर्त्तक ''कुमारिल भट्ट'' ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने तो ''आचार्य समन्तभद्र'' कृत उदाहरण को

1. पातञ्जल महाभाष्य 1/1/1

भी अपनाया है। वे वस्तु को त्रयात्मक मानते हुए कहते हैं-

वर्धमारक भंगे य रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥ 21॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्॥ 22॥
न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम्।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्य नित्यता॥23[1]

अर्थात्-सुवर्ण के प्याले को तोड़कर जब माला बनाई जाती है, तब प्याले के इच्छुक मनुष्य को दुःख होता है, माला इच्छुक मनुष्य आनन्दित होता है, किन्तु स्वर्ण के इच्छुक मनुष्य को न हर्ष होता है और न शोक। अतः वस्तु त्रयात्मक है। यदि पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न होते , तो तीन व्यक्तियों के तीन प्रकार के भाव नहीं होते, क्योंकि प्याले के नाश से प्याले के इच्छुक व्यक्ति को शोक नहीं होता। माला के उत्पाद बिना माला के इच्छुक व्यक्ति को सुख नहीं होता तथा स्वर्ण का इच्छुक मनुष्य प्याले के विनाश और माला के उत्पाद में माध्यस्थ नहीं रह सकता। अतः वस्तु सामान्य से नित्य है और विशेष से अनित्य।

यद्यपि द्रव्य को गुण-पर्याय वाला कहा गया है तथा उनके परस्पर भेद भी बताये गये हैं, किन्तु ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं, इनमें कोई सत्तागत भेद नहीं है, अपितु तीनों एक रस रूप हैं, एक सत्तात्मक हैं। पर्याय से रहित गुण और द्रव्य तथा द्रव्य और गुण से रहित कोई पर्याय नहीं होती। तीनों की संयुति ही द्रव्य है। जैसे स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुण तथा कड़ा, कुण्डलादि आकृतियों से रहित नहीं मिलता, वैसे ही पदार्थ जब भी मिलता है वह अपने गुण और पर्यायों के साथ ही मिलता है। इसलिए पर्याय को द्रव्य और गुण से अपृथक् कहा गया है।

पज्जयविजुदं दव्वं दव्व विजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्ण भूदं भावं समणा परुवेंति॥ 12 पं.का.॥

अर्थात् पर्याय से रहित कोई द्रव्य नहीं तथा द्रव्य से रहित कोई पर्याय नहीं है; दोनों अनन्य भूत हैं, ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। वस्तुतः पदार्थ गुण और पर्यायों का अपृथक् गुच्छ है।

---
1. मी. श्लोक. वा. पृ. 610

गुण और पर्याय

गुण पदार्थ में रहने वाले उस अंग का नाम है, जो उसमें सर्वदा रहता है तथा सर्वांश में व्याप्त रहने के कारण सर्वत्र भी रहता है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में दिये गये आम में रहने वाले उसके स्पर्श आदि गुण उसमें सदा रहते हैं तथा वे सर्वांश में व्याप्त हैं। गुणों में होने वाले परविर्तन को पर्याय कहते हैं। गुण पदार्थ में सदा रहते हैं, इसलिए इन्हें सहभावी या सहवर्ती भी कहते हैं तथा पर्याय क्षणक्षयी होती है, ये तात्कालिक ही होती है, एक काल में एक ही होती हैं। इस वजह से क्रम में आने के कारण इन्हें क्रमवर्ती या क्रम भावी भी कहते हैं। गुण त्रैकालिक होते हैं, पर्यायें तात्कालिक होती हैं। गुण और पर्याय में इतना ही अन्तर है।

पर्याय के भेद

पर्यायें दो प्रकार की होती हैं- द्रव्य-पर्याय और गुण-पर्याय अथवा व्यञ्जन-पर्याय और अर्थ-पर्याय।[1] दोनों शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की होती हैं। एक गुण की एक समयवर्ती पर्याय को गुण-पर्याय कहते हैं तथा अनेक गुणों के एक समयवर्ती पर्यायों के समूह को द्रव्य पर्याय कहते हैं।[2] जैसे आम का खट्टापन और मीठापन गुण पर्याय हैं, क्योंकि इसमें एक गुण की मुख्यता है तथा आम का कच्चापन और पक्कापन या आम का छोटा बड़ा होना द्रव्य पर्याय हैं, क्योंकि ये आम के सभी गुणों के सामुदायिक परिणमन का फल है। अथवा द्रव्य के आकार या संस्थान सम्बन्धी पर्याय को द्रव्य पर्याय तथा उससे अतिरिक्त अन्य गुणों के पर्याय को गुण पर्याय कहते हैं। द्रव्य और गुण पर्याय का यह भी लक्षण पाया जाता है।[3]

गुण-पर्याय उस गुण की एक समय की अभिव्यक्ति है। और गुण उसकी त्रिकालगत अभिव्यक्तियों का समूह है। उसी प्रकार त्रिकालवर्ती समस्त गुणों का समूह द्रव्य है और उन सकल गुणों के एक समय के पृथक्-पृथक् पर्यायों के समूह का नाम द्रव्य-पर्याय है। गुण-पर्याय तथा गुण और द्रव्य-पर्याय तथा द्रव्य में यही अन्तर है।

---

1. पं.का.ता. वृ. 16
2. नय दर्पण- 85
3. नय दर्पण - 85

अर्थ पर्याय व व्यञ्जन-पर्याय का लक्षण भिन्न प्रकार से भी किया गया है। द्रव्य में होने वाले प्रतिक्षणवर्ती परिवर्तन को अर्थ पर्याय तथा इन परिवर्तन के फलस्वरूप दिखनेवाले स्थूल परिवर्तन को व्यञ्जन-पर्याय कहते हैं।[1] प्रत्येक स्थूल परिणमन किन्हीं सूक्ष्म परिणमनों का ही फल है जो कि सत्तर वर्षीय वृद्ध के उदाहरण से स्पष्ट है। दोनों प्रकार की पर्यायें शुद्ध अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की होती हैं। उसमें शुद्ध द्रव्य की दोनों पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा अशुद्ध द्रव्य की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध ही होती हैं। मुक्त जीव तथा पुद्‌गल के शुद्ध परमाणु की दोनों ही पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा संसारी जीव और पुद्‌गल स्कंधों की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध। यही पर्यायों का संक्षिप्त परिचय है।

1. (अ) प्रतिसमय परिणतिरूपा अर्थपर्यायाः भण्यन्ते प्र.सा.ज.वृ. 1/80
   (ब) स्थूला कालान्तरस्थायी सामान्यज्ञान-गोचराः।
   दृष्टि ग्राह्यस्तु पर्यायो भवेद् व्यञ्जन-संज्ञकः॥ भाव-संग्रह 377

जीव और उसकी विविध अवस्थाएँ

- जीव
- जीव का अस्तित्व
- आत्मा के बारे में वैज्ञानिकों के विचार
- जीव का स्वरूप
- आत्मा सर्वव्यापक नहीं
- आत्मा अनेक हैं वह ब्रह्म का अंश नहीं

जीव की विविध अवस्थाएँ

- जीव के भेद
- जीव के शरीर
- देहान्तर गमन की प्रक्रिया
- शरीर–निर्माण का क्रम
- जन्म

जीव और उसकी विविध अवस्थाएँ

जीव

सात तत्त्वों में ''जीव तत्त्व'' सबसे प्रधान तत्त्व है। चेतना इसका मुख्य लक्षण है। समस्त सुख-दुःख की प्रतीति इस चेतना से ही होती है। इसी चेतना के आधार पर समस्त जड़ द्रव्यों से इसकी अलग पहचान होती है। इसीलिए चेतना को इसका लक्षण कहा गया है।[1] जीव की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि जो द्रव्य प्राण और भाव प्राणों से जीता है, जी चुका है तथा जिएगा- वह जीव है।[2] प्राण का अर्थ है जीवनी-शक्ति। जिस शक्ति के आधार पर जीव जीता है उसे प्राण कहते हैं। संसारी जीव शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु रूप चार प्राणों के आधार पर जीते हैं तथा मुक्तात्माओं में एक मात्र चेतना रूप भाव प्राण होता है। प्राणों के आधार पर जीने के कारण जीव को ''प्राणी'' भी कहते हैं। नर-नारकादि विभिन्न पर्यायों में ''अतति गच्छति'' अर्थात् निरन्तर गमन करते रहने से इसे आत्मा भी कहते हैं। जन्तु, पुरुष, ज्ञानी आदि अन्य नाम भी जीव के पाये जाते हैं।[3]

जीव का अस्तित्व

प्रायः समस्त आत्मवादी दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु चार्वाक जैसे भौतिकवादी दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि जीव नामक कोई पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होने से नहीं है, जैसे गधे का सींग। यदि जीव होता तो उसे दिखना चाहिए था। जीव में जो चेतना दिखाई देती है, वह पञ्चभूतों के संयोग से उत्पन्न हुई शक्ति मात्र है, जो जीव की मृत्यु होते ही समाप्त हो जाती है।

---

1. चेतना लक्षणो जीवः सर्वार्थसिद्धिः पृ.11
2. प्र. सा. मू. 147
3. महापुराण 24/103-108

जैन दार्शनिकों का कहना है कि ''मैं दुःखी हूँ, सुखी हूँ'', आदि की जो प्रतीति होती है, वह इस चेतना का ही परिणाम है। यदि चेतना नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तो मृतक का शरीर पञ्चभूतों से युक्त रहते हुए भी चेतना-शून्य क्यों रहता है? इसी चेतना रूप लक्षण के दृष्टिगोचर होने पर कई बार मृत घोषित जीव को चिता से भी लौटते देखा गया है। इसी प्रकार आए दिन समाचार-पत्रों में छापने वाली पूर्व-जन्म विषयक घटनाएँ भी जीव के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं।

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि चेतना, जीव का लक्षण न होकर शरीर का लक्षण है, लेकिन यह ठीक नहीं है। यदि चेतना शरीर का लक्षण है तो शरीर को सदा चेतन रहना चाहिए, क्योंकि लक्षण त्रैकालिक होता है, लेकिन देखा जाता है कि मृतक का शरीर चेतना रहित हो जाता है। अतः चेतना शरीर का लक्षण नहीं हो सकता। दूसरी बात, यदि चेतना शरीर का लक्षण है तो बड़े और स्थूल शरीरों में चेतना अधिक होनी चाहिए तथा दुबले-पतले शरीर में चेतना की मात्रा भी अल्प होनी चाहिए तथा उसमें ज्ञान भी अल्प होना चाहिए, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। प्रायः देखा जाता है कि पहलवानी शरीर धारी भी अल्पज्ञानी होता है तथा दुबले-पतले शरीर धारण करने वाले साधु-सन्तों और विद्वानों में अधिक ज्ञान पाया जाता है। इसी तरह हाथी, ऊँट, घोड़ा, बैल आदि पशुओं की अपेक्षा मनुष्य का शरीर छोटा होने पर भी उनकी अपेक्षा मनुष्य में ज्ञान अधिक होता है। अतः चेतना को शरीर का लक्षण नहीं माना जा सकता। यह तो शरीर से भिन्न जीव अथवा आत्मा का लक्षण है।

दूसरी बात यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पञ्चभूत तो जड़ हैं। चैतन्य रहित होने से इनसे जीव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि कहा जाए कि महुआ, गुड़, पानी आदि में मद्य-शक्ति, दिखाई नहीं पड़ती, किन्तु परस्पर संयोगों को प्राप्त होने पर उनमें मद्य शक्ति उत्पन्न होती है तथा कुछ काल तक रहने पर विनाश की सामग्री प्राप्त होने पर विनष्ट हो जाती है। उसी प्रकार भूतों के संयोग से उत्पन्न चेतना भी कारण सामग्री प्राप्त होने पर विनष्ट हो जाती है। यह उदाहरण भी अनुपयुक्त है, क्योंकि महुआ (धाव के फूल) गुड़ आदि पदार्थों में संयोग से पूर्व भी मादक शक्ति पाई जाती है। संयोग से तो केवल उनकी शक्ति का उद्दीपन होता है। इस प्रकार क्या तथाकथित भूतों में

चेतना का अस्तित्व विद्यमान है? यदि है तो जड़वाद की कोई स्थिति ही नहीं रहती। फिर तो चेतना शाश्वत हो गई। जहाँ भूत है, वहाँ चेतना है। यदि चेतना सांयोगिक ही है तो मद्य शक्ति का उदाहरण अवास्तविक है, क्योंकि मद्य के उपादान में मादकता प्रत्यक्ष है, किन्तु भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) में चैतन्य नहीं।

इसके बावजूद यदि कुछ क्षण के लिए मान लें कि पञ्चभूतों के संयोजन से चैतन्य उत्पन्न होता है, तो उसका समीकरण क्या है? क्या उस समीकरण के आधार पर आज तक किसी ने चैतन्य की उत्पत्ति करके बताई है? यदि किसी ने नहीं बताई तो पञ्चभूतों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है, यह बात ही आधारहीन होने से अप्रामाणिक सिद्ध होती है।

आधुनिक वैज्ञानिक सब वस्तुओं की उत्पत्ति मात्र जड़ पदार्थों से मानते हैं। वे अपने विरोधी समागम अथवा गुणात्मक परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर कहते हैं कि सब पदार्थों की तरह चैतन्य भी पदार्थों के संयोग से ही बना है, परन्तु वे भी इसका अभी तक कोई समीकरण नहीं खोज सके हैं। यदि वैसा कोई समीकरण वैज्ञानिकों की दृष्टि में हो तो भी वे आज तक चैतन्य की उत्पत्ति करके नहीं बता सके हैं। चैतन्य का निर्माण तो दूर, जीवित आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि शारीरिक अवयवों के निर्माण में भी अभी तक वे सफल नहीं हो सकें हैं। उनके द्वारा बनाई हुई सब वस्तुएँ जड़ ही दिखाई पड़ती हैं और वे जीवित वस्तुओं से स्पष्ट रूप से भिन्न प्रतीत होती हैं। इसी तरह मृत्यु के उपरान्त शरीर निश्चेष्ट एवं विशीर्ण क्यों हो जाता है तथा जन्म के साथ जीव में चेतना कहाँ से आती है? यह बात भी अभी तक वैज्ञानिकों के लिए पहेली बनी हुई है।

आत्मा के बारे में वैज्ञानिकों के विचार

प्रकृति और चेतना के इसी रहस्य को न समझ पाने के कारण वैज्ञानिकों का गर्व भी चूर-चूर हो गया है। उन्हें अपनी अल्पज्ञता सामने दिखने लगी है। उन्हें भी किसी विराट् ज्ञाता का ख्याल आने लगा है। 'अलबर्ट आइन्सटाइन' के शब्दों में- 'हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं, पूर्ण सत्य को कोई सर्वज्ञ ही जान सकता है।[1]

1. We can only Know the relative truth, but absolute truth is known only to the universal observer. जैन दर्शन और विज्ञान उद्धृत पृ. 99-100

यही कारण है कि भले ही आधुनिक विज्ञान आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करे, किन्तु अभी वे एकदम से उसे अस्वीकार करने की स्थिति में भी नहीं हैं। अब तो वैज्ञानिकों को भी ऐसा प्रतीत होने लगा है कि यह विश्व एक जड़ यन्त्र मात्र नहीं है। उसमें चेतना स्फुरित होती है। "The Great Design" नामक पुस्तक में अनेक वैज्ञानिकों ने इस विषय में अपनी सामूहिक राय भी जारी की है। चेतना के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए 'अलबर्ट आइन्सटाइन' कहते हैं[1]-

1. मैं जानता हूँ कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।''[1]

2. कुछ अज्ञात शक्ति काम कर रही है, हम नहीं जानते वह क्या है? मैं चैतन्य को मुख्य मानता हूँ, भौतिक पदार्थ को गौण। पुराना नास्तिकवाद अब चला गया है। धर्म, आत्मा और मन का विषय है। वह किसी भी प्रकार से हिलाया नहीं जा सकता।[2] - **सर.ए.एस.एडिंग्टन**

3. आजकल सामञ्जस्य का विस्तृत मानदण्ड प्रस्तुत हुआ है कि ज्ञान की सरिता अयान्त्रिक वास्तविकता की ओर बह निकलती है। अब विश्व यन्त्र की अपेक्षा विचार के अधिक समीप लगता है। मन ऐसी चीज नहीं लगती जो दुनिया में कहीं अकस्मात् टपक पड़ी हो।[3] **-सर जेम्स जीन्स**

4. सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्त्व जड़ (Matter) बल (Force) या भौतिक पदार्थ (Physical Things) नहीं है, किन्तु मन और चेतना ही है।[4]

-जे.वी.एस.हेल्डन

5. एक निर्णय यह बताता है कि मृत्यु के बाद आत्मा की सम्भावना है। ज्योति काष्ठ से भिन्न है। काष्ठ तो थोड़ी देर उसे प्रकट करने में ईंधन का काम करता है।''[5] **-आर्थर एच. काम्पटन**

---

1. I believe that intelligence is manifested throuhout all nature.
2. Something 'unknown is doing we do not know, what regard consciousness as fundamental. I regard matter as derivative from consciousness. ...The old atheism is gone. Religion belongs to the realm of the spirit and mind and cannot be Shaken.
3. Today there is a wide measure of agreement, that the stream of knowledge is heading toward a non-mechanical reality. The universe begins to look more like s great thought than like great machine. Mind no longer appears as an accidental intrudes into the realm of matter.
4. The truth is that, not matter, not force, not any physical thing, but mind, personality is the central fact of the universe.
5. A conclusion which suggests....the possibility of consciousness after death.... the flame is distinct from the log of wood which acts temporarity as fuel.

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान से उद्धृत, पृष्ठ सं. 99-100

6. ''वह समय आएगा जब विज्ञान द्वारा अज्ञात विषय का अन्वेषण होगा। विश्व जैसा कि हम सोचते थे उससे भी कहीं अधिक उसका आध्यात्मिक अस्तित्व है। वास्तविकता तो यह है हम उक्त आध्यात्मिक जगत् के मध्य में हैं जो भौतिक जगत् से ऊपर है।''[1] **- सर ऑलीवर लॉज**

7. जैसे मनुष्य दो दिन के बीच की रात्रि में स्वपन देखता है वैसे ही मनुष्य की आत्मा मृत्यु और पुर्नजन्म के बीच विहार करती है।[2]

- सर ऑलीवर लॉज

जीव का स्वरूप

यद्यपि जीव के अस्तित्व को सभी आत्मवादी दर्शन स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सबकी पृथक्-पृथक् अवधारणाएँ हैं। सभी दर्शन जीव की किसी एक विशेषता को ग्रहण कर उसे ही उसका स्वरूप मान बैठने की भूल में हैं। जैन दर्शन में जीव का सर्वांगीण स्वरूप मिलता है। जैन-दर्शन में जीव का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि-

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्सोढ्ढ गई ॥[3]

अर्थात् जीव उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेह परिमाण वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है तथा स्वभाविक ऊर्ध्वगति वाला है।

उपयोगमयी है- चैतन्यानुविधायी आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। अर्थात् जो परिणाम आत्मा के चैतन्य गुण का अनुसरण करते हैं वह उपयोग है।[4] उपयोग रूप चेतना जीव का लक्षण है।[5] जैन शास्त्रों में उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि 'उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं प्रति व्यापर्यते जीवोऽनेनेति उपयोगः[6]' अर्थात् जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद/परिज्ञान/बोध के लिए व्यापार करता है वह उपयोग है। उपयोग दो प्रकार का होता है- 1. दर्शनोपयोग 2. ज्ञानोपयोग।[7]

---

1. The Time will assuredly come when these avenues into unknown region will be explored by science. The universe is a more spiritual entity than we thought. The real fact is that we are in the midst of a spiritual world which dominates the material.
2. The soul of man passes between death and rebirth in this world as he passes through dream in the night between day and day.

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान से उद्धृत, पृष्ठ सं. 99-100

3. द्रव्य संग्रह गाथा, 2
4. सवार्थ सिद्धि 2/8 पृ. 117
5. त. सू. 48
6. जैन लक्षणावली 1/276
7. द्रव्य. संग्रह. गा. 4

1. दर्शन उपयोग– यह निराकार उपयोग है।[1] इसमें पदार्थों का सामान्य प्रतिभास मात्र होता है। जब चेतना की शक्ति किसी वस्तु–विशेष के प्रति विशेष रूप से उपयुक्त न होकर मात्र सामान्य रूप से उसे ग्रहण करती है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।[2] अर्थात् इस परिणति में विषय–विषयी का सम्पर्क मात्र होता है।

2. ज्ञान उपयोग– यह साकार उपयोग है।[3] चेतना की शक्ति जिस समय ज्ञानाकार न रहकर ज्ञेयाकार रूप हो जाती है, उस समय शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि विशेष रूपों का ग्रहण होने लगता है। तब सामान्य मात्र न होकर विशेष रूप से ज्ञेय का प्रतिबोध होने लगता है, इसे ज्ञानोपयोग कहते हैं।

ज्ञानोपयोग और दर्शनापयोग में यह अन्तर है कि ज्ञान साकार है, दर्शन–निराकार। ज्ञान सविकल्पक है, दर्शन निर्विकल्पक। साकार या सविकल्प का अर्थ है किसी भी पदार्थ का रंग, रूप, आकार, प्रकार सहित विशेष ग्रहण होना। ज्ञान प्रतिबिम्ब की तरह पदार्थों का विशेष ग्रहण करता है, जबकि दर्शन रंग–रूप, आकार–प्रकार से रहित परछाई की तरह मात्र सामान्य प्रतिभास कराता है। उपयोग की सर्वप्रथम भूमिका दर्शन है, जिसमें केवल सामान्य सत्ता का भान होता है। इसके पीछे क्रमशः उपयोग विशेषग्राही होता जाता है। यह ज्ञानोपयोग है। इसलिए दर्शन निराकार और निर्विकल्पक है। दर्शन के पहले ज्ञान को इसीलिए ग्रहण किया जाता है, क्योंकि निर्णयात्मक होने के कारण ज्ञान अधिक महत्त्व रखता है। वैसे उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान का स्थान बाद में है दर्शन का पहले।[4]

ज्ञानोपयोग के दो भेद हैं– स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।[5] स्वभाव–ज्ञान पूर्ण होता है। उसे किसी भी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती। सीधा आत्मा से होने वाला पूर्ण ज्ञान स्वभाव ज्ञान है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष और साक्षात् है। इसी ज्ञान को जैन–दर्शन में केवलज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान अकेला और असहाय होता है। अतः केवलज्ञान कहलाता है। इसमें जगत् के सारे पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। इसलिए भी इसे केवलज्ञान कहते हैं। कर्म सापेक्ष ज्ञान विभाव ज्ञान कहलाता है। समस्त संसारी जीवों का ज्ञान विभाव ज्ञान है।

---

1. अनाकार दर्शनम् सर्वा.सि. 118
2. द्र.सं.गा. 43
3. सागारोणाणोवजोगो ध.पू. 11/334 सर्वा. सि. 118
4. दंसण पुव्वं णाणं द्र.स. 43 यह कथन छद्मस्थों की अपेक्षा है।
5. णाणुव जोगो दुविहां सहावणाणं विहाव णाणंति–नि.सा.म्.10

विभाव ज्ञान के पुनः दो भेद होते हैं- सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान।

सम्यक् दर्शन से युक्त ज्ञान सम्यक्ज्ञान है तथा मिथ्यादर्शन संयुक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान या विपरीत ज्ञान कहलाता है।

सम्यक्ज्ञान चार प्रकार का होता है- मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान।[1]

मति ज्ञान- इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला जीव और अजीव विषयक ज्ञान मति ज्ञान है।

श्रुत ज्ञान- मति ज्ञान के उपरान्त जो चिन्तन, मनन द्वारा विशेष ज्ञान होता है उसे 'श्रुत ज्ञान' कहते हैं।

अवधि ज्ञान- इन्द्रिय और मन आदि की सहायता के बिना जो ज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, वह अवधि ज्ञान है। यह ज्ञान एक निश्चित अवधि/सीमा तक ही होता है, इसलिए अवधि ज्ञान कहलाता है।

मनःपर्यय ज्ञान- अवधिज्ञान की तरह बिना किसी बाह्य आलम्बन के दूसरे के मन में रहने वाले रूपी-पदार्थों को जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान है।

मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का होता है-

1. **मति अज्ञान** - मिथ्यादर्शन से संयुक्त मति ज्ञान ही मति अज्ञान है।

2. **श्रुत अज्ञान** - मिथ्यादर्शन से संयुक्त श्रुतज्ञान ही श्रुत अज्ञान है।

3. **विभंग ज्ञान** - मिथ्यादर्शन से संयुक्त अवधि ज्ञान ही विभंग ज्ञान[2] है।

ज्ञान के मिथ्यापन और सम्यक्पन का आधार विषय न होकर उसका स्वामी है। जो ज्ञाता मिथ्या श्रद्धा वाला होता है उसका सम्पूर्ण ज्ञान मिथ्या होता है तथा जिस ज्ञाता की श्रद्धा सम्यक् होती है उसका ज्ञान भी सम्यक् होता है। सम्यक् और मिथ्यात्व का आधार श्रद्धा है बाह्य पदार्थ नहीं।

इस प्रकार ज्ञानोपयोग के कुल आठ भेद हो जाते हैं। इनमें से मति और श्रुत को परोक्ष तथा शेष तीन को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है।[3] इन पाँच ज्ञान में प्रथम

---

1. नियमसार- 11.12
2. (अ) पं.का.अमृ.वृ.41 (ब) धवला 1/358
3. द्रव्य-संग्रह गां. 5

तीन ज्ञान विपर्यय भी होते हैं। इस प्रकार दो परोक्ष, तीन प्रत्यक्ष और तीन विपरीत मिलाकर ज्ञानोपयोग के कुल आठ भेद हुए।

दर्शनोपयोग- ज्ञानोपयोग की तरह दर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है- स्वभाव दर्शन और विभाव दर्शन। "स्वभाव दर्शन" आत्मा का स्वाभाविक उपयोग है। स्वभाव ज्ञान की तरह यह भी प्रत्यक्ष व पूर्ण होता है। इसे केवल दर्शन कहते हैं। विभाव दर्शन तीन प्रकार का होता है- चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, और अवधि दर्शन।[1]

चक्षु-दर्शन- चक्षु इन्द्रिय से होने वाला निराकार और निर्विकल्पक बोध चक्षु दर्शन है। चक्षु इन्द्रिय की प्रधानता होने के कारण चक्षु-दर्शन नामक स्वतन्त्र भेद है।

अचक्षु-दर्शन- चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों तथा मन से होने वाला जो दर्शन है, वह अचक्षु-दर्शन है।

अवधि-दर्शन- अवधि ज्ञान से पूर्व होने वाला जो दर्शन है, वह अवधि-दर्शन है।

दर्शनोपयोग सामान्य मात्र को ग्रहण करता है। इसलिए वह सम्यक् और मिथ्या नहीं हो सकता। सविकल्प ज्ञानोपयोग में ही सम्यक् व मिथ्यात्व होता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, क्योंकि वह मतिज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थ को ही विशेष रूप से जानता है। अतः अलग से श्रुतदर्शन नहीं होता। मनःपर्यय ज्ञान मनोनिमित्तक होने के कारण पृथक् रूप से मनःपर्यय दर्शन भी नहीं होता। छद्मस्थ जीवों को दर्शन और ज्ञान क्रमशः होता है तथा केवलज्ञानी को ज्ञान और दर्शन युगपत् एक साथ होता है।

उपर्युक्त चार प्रकार का दर्शन और आठ प्रकार का ज्ञान जीव का सामान्य लक्षण है। यह उसका व्यावहारिक स्वरूप है। शुद्ध स्वरूप में तो वह केवल दर्शन और केवल ज्ञानमय है।[2]

सांख्य तथा नैयायिक आत्मा को उपयोग (ज्ञान) रहित मानते हैं। नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह बाहर से आता है।[3] इस पर

1. नि.सा.मू.13-14
2. द्र.सं.गा 6
3. द्र.सं.टी.गा. 2

जैन दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा हमेशा ज्ञानवान् ही बना रहता है। ज्ञान और दर्शन जीव का स्वभाव है। कोई भी जीव उसके बिना नहीं रह सकता। जो जीव है, वह ज्ञानवान् है। तथा जो ज्ञानवान् है वह जीव है। जैसे अग्नि अपने उष्ण गुण को छोड़कर नहीं रह सकती, वैसे ही जीव अपने ज्ञान गुण से पृथक् नहीं रह पाता। एक इन्द्रिय आदि वनस्पति से लेकर मुक्तात्माओं तक यह ज्ञान हीनाधिक रूप से पाया जाता है। ज्ञान का पूर्ण विकसित रूप सिद्धात्माओं में पाया जाता है। यदि हम ज्ञान को आगन्तुक मानते हैं तो फिर सभी पदार्थों में इस आगन्तुक ज्ञान के संयोग से चेतनत्व मानना चाहिए।

''यहाँ पर ज्ञातव्य है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं- स्वाभाविक और वैभाविक। स्वभाविक रूप में पर-निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि वैभाविक रूप में पर-निमित्त की अनिवार्यतः अपेक्षा बनी रहती है। स्वाभाविक रूप के लिए परमार्थ, निश्चय, वास्तविक आदि नाम दिये जाते हैं तथा वैभाविक रूप को अपरमार्थ, व्यवहार, अशुद्ध आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। आत्मा का वर्णन भी इन्हीं दोनों दृष्टियों से जैनागमों में किया गया है।''

अमूर्त- अमूर्तिक विशेषण से कुमारिल भट्ट के मत का परिहार किया गया है, जो आत्मा को मूर्तिक मानते हैं। उसी तरह चार्वाक भी जीव को मूर्तिक पिण्ड मानते हैं।[1] शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में पुद्ग्ल के गुण, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं होते, इसलिए वह अमूर्तिक है, पर संसार अवस्था में वह अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण रूपादिवान् होकर मूर्तिक होता है। यह मूर्तत्व गुण पुद्ग्ल कर्म के निमित्त से उपजा चेतना का विकार है और विकार स्थायी नहीं होता, अतः वह अशुद्ध है। इस प्रकार निश्चय से जीव को अमूर्त मानकर भी व्यवहार से जीव को मूर्तिक माना गया है।[2] वह जीव की अशुद्धि का प्रतीक है।

कर्त्ता- सांख्य दर्शन जीव को कर्त्ता नहीं मानता।[3] उसकी दृष्टि में प्रकृति ही सारे कार्य करती है। वही सुख-दुःख आदि का कर्त्ता है। पुरुष (आत्मा) तो साक्षी मात्र है। जैन दर्शन का कहना है कि जीव अपने शुभाशुभ परिणामों का कर्त्ता है। वह निश्चयनय से अपने भावों का तथा व्यवहारनय से पुद्ग्ल कर्मों का कर्त्ता है। कर्त्ता कोई और हो तथा भोक्ता कोई और, ऐसा हो ही नहीं सकता। जब पुरुष

1. द्र.सं.टी.2 2. द्र.सं.गा.7 3. द्र.सं.टीका गा.8

सर्वथा निष्क्रिय कूटस्थ और शुद्ध है तो फिर मोक्ष की कल्पना ही व्यर्थ है, क्योंकि मोक्ष तो बन्धन के नाश का नाम है। यदि बन्धन ही नहीं है तो मोक्ष कैसा?[1]

भोक्ता - जिस तरह आत्मा कर्त्ता है, उसी तरह वह अपने परिणामों का भोक्ता भी है। जो कैसा करता है वो वैसा पाता है; ''जैसी करनी वैसी भरनी'', इस लोक-प्रसिद्ध न्याय के अनुरूप जैन-दर्शन में व्यवहारनय से जीव को पुद्गल कर्मों के फल रूप अपने सुख-दुःखों का भोक्ता कहा गया है तथा निश्चयनय से अपने चैतन्यात्मक आनन्द स्वरूप का भोक्ता कहा गया है। यदि आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता न हो तो सुख-दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है, अतः वह आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के ऐक्य को स्वीकार नहीं करता है। यदि जीव को अपने कर्मों का भोक्ता न माना जाये तथा कर्म करने वाले को उसका फल न मिलकर किसी अन्य को मिलने लगे तो फिर पाप-पुण्य की कोई व्यवस्था ही नहीं रहेंगी।[2]

शरीर परिमाणत्व- आत्मा के आकार के सम्बन्ध में भी विभिन्न दर्शनकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ दार्शनिक आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं तथा कुछ दर्शन ऐसे भी हैं जो आत्मा को अंगुष्ठ मात्र अथवा अणु प्रमाण मानते हैं।[3] जैनदर्शन के अनुसार जीव का कर्मों के निमित्त से छोटा-बड़ा जैसा भी शरीर मिलता है उस शरीर के आकार वाला आत्मा होता है। इसीलिए जैनदर्शन में जीव को '**अणु गुरु देहपमाणो**' कहा गया है।[4] जीव छोटे-बड़े आकार वाला कैसे हो जाता है? इस बात का समाधान जैन-दर्शन में उसके संकोच-विस्तार रूप शक्ति को स्वीकार कर दिया गया है।[5] जिस प्रकार दीपक का प्रकाश छोटे स्थान पर संकुचित हो जाता है तथा विस्तृत स्थान मिलने पर फैल जाता है, उसी प्रकार जीव भी चींटी जैसा सूक्ष्म शरीर मिलने पर संकुचित हो जाता है तथा हाथी जैसा विशाल शरीर मिलने पर विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार, प्रदेशों में संकोच-विस्तार होते रहने पर भी उसके लोक-प्रमाण आत्म-प्रदेशों की संख्या में कोई हानि/वृद्धि नहीं होती।

---

1. द्र.स.टी.गा.9
2. द्र.सं.गा.9
3. (अ) भारतीय दर्शन भाग. 2 पृ. 692 डॉ. राधाकृष्ण्न् (ब) कठोपनिषद् 4/13
4. द्र.सं.गा. 10
5. प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत् त.सू. 5/16
6. गीता 2/20

आत्मा सर्वव्यापक नहीं- न्याय, वैशेषिक, मीमांसक आदि दार्शनिक आत्मा का अनेकत्व स्वीकारते हुए भी उसे आकाश की तरह सर्वव्यापक मानते हैं। गीता में भी आत्मा को व्यापक प्रतिपादित किया गया है, किन्तु आत्मा को सर्वव्यापक मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वह हमारे अनुभव और प्रतीति के विपरीत है। हमारी प्रतीति हमें यह बताती है कि जितने परिमाण में हमारा शरीर है उतने ही परिमाण में हमारी आत्मा है। शरीर के बाहर आत्मा का अस्तित्व रह कैसे सकता है? जहाँ पर जिस वस्तु के गुण उपलब्ध होंगे, वह वस्तु वहीं पर रहेगी। कुंभ वहीं रहता है, जहाँ उसके रूपादि गुण उपलब्ध होते हैं। उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व भी वहीं मानना चाहिए जहाँ उसके ज्ञान, स्मृति आदि गुण उपलब्ध हों। अतः आत्मा को सर्वव्यापक नहीं माना जा सकता, क्योंकि शरीर के बाहर वैसा कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ता।

यदि जीव व्यापक है तो जैसे जीव को अपने शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव होता है, वैसे ही पराए जीव के शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिए- किन्तु यह बात स्पष्ट है कि पराए शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव जीव को नहीं होता। अतः जीव को अपने शरीर प्रमाण ही मानना चाहिए।[1]

आत्मा को अणु प्रमाण या अंगुष्ठ मात्र मानने पर भी जितने प्रदेशों में आत्मा रहता है, उससे बाहर के प्रदेशों का अनुभव भिन्न जीवों की तरह नहीं हो सकने का प्रसंग प्राप्त होता है, जबकि देखा जाता है कि जीव अपने शरीर के प्रत्येक प्रदेश में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव करता है। अतः आत्मा को शरीर प्रमाण स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है।

उपनिषदों में भी आत्मा के देह प्रमाण होने का उल्लेख मिलता है।[2] कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है कि ''जैसे छुरा अपने म्यान में और अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है, वैसे ही आत्मा नख से शिखा तक व्याप्त है। तैत्तरीय उपनिषद् में आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय बताया गया है, जो कि जीव को देह प्रमाण मानने पर ही सम्भव है।[3]

---

1. का.अनु.गा.177
2. अ.मुण्डक उपनिषद् 1/1/6 ब. छान्दोग्य उपनिषद् 3/14/3
3. तर्कभाषा पृ. 153

आत्माएँ अनेक हैं, वह ब्रह्म का अंश नहीं- अद्वैत वेदान्ती आत्मा को एक ही आध्यात्मिक तत्त्व (ब्रह्म) मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' बताते हुए जगत् के सर्वजीवों को उसका ही अंश मानते हैं।

जैन दार्शनिक, वेदान्तियों के उक्त मत से सहमत नहीं हैं। जैनदर्शन के अनुसार एकात्मवाद की कल्पना युक्ति रहित है। यदि सम्पूर्ण लोक में एक ही आत्मा है तो सभी जीवों का स्वभाव समान रहना चाहिए, सभी जीवों की प्रवृत्ति समान होनी चाहिए तथा सभी जीवों के सुख-दुःख के अनुभव की मात्रा भी समान ही होनी चाहिए, जबकि ऐसा देखा/पाया नहीं जाता। सभी जीवों का स्वभाव और प्रवृत्तियाँ समान नहीं हैं तथा सब जीवों के सुख-दुःख का अनुभव भी समान नहीं होता। अतः आत्मा एक नहीं, बल्कि अनेक हैं। 'विश्व तत्त्व प्रकाश' में कहा गया है कि यदि आत्मा एक होती तो एक ही समय में यह तत्त्वज्ञ है तथा मिथ्याज्ञानी है, यह आसक्त है, यह विरक्त है, इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध व्यवहार नहीं पाये जाते। अतः आत्मा एक नहीं है।[1]

यदि एक ही आत्मा मानी जाये तो एक व्यक्ति के द्वारा देखे गये तथा अनुभूत किये पदार्थों का वेदन, स्मरण दूसरे व्यक्ति को भी होना चाहिए, क्योंकि दोनों की आत्मा एक है, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः सिद्ध है कि आत्मा अनेक हैं।[2] एक आत्मा मानने से एक के जन्म से सबका जन्म तथा एक के मरण से सबका मरण मानना पड़ेगा। इसी तरह एक के दुःखी होने से सबको दुःखी तथा एक के सुखी होने से सबके सुखी होने का प्रसंग प्राप्त होता है, लेकिन इस प्रकार की अवस्था देखने में नहीं आती, अर्थात् सभी के सुख-दुःख, जीवन-मरण अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं। अतः सिद्ध है कि आत्मा अनेक हैं एक नहीं।[3]

सांख्य दर्शन में भी आत्मा के अनेकत्व को स्वीकारते हुए एकात्मवाद का खण्डन किया गया है। आत्मा की अनेकता को सिद्ध करते हुए सांख्यकारिका में कहा गया है कि ''प्रत्येक पुरुष के जन्म-मरण एक ही तरह न होकर विभिन्न होते हैं। एक का जन्म होता है, दूसरे का मरण होता है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक के उत्पन्न होने से सबकी उत्पत्ति तथा एक का मरण होने से सबका मरण मानना पड़ता, जो कि असंगत है। अतः सिद्ध है कि आत्मा अनेक हैं। इसी प्रकार

1. विश्व तत्त्व प्रकाश (भावसेन) पृ. 174 2. विश्व तत्त्व प्रकाश (भावसेन) पृ. 124
3. सर्वेषामेक मेवात्मा युज्यते नेति जल्पितुमाजन्म मृत्यु सुखादीन् भिन्नानामुपलब्धितः- विश्व तत्त्व प्रकाश

प्रत्येक पुरुष की इन्द्रियाँ और प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं जो कि जीव की अनेकता सिद्ध करती हैं। विभिन्न पुरुषों में सत्व, रज और तम गुणों की न्यूनाधिकता या जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष और मोह की तरतमता भी आत्मा की पृथक्ता, अनेकता और स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध करती है।''[1]

सांख्यों की तरह न्याय, वैशेषिक और मीमांसक भी आत्मा के अनेकत्व को स्वीकार करते हैं।

संसारी है- सदाशिव मत के अनुसार ''जीव सदाशिव स्वरूप है।''[2] वह कभी भी संसारी नहीं होता। हमेशा शुद्ध बना रहता है। कर्मों का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। कर्म उसके हैं ही नहीं। जन्म-मरण केवल इन्द्रजाल और माया है। जैन-दर्शन का इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहना है कि जीव पहले संसारी रहता है तदनन्तर मुक्तावस्था को प्राप्त करता है। अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण संसारी जीव अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के बल से कर्मों को नष्टकर शुद्ध होता है। यदि जीव पहले संसारी नहीं होता तो उसकी मुक्ति के उपाय का अन्वेषण भी व्यर्थ है। जैन-दर्शन का यह भी कहना है कि जीव को सांसारिक कहना व्यावहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से सभी जीव शुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं, क्योंकि संसारी होते हुए भी उनमें सदाशिव होने की शक्ति विद्यमान रहती है और शुद्ध नय उसी त्रिकालिक शक्ति को पहिचानता है।[3]

जीव मुक्त है- जैनदर्शन के अनुसार जब तक यह जीव राग-द्वेष, मोह आदि विषय विकारों से ग्रसित रहता है, तब तक वह संसारी रहता है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन्हें नष्ट कर वह शुद्ध हो जाता है। मुक्त होते ही वह अशरीरी, आठ कर्मों से रहित, अनन्त सुख से युक्त परम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

मीमांसक मुक्ति को स्वीकार नहीं करते।[4] उनके अनुसार आत्मा सदा संसारी ही रहता है। उसकी मुक्ति होती ही नहीं है। उनका कहना है कि मुक्ति नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। इस पर जैनदर्शन का कहना है कि यदि मुक्ति नहीं है तो त्याग, तपस्या और वैराग्य की क्या आवश्यकता है? मुक्ति के अभाव में तो फिर संसार का भी अभाव प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि संसार और मुक्ति तो सापेक्ष हैं। अतः जीव के संसारी और मुक्त दोनों विशेषण तर्क-संगत हैं।

---

1. सांख्यकारिका 19, सांख्या सूत्र 1/149, अमितगति श्रावकाचार 4/20
2. द्र.सं.टी.गा.2 3. द्र.सं.गा. 13 4. द्र.सं.टी.गा. 2

ऊर्ध्वगति स्वभावी- मांडलिक मत में जीव को निरन्तर गतिशील बताया गया है।[1] उनकी मान्यता है कि जीव सतत गतिशील रहता है। वह कभी नहीं ठहरता, चलता ही रहता है। जैनदर्शन में जीव को ऊर्ध्वगति स्वभावी कहा गया है। जैसे दीपक की निर्वात-शिखा स्वभाव से ही ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही शुद्ध दशा में जीव भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले होते हैं। वायु से प्रकम्पित दीपक की लौ की तरह अशुद्ध दशा में जीव कर्मों से प्रेरित होकर चार गतियों में इधर-उधर भ्रमण करते हैं, किन्तु शुद्ध दशा में अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा लोक के अग्रभाग में स्थिर हो जाते हैं। उसके आगे नहीं जाते, क्योंकि उसके आगे गति में निमित्त धर्म द्रव्य का अभाव है।[2] इस प्रकार जैन-दर्शन में जीव को ऊर्ध्वगमन स्वभावी मानते हुए भी उसे निरन्तर गतिशील नहीं माना गया है।

इसी प्रकार अपने शुभाशुभ भावों के आधार पर स्वयं अपना उत्थान और पतन करने वाला होने से जीव को प्रभु भी कहा गया है, क्योंकि जीव अपना विनाश और विकास करने में स्वतन्त्र है। वह किसी अन्य शक्ति के आधीन नहीं है। जीव अपनी सद्-प्रवृत्ति से अपनी आत्मा का परम विकास कर सकता है तो अपनी असद् प्रवृत्ति के कारण उसकी आत्मा का पतन भी सम्भव है। वह अपना मालिक स्वयं है। दूसरे शब्दों में कहें कि वह स्वयं अपने विकास और विनाश का उत्तरदायी है। अतः जीव को प्रभु कहना सार्थक है।

इसी प्रकार जीवन के किसी आदि बिन्दु के न होने से जीव को अनादि तथा बार-बार जन्म-मरण होते रहने के बाद भी आत्मा का समूलोच्छेद नहीं होने से उसे अनिधन कहा गया है। जीव को अनिधन कहने का आशय यह है कि वह कभी मरता नहीं है, अर्थात् अमर है। ''अमुक जीव मर गया'' ऐसा जो कहा जाता है वह औपचारिक है। यहाँ मर जाने का अर्थ इतना ही है कि उसने जिस देह को धारण किया था, उसका वियोग हो गया। जैसे एक व्यक्ति पुराने वस्त्र उतारकर नये वस्त्र धारण करता है, उसी तरह जीव भी उपार्जित आयु के पूर्ण होने पर वर्तमान देह को छोड़कर नवीन देह धारण करता है। तात्पर्य यह है कि हम जिसे मरण कहते हैं वह जीव के लिए देह-परिवर्तन की क्रिया है- स्व-विनाश की क्रिया नहीं।

---

1. द्र.सं.टी.गा.2
2. धर्मास्तिकायाभावात् त.सू. 10/8

जीव की विविध अवस्थाएँ

जीव तत्त्व के दार्शनिक स्वरूप को हमने समझा। अब हम उसकी विविध अवस्थाओं के सम्बन्ध में विचार करेंगे। जीवों के भेद कितने हैं? इन्द्रियाँ कितनी हैं? उनके कार्य क्या हैं? मन क्या है? गतियाँ कितनी हैं? शरीर से जीव का सम्बन्ध कैसा है? मृत्यु के उपरान्त इस शरीर का क्या होता है? जीव एक गति से दूसरी गति में कैसे जाता है? जीव के जन्म लेने की प्रक्रिया क्या है तथा वह नवीन शरीर का निर्माण कैसे करता है? आदि अनेक जिज्ञासाएँ प्राय: लोगों के मन में उठा करती हैं। जैनदर्शन में इनका विस्तृत वर्णन है। संक्षेप में हम उनकी चर्चा करेंगे।

जीव के भेद

जीव के मुख्य रूप से दो भेद किये गये हैं- संसारी और मुक्त। संसरण को संसार कहते हैं। जो कर्मों के कारण नाना योनियों/गतियों में भ्रमण करते हैं, वे संसारी हैं। कर्मों को नष्ट करके अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर स्थिर रहने वाले शरीरातीत आत्माओं को 'मुक्त' जीव कहते हैं। संसारी जीव के त्रस और स्थावर रूप दो भेद हैं। जो जीव सुख पाने और दु:ख से निवृत्त होने के लिए एक दूसरे स्थान में गमनागमन कर सकते हैं वे त्रस हैं। जिन जीवों में दु:ख से निर्वृत्ति और सुख प्राप्ति के लिए गमनागमन की क्षमता नहीं होती, वे स्थावर कहलाते हैं। यह इनका सामान्य लक्षण है। वास्तव में तो त्रस नाम कर्म के कारण जीव त्रस तथा स्थावर नाम कर्म के उदय के कारण जीव स्थावर कहलाते हैं। स्थावर जीव के पाँच प्रकार हैं-

(1) पृथ्वी कायिक (2) जल कायिक (3)अग्नि कायिक (4) वायु कायिक (5) वनस्पति कायिक।

(1) पृथ्वी कायिक- काय का अर्थ है शरीर। पृथ्वी ही जिन जीवों का काय शरीर है वे पृथ्वी कायिक हैं। मिट्टी, रेत, हीरा, पन्ना, सोना, चाँदी, कोयला, अभ्रक आदि जितने भी खनिज पदार्थ हैं वे सब पृथ्वी कायिक जीवों के पिण्ड हैं। मिट्टी के एक छोटे से ढेले से असंख्य जीव होते हैं। ये जीव एक साथ रहने पर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखते हैं।

(2) जल कायिक- जल ही जिन जीवों का काय शरीर है वे जलकायिक जीव हैं। सब प्रकार का जल, ओले, कुहरा, ओस ये सब जल कायिक जीवों के शरीर हैं। इन जीवों के शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि हमें दिखाई नहीं देते हैं। पानी की एक बूँद असंख्य जलकायिक जीवों के शरीरों का पिण्ड है।

(3) अग्नि कायिक- अग्नि ही जिन जीवों का काय-शरीर है उन्हें अग्नि कायिक जीव कहते हैं। सभी प्रकार की अग्नि, अंगारे, ज्वाला आदि अग्निकायिक जीवों के शरीर का पिण्ड है। पानी की बूँद की भाँति अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी में भी अग्नि के असंख्य जीवों के शरीर का अस्तित्व है।

(4) वायु कायिक- वायु ही जिन जीवों का काय-शरीर है, वे वायुकायिक कहलाते हैं। संसार में जितने प्रकार की वायु है वह इसी काय में अन्तर्गर्भित है। इस काय में भी असंख्य जीव हैं जो पृथक्-पृथक् शरीरों में रहते हैं।
(5) वनस्पति कायिक- वनस्पति ही जिन जीवों का शरीर है, उन्हें वनस्पति कायिक कहते हैं। वृक्ष, लता, गुच्छ, फल-फूल, घास-पात, कंद-मूल ये सब वनस्पति कायिक जीवों के उदाहरण हैं।

यद्यपि इन जीवों में जीवत्व का प्रतिभास नहीं हो पाता, फिर भी इनमें जीवन है। अन्यथा खान में पड़े पदार्थों में वृद्धि दिखनी असम्भव थी। आधुनिक विज्ञान भी इसे स्वीकारता है।[1] जैन-दर्शन की यह विशिष्टता है कि वह पृथ्वी, जल,वायु और वनस्पति के साथ-साथ अग्नि में भी जीवत्व स्वीकार करता है, जो कि भीषण अग्नि काण्ड एवं विस्फोट के समय देखी जा सकती है। जीव की इस

1. "We find that soil is life, and that a living soil mass of micro organic existence, the earth worm, the fungi and the micro-organism.
   We learn that there is a minimum of 5-millions these derizens to the cubic inch of living soil"

- J. Sykes (The Sower, winter' 1952-53)
गिरनार गौरव से उद्धृत

शक्ति के समक्ष मनुष्य की सारी शक्तियों को हार माननी पड़ती है। जैसे मनुष्यों और पशुओं के जीवन के लिए प्राण वायु/ऑक्सीजन अनिवार्य है, वैसे ही अग्नि भी ऑक्सीजन के सहारे ही जीवित रहती है, जलती है। ऑक्सीजन रूप प्राणवायु के अभाव में अग्नि बुझ जाती है। यह उसमें जीवत्व होने का सबल प्रमाण है। भले ही आज का विज्ञान इनमें जीवत्व न मानता हो, परन्तु जिस तरह डॉ. जगदीशचन्द्र बसु के अनुसन्धान के आधार पर वनस्पति में जीवत्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार उसे आगे चलकर इन जीवों में भी जीवत्व स्वीकार करना पड़ेगा। ये पाँचों ही स्थावर हैं। इन्हें 'एकेन्द्रिय' कहते हैं।

त्रस नाम कर्म के उदय का वेदन करने वाले अथवा सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के उद्देश्य से गति करने वाले जीव त्रस कायिक कहलाते हैं। त्रस कायिक जीवों के चार भेद हैं- दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय वाले जीव। हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन्द्रियाँ क्या हैं? आत्मा संसारी दशा में जिनके द्वारा जानता है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।[1] इन्द्रियाँ ही वे खिड़की हैं जिनसे झाँककर आत्मा बाहर के पदार्थों को देख पाता है। इन्द्रिय शब्द इन्द्र से बना है। इन्द्र का अर्थ लिंग और चिह्न भी होता है। जिसके द्वारा संसारी आत्मा की पहचान हो उसे इन्द्रिय कहते हैं।[2] इन्द्रियाँ पाँच हैं- स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र या कर्ण इन्द्रिय। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण (रूप) और शब्द क्रमशः इनके विषय हैं। आँख, कान, नाक आदि जो इन्द्रियाँ हमें दिखाई पड़ती हैं वे इन्द्रियों के बाहरी रूप हैं। इन्हें द्रव्येन्द्रिय कहते हैं तथा इनके आधार पर आत्मा का जो ज्ञान रूप परिणमन होता है उन्हें भावेन्द्रिय कहते हैं।

जिसके द्वारा हल्का,भारी, रूखा, चिकना, गरम, ठण्डा, मृदु और कठोर रूप आठ प्रकार के स्पर्श का ज्ञान होता है उसे 'स्पर्शन' इन्द्रिय कहते हैं। जिन जीवों को मात्र यही एक इन्द्रिय पायी जाती है वे 'एकेन्द्रिय' कहलाते हैं, जैसे पेड़-पौधे आदि।

खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला और चरपरा रूप पाँच प्रकार के रस का ज्ञान जिस इन्द्रिय के माध्यम से होता है, वह रसना इन्द्रिय है। स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियाँ जिन जीवों के पायी जाती हैं वे दो इन्द्रिय (द्वीन्द्रिय) कहलाते हैं जैसे कृमि, शंख, कौड़ी, सीप आदि।

1. त.वा. 1/166 2. ध.पु.7/6

सुगन्ध और दुर्गन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय (नाक) से होता है। स्पर्श और रसना के साथ घ्राणेन्द्रिय भी जिनके पास पायी जाती है, उन्हें तीन इन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे- चींटी, खटमल, जूँ, कान-खजूरा आदि।

चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है, जिसके द्वारा लाल, काला, पीला, नीला, सफेद आदि विभिन्न रंगो/रूपों का अवलोकन करते हैं, वह 'चक्षु' इन्द्रिय है। स्पर्शन, रसना और घ्राण के साथ यह जिनके पास पायी जाती है वे चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं, जैसे भ्रमर, तितली, मक्खी आदि।

पाँचवीं इन्द्रिय श्रोत्र है। इसके द्वारा आत्मा सात प्रकार के शब्दों का ज्ञान प्राप्त करता है। पाँचों इन्द्रिय वाले जीव पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। मनुष्य, हाथी, घोड़ा, कबूतर आदि सब के सब पञ्चेन्द्रिय हैं।

इन्द्रियों के विकास का एक निश्चित क्रम है। बाद की इन्द्रिय होने पर, पूर्व की इन्द्रियाँ अवश्य रहती हैं। इसलिए पञ्चेन्द्रियों को सकलेन्द्रिय कहते हैं। द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव ''विकलेन्द्रिय'' कहलाते हैं, क्योंकि इनके पास पूरी इन्द्रियाँ नहीं होती हैं। विकल यानि कम इन्द्रियाँ हैं।

संज्ञी असंज्ञी की अपेक्षा भेद- पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार को होते हैं। मन सहित जीव संज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी जीव मानसिक संवेदना से युक्त होते हैं। ये अपने हित और अहित का निर्णय करने में समर्थ रहते हैं तथा शिक्षा आलाप आदि को समझकर उसके अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। असंज्ञी जीव-मन रहित होते हैं। उनमें मानसिक संवेदना नहीं रहती। एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी ही होते हैं तथा पञ्चेन्द्रियों में भी कुछ पशु-पक्षी ही असंज्ञी होते हैं। शेष सभी जीव संज्ञी कहलाते हैं।

मन- पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक छठवीं इन्द्रिय है- मन। ये पाँच इन्द्रियाँ तो बाह्य हैं, परन्तु छठवीं इन्द्रिय अन्तरङ्ग है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मन एक ऐसी इन्द्रिय है जो सभी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण कर सकता है। इसीलिए इसे सर्वार्थग्राही इन्द्रिय कहते हैं।[1] मन को अनिन्द्रिय कहा गया है, क्योंकि नाक, कान आदि की तरह इसका कोई निश्चित स्थान और विषय नहीं है। अनिन्द्रिय का अर्थ इन्द्रिय का अभाव नहीं है, अपितु ईषत् इन्द्रिय है, जैसे-अनुदरा कन्या कहने का अर्थ बिना उदर वाली कन्या नहीं होता, वरन् ऐसी कन्या होता है

1. सर्वार्थ ग्रहणं मनः प्रमाण मीमांसा 1.1. 24

जिसका उदर सानुपातिक हो, उभरा हुआ न हो। उसी प्रकार चक्षु आदि के समान प्रतिनियत स्थान और विषय नहीं होने के कारण ही मन को अनिन्द्रिय कहा गया है। अन्य इन्द्रियों की तरह बाह्य आकार से रहित होने के कारण इसे अन्तःकरण भी कहते हैं। यह सकल संकल्प विकल्पों का जाल माना गया है।

द्रव्य और भाव के भेद से मन के भी दो भेद हो जाते हैं। जैनदर्शन में द्रव्यमन को अष्ट पाँखुड़ी वाले कमल के आकार का हृदय में अवस्थित पौद्गलिक पिण्ड माना गया है। इसके ही आधार पर जीव सोच-विचार कर सकता है। विचारणात्मक मन को भाव मन कहा गया है।

गतियों की अपेक्षा जीव के भेद- गतियों की अपेक्षा जीवों के चार भेद हैं। गतियाँ चार हैं-नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति। नरक गति के जीव ''नारकी'' कहलाते हैं। वे अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाले, अत्यन्त विकराल और भयानक आकृति युक्त होते हैं। प्रायः एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। एक-दूसरे को मारने-काटने में ही ये सुख मानते हैं। नारकियों का आवास इस पृथ्वी के नीचे पाताल लोक में माना गया है। मनुष्यों के अतिरिक्त सभी स्थावर एवं त्रस जीवों की सृष्टि तिर्यञ्च कहलाती है। पशु-पक्षी तो तिर्यञ्च हैं ही, क्षुद्र कीट-पतंगे एवं पृथ्वी से वनस्पति पर्यन्त सभी स्थावर जीव भी तिर्यञ्च कहलाते हैं। मनुष्य तो हम लोग प्रत्यक्ष हैं ही। देव, नारकियों से बिल्कुल विपरीत होते हैं। अर्थात् ये अत्यन्त सौम्य स्वभाव वाले तथा सुन्दर व मनोहर आकृति वाले होते हैं। इनका जीवन सदा, विनोद और विलास में व्यतीत होता है। ये पृथ्वी से ऊपर ऊर्ध्व लोक में रहते हैं। देवों के आवास को स्वर्ग कहते हैं। मनुष्यों और तिर्यञ्चों की तरह देवों और नारकियों का शरीर चर्म और हड्डियों से युक्त नहीं होता, अपितु विशेष प्रकार का होता है। इनके शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। ये अपनी इच्छा के अनुसार अपने शरीर को छोटा, बड़ा, हल्का, भारी, एक या अनेक रूपों वाला बना सकते हैं। चार गतियों का यह संक्षिप्त परिचय है। इसकी विस्तृत जानकारी आगम ग्रन्थों से प्राप्त करनी चाहिए।

देव, मनुष्य और नारकी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी ही होते हैं। तिर्यञ्च गति में एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी ही होते हैं तथा पञ्चेन्द्रियों में कुछ पशु-पक्षी संज्ञी और कुछ असंज्ञी दोनों होते हैं। यही सकल संसारी जीवों का भेद है।

जीव के शरीर

जैन दर्शन में पाँच प्रकार के शरीर स्वीकार किये गये हैं- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण।

औदारिक : मनुष्यों और तिर्यञ्चों के दिखाई पड़ने वाले स्थूल शरीर को 'औदारिक' शरीर कहते हैं। अत्यन्त स्थूल होने के कारण यह औदारिक कहलाता है।

वैक्रियिक- शरीर को छोटा, बड़ा, एक, अनेक आदि विभिन्न रूप बनाने की शक्ति को विक्रिया कहते हैं। विक्रिया से उत्पन्न होने के कारण इसे वैक्रियिक कहते हैं। वैक्रियिक शरीरधारी प्राणी छोटा-बड़ा. सुरूप-कुरूप, एक-अनेक चाहे जैसा, चाहे जितने रूप बना सकता है। यह देवों और नारकियों के होता है तथा किन्हीं मनुष्यों और तिर्यञ्चों में भी यह सामर्थ्य हो सकती है। उसे विक्रिया लब्धि कहते हैं। यद्यपि यह स्थूलता का उल्लंघन नहीं करता फिर भी औदारिक शरीर की अपेक्षा इसे सूक्ष्म कहा गया है।

आहारक शरीर- जब किसी विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न मुनि के मन में कोई शंका या तीर्थ यात्रादिक का कोई अन्य विकल्प उत्पन्न होता है, तब वे अपनी योग शक्ति के बल पर एक विशिष्ट प्रकार के शरीर की रचना करते हैं। पुरुषाकार शुभ्र आकृति वाला यह शरीर उनके मस्तिष्क से एक हाथ के पुतले के रूप में निकलता है और अपने अभीष्ट तक पहुँचकर समाधान पाकर पुनः उन्हीं मुनि के मूल शरीर में समाहित हो जाता है। यह सारी क्रिया इतने अल्प समय में हो जाती है कि किसी दूसरे व्यक्ति को पता भी नहीं चलता। यह विरले संयमियों को ही होता है। यह शरीर वज्र-पटलादि से भी व्याघात को प्राप्त नहीं होता, इसलिए इसे अव्याघाती भी कहते हैं। औदारिक और वैक्रियिक शरीरों की अपेक्षा यह शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है।

तैजस शरीर- स्थूल शरीरों में कान्ति, ऊष्मा और प्रकाश उत्पन्न करने वाला शरीर तैजस शरीर है। यह तापमय शरीर है। हमारे पाचन, ऊष्मा, सक्रियता और शक्ति का सञ्चालक है। इसके बिना ऊष्मा उत्पन्न नहीं हो सकती। हमारे स्थूल शरीर की समस्त क्रियाओं का सञ्चालन इसी शरीर के द्वारा होता है। यह शरीर प्राणी मात्र के साथ निरन्तर रहता है। एक प्राणी मृत्यु के उपरान्त दूसरे जन्म

में जाता है उस समय/अन्तराल गति में भी तैजस शरीर उसके साथ रहता है। यह सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित होता है, इसलिए चर्म-चक्षु से दृश्य नहीं होता। यह स्वाभाविक भी होता है और तपस्या द्वारा उपलब्ध भी। स्वाभाविक तैजस शरीर सभी प्राणियों में होता है। तपस्या से उपलब्ध होने वाला शरीर किन्हीं विशिष्ट तपस्वी मुनियों को ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तपस्या द्वारा इस शरीर की क्षमता बढ़ जाती है। स्वाभाविक तैजस शरीर स्थूल शरीर से बाहर नहीं निकलता। अतः इसे अनिः सरणात्मक तैजस शरीर भी कहते हैं। तपोजनित तैजस शरीर, शरीर के बाहर भी निकलता है। अतः इसे ही निःसरणात्मक तैजस शरीर भी कहते हैं। उसमें अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है। इस अपेक्षा से इसे शुभ और अशुभ दो प्रकार का कहा गया है।

शुभ तैजस- यह प्राणियों के अनुग्रह के लिए विश्व क्षेम की भावना से अनुप्राणित महामुनियों के दाएँ कंधे से बाहर निकलता है और अपने क्षेत्र में फैले रोग, महामारी, दावानल आदि को शान्त कर फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। शुभ तैजस सौम्य आकृति और शुभ्र वर्ण का होता है।

अशुभ तैजस- प्राणियों के निग्रह के लिए निकलने वाला अशुभ तैजस सिंदूरी वर्ण और रौद्र आकृति वाला होता है। यह उग्र परिणामी मुनि के बाएँ कंधे से निकलकर अपने क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार ऐसी परिणति अधिक देर तक रहने पर प्रयोक्ता (तपस्वी) का शरीर भी भस्म हो जाता है।[1]

कार्मण शरीर- ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल समूह से निर्मित शरीर कार्मण शरीर कहलाता है। यह पूर्वोक्त औदारिक आदि चारों शरीरों का कारण है, इसलिए इसे कारण शरीर भी कहते हैं। यह सूक्ष्मतम शरीर है, इसलिए इसका प्रतिभास नहीं हो पाता, किन्तु इसके बिना औदारिककादि स्थूल शरीरों का निर्माण सम्भव नहीं। यह समस्त सुख-दुःखों का बीज है। जीव के समस्त संस्कार कार्मण शरीर से प्रेरित हैं इसे संस्कार शरीर भी कहते हैं। इसी शरीर के माध्यम से आत्मा एक जन्म स्थिति (गति) से दूसरी जन्म स्थिति में जाकर नये शरीर का निर्माण करता है।

औदारिकादि पाँचों शरीरों में औदारिक शरीर जन्म सम्बन्धी है। यह मनुष्य और तिर्यञ्चों को होता है। वैक्रियिक शरीर जन्म सम्बन्धी भी है (देवों और

1. त.वा.

नारकियों के) और लब्धिजन्य भी। आहारक शरीर योग शक्ति जन्य होता है। ये तीनों शरीर स्थूल हैं। तैजस और कार्मण शरीर सूक्ष्म शरीर है।

संसारी प्राणियों के कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर होते हैं। दो शरीरों में तैजस और कार्मण शरीर, मनुष्य तिर्यञ्चों को तैजस और कार्मण शरीर के साथ औदारिक शरीर तथा देवों और नारकियों को तैजस, कार्मण और वैक्रियक ये तीन शरीर होते हैं। ऋद्धि-सम्पन्न साधकों में औदारिक, तैजस कार्मण शरीर के साथ आहारक शरीर ये चार शरीर होते हैं। कम से कम दो तैजस और कार्मण शरीर तो संसारी आत्माओं के साथ रहते ही हें। मृत्यु के बाद भी इनका विनाश नहीं होता। जीव के साथ इनका अनादि सम्बन्ध है। इन दो शरीरों से मुक्त होते ही आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती है, फिर उन्हें संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि मात्र तैजस और कार्मण इन दो शरीरों के साथ यह जीव अधिक समय तक नहीं रहता। मात्र एक जन्म स्थान से दूसरे जन्म स्थान तक पहुँचने तक ही दो शरीर होते हैं। वहाँ पहुँचते ही तीसरे औदारिक या वैक्रियिक शरीर को धारण कर लेता है।

देहान्तर गमन की प्रक्रिया- मृत्यु के बाद जैसे हमारे कर्म संस्कार रहते है वैसी ही हमें गति मिलती है। उस समय यह स्थूल शरीर यहीं छूट जाता है। आत्मा कार्मण शरीर के सहारे ही अगली योनि तक जाता है। नवीन शरीर धारण करने के लिए होने वाली इस गति को विग्रह गति कहते हैं। जिस प्रकार हवाई जहाज अपने वायु-पथ से जाता है उसी प्रकार देहान्तर के प्रति गमन करने वाला जीव भी अपने पथ से ही जाता है। वह आड़ा, तिरछा नहीं जाता, अपितु बिल्कुल सीधा जाता है। कपड़े में रहने वाले ताना-बाना की तरह सम्पूर्ण आकाश में ऊपर-नीचे चारों दिशाओं में इसके सूक्ष्म पथ बने हुए हैं, इसे अनुश्रेणी कहते हैं। इनसे ही गुजरकर आत्मा अगली योनि तक पहुँचता है। देहान्तर-गमन की इस प्रक्रिया में उसे अधिक-से-अधिक तीन बार मुड़ना पड़ता है तथा अधिकतम चार समय में वह अपनी अगली योनि में पहुँच जाता है।

शरीर-निर्माण का क्रम- योनि स्थान में प्रवेश करते ही यह जीव वहाँ अपने शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गलों को ग्रहण/आहार कर अपने शरीर-निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ कर देता है। इस प्रक्रिया में वह सर्वप्रथम कुछ विशिष्ट प्रकार

की शक्तियाँ इन पुद्‌गलों के बल से प्राप्त करता है इन्हें पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्ति का अर्थ है जन्म के समय पुद्‌गल परमाणुओं को ग्रहण कर विशेष प्रकार की भौतिक शक्ति/सामर्थ्य की प्राप्ति। पर्याप्तियाँ छः हैं-

(1)आहार पर्याप्ति (2) शरीर पर्याप्ति (3)इन्द्रिय पर्याप्ति (4) श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति (5)भाषा पर्याप्ति (6) मनः पर्याप्ति। इन शक्तियों की पूर्णता में उसे ज्यादा समय नहीं लगता, अपितु अन्तर्मुहूर्त (कुछ मिनिट) में वह उपर्युक्त छहों शक्तियाँ अर्जित कर लेता है। इनका प्रारम्भ तो वह एक साथ करता है, किन्तु पूर्णता क्रमशः होती है, जोकि अन्तर्मुहूर्त के भीतर हो जाती है। पर्याप्तियों को पूरी करने पर वह अपने शरीर के निर्माण में समर्थ हो जाता है।

जिन जीवों की पर्याप्तियाँ पूरी हो जाती हैं, वे पर्याप्तक कहलाते हैं, तथा कुछ ऐसे भी जीव हैं जो शरीर-निर्माण की क्रिया प्रारम्भ तो करते हैं, किन्तु वे पर्याप्ति रूप शक्तियों को पूर्ण नहीं कर पाने के कारण अपने शरीर को विकसित नहीं कर पाते, उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं। इन पर्याप्तियों के बल से ही जीव जीवन-पर्यंत आहारादि वर्गणाओं को ग्रहण कर उनका उपयोग करने में समर्थ हो पाता है। प्रति समय आने वाले पुद्‌गल परमाणुओं को वह इसी के द्वारा आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि रूप परिणमाता है।

जन्म

जैनधर्म में दो प्रकार का जन्म माना गया है- पहला एक गति से दूसरी गति में जाने पर उत्पत्ति का जो प्रथम समय है, वह जन्म है तथा दूसरा जन्म योनि-निष्क्रमण रूप/जब जीव गर्भ से निकलता है तब। योनि-निष्क्रमण रूप जन्म के तीन भेद हैं- उपपाद, गर्भ और सम्मूर्च्छन।

उपपाद - जिस जन्म में उत्पन्न होते ही शरीर पूर्ण रूप से विकसित हो जाये उसे उपपाद जन्म कहते हैं। देवों और नारकियों का जन्म इसी रीति से होता है, इसलिए इन्हें औपपादिक भी कहते हैं। वे उत्पन्न होने के कुछ ही क्षणों में (अन्तर्मुहूर्त) अपने शरीर का निर्माण कर लेते हैं। उनकी अवस्था सोलह वर्षीय किशोर की तरह होती है।

गर्भ - स्त्री-पुरुष के रज और वीर्य के संयोग से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है- जरायुज, अंडज और पोत।

जरायुज - जन्म के समय जिनके शरीर पर जाल की तरह का झिल्लीनुमा एक विशेष प्रकार का आवरण रहता है, उन्हें जरायुज कहते हैं। मनुष्य, गाय आदि पशु ये सब जरायुज ही हैं, क्योंकि इनका जन्म इसी तरह होता है।

अंडज - अंडों से उत्पन्न होने वाले जीवों को अंडज कहते हैं।

पोत - जो जीव जन्म के समय खुले अंग वाले हाते हैं, जन्म के तत्काल बाद चलने-फिरने लगते हैं वे पोत/पोतज कहलाते हैं। इनके शरीर पर जाल की तरह का कोई आवरण नहीं रहता है। हिरण, कंगारू, सिंह, खरगोश, चूहा आदि इसी तरह जन्म धारण करते हैं।

इन तीनों प्रकार के जन्मों में रज और वीर्य के संयोग की अनिवार्यता है। उसके बिना इनकी उत्पत्ति नहीं होती। आज जो टेस्ट-ट्यूब बेबी कहलाती है वह भी इसी जन्म के अन्तर्गत ही आती है। अन्तर मात्र इतना ही कि इसमें कृत्रिम तरीके से पोषण किया जाता है।

सम्मूर्च्छन - जो जीव स्त्री और पुरुष अथवा नर और मादा के संयोग के बिना ही वातावरण में बिखरे हुए परमाणुओं और विशिष्ट प्रकार के पर्यावरण के योग से उत्पन्न होते हैं, वे सम्मूर्च्छन कहलाते हैं। सभी प्रकार के पेड़-पौधे, शेष एकेन्द्रिय तथा द्विइन्द्रियादि कीड़े-मकोड़े इसी जन्म वाले होते हैं। चींटियों के जो अंडे देखे जाते हैं वे भी सम्मूर्च्छन हैं, क्योंकि वे रज-वीर्य के संयोग से उत्पन्न नहीं होते।

कुछ पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्य भी सम्मूर्च्छन होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य नाममात्र के मनुष्य होते हैं। उनमें मनुष्यता जैसा कुछ भी नहीं होता । न तो वे मनुष्य की आकृति के होते हैं, न ही गर्भस्थ मनुष्यों की तरह दृश्य होते हैं। मानव शरीर से विसर्जित मलमूत्रादि चौदह स्थानों में उनकी उत्पत्ति होती है। उनका आकार अत्यन्त सूक्ष्म (अंगुल के असंख्यावें भाग) होता है। वे सभी पञ्चेन्द्रिय होते हैं। अत्यन्त अल्पायुष्क होने के कारण सम्मूर्च्छन मनुष्य अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं। वस्तुतः मनुष्य गति से युक्त होने के कारण ही वे मनुष्य कहलाते हैं, पर वहाँ मनुष्यों जैसा कुछ भी नहीं होता।

अजीव तत्त्व

- पुद्गल द्रव्य
- परमाणु
- स्कंध
- स्कंधों के भेद
- स्कंधोत्पत्ति का कारण
- तत्त्व मूलतः एक ही है
- पुद्गल की पर्याय
- धर्म द्रव्य
- अधर्म द्रव्य
- आकाश द्रव्य
- काल द्रव्य
- काल चक्र
- पञ्चास्तिकाय

अजीव तत्त्व

पुद्‌गल द्रव्य

यह एक अचेतन और मूर्त द्रव्य है। अन्य दर्शनों में यह भूत तथा आधुनिक विज्ञान में इसे मैटर अथवा एनर्जी के नाम से जाना जाता है। 'पुद्‌गल' शब्द बहुत अर्थपूर्ण है, यह जैनदर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह 'पुद्' और 'गल' के योग से बना है। 'पुद्' का अर्थ होता है- पूर्ण होना, मिलना/जुड़ना; 'गल' का अर्थ होता है- गलना/हटना/टूटना। पुद्‌गल परमाणु स्कन्ध अवस्था में परस्पर मिलकर अलग-अलग होते रहते हैं तथा अलग-अलग होकर मिलते-जुड़ते रहते हैं। इनमें टूट-फूट होती रहती है। इस टूटने और जुड़ने को विज्ञान की भाषा में फ्यूजन एण्ड फिजन कह सकते हैं। छह द्रव्यों में एक पुद्‌गल में ही संश्लिष्ट और विश्लिष्ट होने की क्षमता है अन्य पाँच द्रव्यों में नहीं। जो द्रव्य निरन्तर मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे वह पुद्‌गल है। पूरण-गलन स्वभावी होने से इसकी 'पुद्‌गल' यह सार्थक संज्ञा है।[1]

जगत् में जो कुछ भी हमारे छूने, चखने, देखने या सूँघने में आता है वह सब यह पौद्गलिक पिण्ड ही है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इसके विशेष गुण हैं,[2] इसलिए इसे रूपी या मूर्तिक कहा जाता है, रूपित्व इसका लक्षण है। जगत् में ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों गुण न पाये जाते हों। छह द्रव्यों में यही एकमात्र रूपी द्रव्य है,[3] शेष पाँच अरूपी हैं। यह मूलतः परमाणु रूप है। अन्य परमाणुओं से संयुक्त हो जाने के कारण यह स्कन्ध बन जाता है।

---

1. त.वा.5/1/24, पृ. 211
2. स्पर्श-रस-गंध-वर्णवन्तः पुद्गला; 5/23
3. रूपिणः पुद्गलाः, त.सू. 5/5

परमाणु

पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है। यह पुद्गल की स्वाभाविक अवस्था है। तथा यह पुद्गल का अविभाज्य और अन्तिम अंग है। इसके बाद इसका कोई और टुकड़ा नहीं किया जा सकता। जैसे किसी बिन्दु का कोई ओर-छोर नहीं होता, वैसे ही परमाणु का कोई आदि और अन्त बिन्दु नहीं है। इसका आदि, मध्य और अन्त यह स्वयं है।[1]

परमाणु, स्कन्धों का अन्तिम रूप है।[2] यद्यपि परमाणु शाश्वत होने से नित्य है। फिर भी उसकी उत्पत्ति स्कन्धों के टूटने से होती है अर्थात् अनेक परमाणुओं का पिण्ड रूप स्कन्ध जब एक-दूसरे से विघटित होकर टूटते हैं, तब उसके अन्तिम रूप परमाणु की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से परमाणु की उत्पत्ति भी मानी गई है। यह एक प्रदेशी होता है।[3] प्रदेश आकाश की सूक्ष्मतम इकाई है। आकाश के जितने हिस्से को एक पुद्गल परमाणु घेरता है, वह प्रदेश कहलाता है।[4] प्रत्येक पुद्गल परमाणु में स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण रूप चार में कोई दो स्पर्श, खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला और तिक्त रूप पाँच रस में कोई एक रस, काला, पीला, लाल, सफेद और नीला इन पाँच रंगों में से कोई एक रंग तथा सुगन्ध या दुर्गंध में से कोई एक गन्ध अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं।[5]

वैज्ञानिक जिस परमाणु के अनुसंधान में रत है जैन दर्शन के अनुसार वह अनेक परमाणुओं से संघटित कोई स्कन्ध (मॉलिक्यूल) है, क्योंकि उसमें इलेक्ट्रान, प्रोटॉन, न्यूट्रान, अल्फा, गामा, बीटा, न्युट्रिनो, पॉजिट्रान, मेशॉन, क्वार्क आदि अनेक कण पाये जाते हैं। अब तो उनकी संख्या बढ़कर सौ से अधिक हो गई है। जैनदर्शन के अनुसार इसमें से कोई भी कण परमाणु या मौलिक कण नहीं है, उन्हें व्यवहार परमाणु कहा जा सकता है, वास्तविक नहीं। जैन दृष्टि से परमाणु वह मूल कण है, जिसमें कोई भेद या विभाग सम्भव नहीं है। परमाणु पुद्गल की अन्तिम इकाई है। इसे, अविभागी कहा गया है, अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु इन्द्रियों एवं प्रयोग के विषय से अतीत है। अतः वह मनुष्यकृत नाना प्रक्रियाओं से प्रभावित नहीं होता।

---

1. नियमसार गाथा 36
2. पंचास्तिकाय 77
3. नाणोः त.सू. 5/33
4. द्रव्य संग्रह 27
5. पं.का.82

इस प्रकार जैन दर्शन में परमाणु की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या, विवेचन और विश्लेषण किया गया है। परमाणु की यह व्याख्या विश्व में प्राचीनतम तो है ही साथ ही परमाणु विज्ञान की नव-नवीन खोजों के लिए वैज्ञानिकों को प्रामाणिक प्रेरणा देती है। वैज्ञानिकों के मन में नई जिज्ञासायें उत्पन्न करने में जैनदर्शन का यह भाग सर्वथा सक्षम है और इस प्रकार वैज्ञानिक प्रगति में समर्थ एवं सहायक बना हुआ है।

स्कन्ध

दो या दो से अधिक परमाणुओं के योग से बनी पुद्गल परमाणु की संयुक्त पर्याय स्कन्ध कहलाती है। हमारे दृष्टि पथ में आने वाले समस्त पदार्थ पौद्गलिक स्कन्ध ही हैं। स्कन्ध दो,तीन आदि संख्यात,असंख्यात और अनन्त प्रदेशी होता है।[1] पुद्गल में विशेष प्रकार की परिणमन क्षमता रहती है, जिसके बल पर यह अपना सूक्ष्म परिणमन भी कर लेता है। आकाश के एक प्रदेश में ही एक को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त पुद्गल परमाणु स्वतन्त्र रूप से या स्कन्ध रूप में भी रह सकते हैं।[2] हम देखते भी हैं कि दूध से लबालब भरे गिलास में शक्कर आदि ठोस पदार्थ डालने पर वह भी उसमें समा जाता है अथव बिजली के ठोस तार में भी विद्युत् प्रवाहित हो जाती है। ये सब पुद्गल के सूक्ष्म परिणमन क्षमता के उदाहरण हैं। अपनी इसी सूक्ष्म परिणमन क्षमता के कारण एक प्रदेश में ही अनेक परमाणु अवगाहित हो जाते हैं।[3]

---

1. तत्त्वार्थ सूत्र 5/10
2. सर्वार्थ सिद्धि पृ. 212
3. **परमाणुओं का समासीकरण** - पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की पहुँच इस पराकाष्ठा तक तो नहीं हुई है, किन्तु आये दिन ऐसे निविड/सघन पदार्थों का पता चल रहा है, जो परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति के विषय में जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि करते हैं। साधारणत: इस पृथ्वी पर सोना, पारा, शीशा व प्लेटिनम भारी पदार्थ माने जाते हैं। एक स्क्वायर इंच काठ के टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े के भार में कितना अन्तर है, यह स्पष्ट है। इसका एकमात्र कारण परमाणुओं की निविड़ता/सघनता है। जितने आकाश खण्ड को काष्ठ के थोड़े से परमाणुओं ने घेर लिया उतने ही आकाश खण्ड में अधिकाधिक परमाणु एकत्र होकर खनिज पदार्थ के रूप में रह जाते हैं। इस आकाश में ऐसे भी ग्रह पिण्ड देखे गये हैं जो प्लेटिनम से दो हजार गुना सघन हैं। ऐसे ग्रह पिण्डों की सघनता का वर्णन एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक इन शब्दों में करते हैं ''इन आकाशीय पिण्डों में से कुछ एक में पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक क्यूबिक इंच टुकड़े में 27 मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो अभी हाल में खोजा गया है उसके एक क्यूबिक इंच में 16740 मन वजन होता है। क्या कभी कोई कल्पना भी कर सकता है कि एक क्यूबिक इंच टुकड़े को उठाने में बड़े से बड़े क्रेन भी असफल रह जायेंगे? क्या कोई कल्पना कर सकता है कि एक छोटा-सा ढेला ऊपर से गिरकर बड़े से बड़े भवन को भी तोड़ सकता है? कहा जाता है ज्येष्ठा नक्षत्र इतना भारी है कि अँगूठी के एक नग जितने टुकड़े में आठ मन वजन होता है। **- जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान**

स्कन्धों के भेद

स्कन्धों की स्थूलता और सूक्ष्मता की अपेक्षा इनके छह भेद किये गये हैं[1]-

1. स्थूल-स्थूल: जो पदार्थ छिन्न-भिन्न करने पर अपने आप नहीं जुड् सकते हों तथा जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से ले जाया जा सकता है। जैसे- पत्थर, लकड़ी, धातु आदि ठोस पदार्थ।

2. स्थूल: जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है,किन्तु छिन्न-भिन्न करने पर जो स्वयं जुड़ जाते हैं।जैसे दूध,पानी,तेल आदि पदार्थ।

3. स्थूल-सूक्ष्म: जो नेत्रों के द्वारा देखी जा सकें, किन्तु पकड़ में न आ सकें, जैसे छाया, प्रकाश आदि। चूँकि ये दिखते हैं इसीलिए स्थूल हैं तथा पकड़ में न आने के कारण इन्हें सूक्ष्म कहते हैं।

4. सूक्ष्म-स्थूल: जो आँखों से तो नहीं दिखते हों, किन्तु शेषेन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये जाते हैं। जैसे-हवा, गन्ध, रस, शब्द आदि।

5. सूक्ष्म: जो किसी भी इन्द्रिय का विषय न बने। जैसे कार्मण-स्कन्ध/ चुम्बकीय विद्युत् किरणों को भी इसमें गर्भित कर सकते हैं।

6. सूक्ष्म-सूक्ष्म: अत्यन्त सूक्ष्म द्व्यणुक स्कन्ध को सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं। यह स्कन्धों की अन्तिम इकाई है।

ये छहों भेद स्कन्धों की स्थूलता और सूक्ष्मता की तरतमता की अपेक्षा किये गये हैं। जिनका दो बार उल्लेख है वे उसके उत्कृष्टता के प्रतीक हैं तथा माध्यम अंश दर्शाने के लिए एक बार कहा गया है। स्थूल और सूक्ष्म में जो पहले कहा गया है उसकी अधिकता है तथा बाद वाले की न्यूनता है। स्थूल-सूक्ष्म रूप प्रकाशादि में स्थूलता अधिक है तथा सूक्ष्मता कम। सूक्ष्म-स्थूल शब्द आदि में सूक्ष्मता अधिक है स्थूलता कम। इन छह भेदों को क्रमशः स्थूलतम, स्थूलतर, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम भी कह सकते हैं।

स्कन्धोत्पत्ति : पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप स्कन्धों की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। भेद अर्थात् एक दूसरे से टूटकर विघटित होकर, संघात से

---

1. नियमसार - 21-24

अर्थात् एक दूसरे से जुड़कर-संयोजित होकर तथा भेद-संघात से अर्थात् टूटकर और जुड़कर।[1]

1. भेद से : भेद का अर्थ होता है- टूटना, बिछुड़ना। जैसे ईंट, पत्थर आदि को तोड़ने से उनके दो या अधिक टुकड़े हो जाते हैं वैसे ही अन्य पुद्गलों के पिण्ड रूप किसी बड़े स्कन्ध के टूटने से उत्पन्न स्कन्धों को 'भेद-जन्य स्कन्ध' कहते हैं।

2. संघात से : 'संघात' का अर्थ होता है-'जुड़ना'। दो या अधिक परमाणु और स्कन्धों के परस्पर जुड़ने से उत्पन्न स्कन्ध को 'संघात-जन्य स्कन्ध' कहते हैं।

3. भेद-संघात से : अर्थात् टूटकर और जुड़कर। एक ही साथ किसी स्कन्ध से टूटकर अन्य स्कन्धों से जुड़ने से उत्पन्न स्कन्ध 'भेद-संघातजन्य-स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे ट्यूब के छिद्र से निकलती हुई वायु उसी क्षण बाहर की वायु में मिल जाती है। यहाँ एक ही समय में भेद-संघात दोनों हैं। बाहर से निकलने वाली वायु का ट्यूब के भीतर की वायु से 'भेद' है तथा बाहर की वायु से 'संघात। तीनों प्रकार के स्कन्ध दो को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त अणु वाले रह सकते हैं। परमाणु की उत्पत्ति स्कन्धों के विघटन अर्थात् भेद से होती है।

स्कन्धोत्पत्ति का कारण

पुद्गल परमाणुओं में स्वभाव से स्निग्धता या रुक्षता होती है जिनके कारण इनका परस्पर बन्ध होता है।[2] परिणमनशील पुद्गलों के इस स्निग्ध और रुक्षत्व गुण के कारण ऐसा रासायनिक परिणमन होता है कि वे परस्पर मिलकर एक रूप हो जाते हैं। इसी तरह स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। इन्हें गुण कहते हैं। इसी स्निग्ध और रुक्ष शक्ति के कारण पुद्गल परमाणु परस्पर में बँधते रहते हैं। उसमें भी शर्त यह है कि जघन्य अर्थात् एक गुण वाले परमाणु का किसी से भी बन्ध नहीं होता।[3] स्निग्ध-स्निग्ध, स्निग्ध-रुक्ष तथा रुक्ष-रुक्ष एवं रुक्ष-स्निग्ध परमाणुओं का बन्ध तभी सम्भव है जब इनमें से किसी एक में दो गुण की अधिकता हो इससे हीन या अधिक नहीं।[4] परस्पर समान गुण के होने पर भी इनका बन्ध नहीं होता।[5] समझने

1. त.सू. 5/26
2. त.सू. 5/33
3. त.सू.5/34
4. त.सू. 5/36
5. त.सू. 5/35

के लिए, दो गुण वाले परमाणुओं का सदृश या विसदृश चार गुण वाले परमाणु के साथ तो बन्ध सम्भव है, किन्तु तीन या पाँच गुणों वाले परमाणु बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकते। दो की अधिकता होना अनिवार्य है। बन्धकाल में अधिक गुण वाले परमाणु, अल्प गुण वाले परमाणुओं को अपने रस, रंग, गन्ध और स्पर्श रूप परिणमा लेते हैं।[1] इसी रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा दो को आदि लेकर संख्यात असंख्यात और अनन्त अणु वाले स्कन्ध बनते हैं।

प्रत्येक पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार गुण पाये जाते हैं।[2] ठण्डा, गर्म, हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कठोर, मृदु आठ प्रकार के स्पर्श खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और चरपरा रूप पाँच प्रकार का रस काला, पीला, नीला, लाल और सफेद पाँच प्रकार के वर्ण तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप दो गन्ध, इस प्रकार कुल 20 पर्यायें हैं। इनमें से स्कंधों में ठण्डा, गर्म आदि आठ स्पर्शों में से अविरुद्ध कोई चार स्पर्श, पाँच वर्ण में से कोई एक वर्ण, पाँच रसों में से कोई एक रस तथा दो गन्ध में से कोई एक गन्ध अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। परमाणु में कठोर मृदुपन तथा हल्का, भारीपन नहीं पाये जाने से एक काल में कोई दो ही स्पर्श पाये जाते हैं।[3]

---

1. त.सू. 5/37

   विशेष – जैन दर्शनकारों ने जैसे स्निग्धत्व और रुक्षत्व को बन्धन का कारण माना है, वैज्ञानिकों ने पदार्थ के धन-विद्युत् एवं ऋण-विद्युत् अर्थात् पॉजीटिव और निगेटिव इन दो स्वभावों को बन्धन का कारण माना है। जैनदर्शन के अनुसार जहाँ स्निग्ध और रुक्षत्व पदार्थ मात्र में मिलता है, वहीं आधुनिक विज्ञान के अनुसार धन-विद्युत् और ऋण-विद्युत् पदार्थ मात्र में मिलती है। वस्तुतः जैन दर्शनकारों एवं आधुनिक वैज्ञानिकों की बात में कोई फर्क नहीं है मात्र शब्द भेद है। जैन दर्शन में स्निग्ध और रुक्षत्व के नाम से तथा वैज्ञानिक उसे धन-विद्युत् और ऋण-विद्युत् के नाम से कहते हैं। प्रोफेसर जी.आर.जैन के अनुसार भी स्निग्ध और रुक्षत्व वैज्ञानिक परिभाषा में निगेटिव और पॉजीटिव है। वे लिखते हैं- ''सर्वार्थ-सिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है 'स्निग्धरुक्षगुणनिमित्तो विद्युत्' अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रुक्ष गुणों के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध और रुक्ष का अर्थ चिकना और खुरदरा नहीं है। ये दोनों वास्तव में बहुत टेक्निकल अर्थ में प्रयुक्त हैं। जिस तरह एक अनपढ़ ड्राइवर बैटरी के एक तार को ठंडा तथा दूसरे को गर्म कहता है (यद्यपि उनमें न कोई तार ठंडा होता है न कोई गरम) और विज्ञान की भाषा में जिन्हें पॉजेटिव और निगेटिव कहा जाता है, ठीक उसी तरह जैन धर्म में स्निग्ध और रुक्ष शब्दों का प्रयोग किया जाता है। डॉ. वी.एन.शील ने केंब्रिज से प्रकाशित अपनी पुस्तक "Positive Sciences of ancient Hindu" में स्पष्ट लिखा है'' जैनचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को आपस में रगड़ने से पॉजीटिव और निगेटिव विद्युत् उत्पन्न की जा सकती है।'' इन बातों के समक्ष इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पॉजीटिव और रुक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत् है। देखें- तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रंथ, ग्वालियर पृ. 275-76

2. स्पर्श-रस-गंध-वर्णवन्तः पुद्गलाः त.सू 5/23

3. पुद्गल की उपर्युक्त परिभाषा के विषय में एक प्रश्न और भी उपस्थित हो सकता है, वह यह कि जैन सिद्धान्तकारों ने वर्ण को पाँच ही प्रकार का क्यों माना, जबकि सौर वर्ण पट (Solar Spectrum) में सात वर्ण

तत्त्व मूलतः एक ही है

कुछ दार्शनिक पृथ्वी में स्पर्श आदि चारों, जल में गन्ध रहित तीन, अग्नि में मात्र रूप और स्पर्श तथा वायु में एक मात्र स्पर्श गुण मानते हैं। इन चारों में पृथक्-पृथक् जाति के गुण होने से चार प्रकार के पृथक्-पृथक् द्रव्य भी मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ये चारों पृथक्-पृथक् जाति के द्रव्य नहीं हैं। प्रत्येक परमाणु में चारों प्रकार के गुण अनिवार्य रूप से हैं। यह तो सम्भव है कि किसी में कोई गुण पूर्णतः अभिव्यक्त हो तथा किसी में कोई गुण पूर्ण रूप से प्रकट न हो, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनमें वे गुण पाये ही नहीं जाते, अन्यथा सीप के पेट में पड़ने वाला जल, पार्थिव मोती न बन पाता। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप वायु के मिलने से जल की उत्पत्ति न हो पाती तथा पार्थिव ईंधन से अग्नि की

होते हैं और प्राकृतिक-अप्राकृतिक वर्ण (Natural & Pigmentory Colours) बहुत से होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्ण से उनका तात्पर्य सौर वर्ण पट के वर्णों अथवा अन्य वर्णों से नहीं है। प्रत्युत् पुद्गल के उस मूल-गुण (Fundamental Property) से है, जिसका प्रभाव हमारी आँख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में रक्त, पीत, कृष्ण आदि आभास कराता है। आप्टिकल सोसायटी ऑफ अमेरिका (Optical Society of America) ने वर्ण की निम्नलिखित परिभाषा दी है, ''वर्ण एक व्यापक शब्द है, जो आँख के कृष्ण पटल (Retina) और उससे सम्बद्ध शिराओं की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता है। रक्त, पीत, नील, श्वेत, कृष्ण इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है।''

पञ्चवर्णों का सिद्धान्त - पञ्चवर्णों का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया जा सकता है- यदि किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जाये तो सर्वप्रथम उसमें से अदृश्य (Dark) ताप किरणें (Heat Rays) निस्सरित (Emitted) होती हैं। उसके अनन्तर वह रक्त वर्ण किरणें छोड़ती है और अधिक ताप बढ़ाने से वह पीत वर्ण किरणें छोड़ती है और फिर उसमें से श्वेत-वर्ण किरणें निस्सरित होती हैं। यदि उसका ताप और अधिक बढ़ाया जाये तो नील वर्ण किरणें भी उद्भूत हो सकती है। श्री मेघनाद साहा और श्री बी. एल. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कुछ तारे नील-श्वेत रश्मियाँ छोड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका तापमान बहुत अधिक है। तात्पर्य यह है कि ये पाँच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों (Temperature) पर उद्भूत हो सकते हैं और इसलिए पुद्गल के मूलगुण (Fundamental properties) हैं। वैसे जैन विचारकों ने वर्ण के अनन्त भेद माने हैं। हम सौर वर्ण पट के वर्णों (Spectrum Colours) में देखते हैं कि यदि रक्त से लेकर कासनी (Violet) तक तरंग प्रमाणों (Wave lengths) की विभिन्न अवस्थितियों (Stages) की दृष्टि से विचार किया जाये तो इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त प्रकार के सिद्ध होंगे, क्योंकि यदि एक प्रकाश तरंग (Ligh-Wave) प्रमाण (Length) में दूसरी प्रकाश तरंग से अनन्तवें भाग (Infinitesmal Amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरंगें दो विसदृश वर्णों को सूचित करती हैं। इस प्रकार जैन-दार्शनिकों की पुद्गल की परिभाषा तर्क व विज्ञानसम्मत सिद्ध होती है। **पं.चंदाबाई अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 266-267**

(a) "Colour is the general term for all sensations, arising from the activity of retina and its attached Nervous Mechanism. It may be examplified by the enumeration of characteristic intances, such as red, yellow, blue, black and white...."

(b) Some of the stars shine with a bluish-white light which indicates that their temperature must be very high. **M.N. Saha & B.N. Shrivastava**

उत्पत्ति भी असम्भव थी, क्योंकि प्रत्येक परमाणु भिन्न जाति वाले हैं। वे परस्पर विरोधी कार्य नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान की इस मान्यता ने जैनदर्शन मान्य परमाणु की जातीय विषयक धारणा की और पुष्टि कर दी है। पूर्व में विज्ञान ने 92 मूल तत्त्व माने थे (मूल तत्त्व का लक्षण व्यक्त करते हुए बताया गया है कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व रूप परिणत नहीं होते), किन्तु धीरे-धीरे विज्ञान की यह मान्यता बदल गयी और वह 92 से घटकर मात्र एक तत्त्व तक पहुँच गया। है आज ऐसे अनेक प्रयोग हो चुके हैं जिससे पारा के परमाणुओं को प्रयोग द्वारा विखण्डित कर सोना बनाया गया है। उसी तरह यूरेनियम से प्लेटिनम और शीशा आदि बनाये गये हैं। यह सब मूल तत्त्वों के एक होने पर ही सम्भव हो पाया है। अन्यथा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव थी। अतः आज के वैज्ञानिक युग में भिन्न जातीय परमाणुओं की चर्चा गलत साबित हो चुकी है और समस्त पुद्‌गल द्रव्य की वैकल्पिक गुणों की हीनाधिकता पूर्वक एकरूपता सिद्ध हो चुकी है।

पुद्गल के पर्याय

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत-ये सब पुद्गल के पर्याय है।[1]

शब्द - एक स्कन्ध के साथ किसी दूसरे स्कन्ध के टकराने या किसी स्कन्ध के टूटने से उत्पन्न ध्वनि रूप परिणाम को शब्द कहते हैं। जैनदर्शन में शब्द को पुद्गल की पर्याय कहा गया है। वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण बताकर उसे आकाश की तरह अमूर्त मानते हैं, किन्तु शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि यह मूर्त इन्द्रिय का विषय है। यदि यह आकाश का गुण होता, तो आकाश की तरह व्यापक और अमूर्त होने से किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं बन पाता। शब्द दीवार आदि प्रतिबन्धक कारणों के आने पर अवरुद्ध हो जाते हैं। शब्द की तीव्र आवाज से कान के पर्दे तक फट जाते हैं तथा तीव्र शब्द के आगे सूक्ष्म शब्द दब भी जाते हैं। इन कारणों से शब्द की पौद्गलिकता सिद्ध होती है। आधुनिक विज्ञान ने तो टेप, रेडियो, टेलिफोन आदि सञ्चार माध्यमों से शब्दों का संग्रह कर यन्त्रों द्वारा उसकी गति को घटा-बढ़ाकर तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाकर शब्द को भौतिक या पौद्गलिक मानने का मार्ग और सरल कर दिया है। अतः यह अमूर्तिक नहीं हो सकता।

1. द्रव्य संग्रह 16

शब्द दो प्रकार का होता है भाषात्मक और अभाषात्मक।

अर्थ-प्रतिपादक वाणी को भाषात्मक शब्द कहते हैं। यह अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। संस्कृत, हिन्दी आदि विविध भाषाएँ अक्षरात्मक शब्द हैं तथा दो इन्द्रियादि पशु-पक्षियों की भाषा अनक्षरात्मक भाषा कहलाती है। जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ आदि के प्रयोग से उत्पन्न होने के कारण यह प्रायोगिक कहलाता है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और नैसर्गिक के भेद से दो प्रकार का होता है।

प्रयोग या प्रयत्न से उत्पन्न तत, वितत, घन और शौषिर रूप प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं।[1]

तत - तबला, मृदंग, भेरी आदि में चमड़े आदि के तनाव से उत्पन्न शब्द।

वितत - तार के तनाव के कारण वीणा, सितार आदि से उत्पन्न शब्द।

घन - घण्टा, घड़ियाल आदि के टकराव से समुत्पन्न शब्द।

शौषिर - शंख, बाँसुरी आदि से निकलने वाला शब्द।

नैसर्गिक - मेघ की गर्जना, भूडोल, वायु, वर्षा और वृक्षों की रगड़ आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द वैस्रसिक/नैसर्गिक हैं, क्योंकि यह पुरुष प्रयत्न के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होता है।[2]
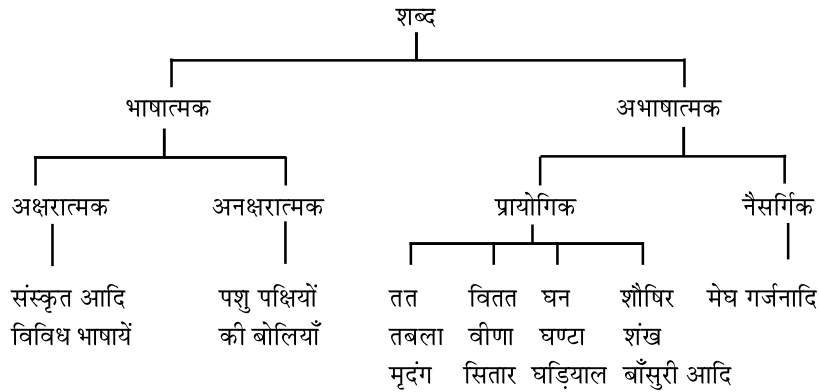
1. सर्वा.सि.पृ. 224-25

बन्ध - ''बन्ध'' शब्द का अर्थ है, बँधना, जुड़ना, मिलना, संयुक्त होना। दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धों का भी। इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओं का एक या एक से अधिक स्कन्धों के साथ भी बन्ध होता है। पुद्गल परमाणुओं का (कार्मण वर्गणाओं) का जीव द्रव्य के साथ भी बन्ध होता है। पुद्गल परमाणुओं/स्कन्धों के परस्पर में बन्ध का कारण पूर्वोक्त स्निग्ध और रुक्ष गुण हैं।

बन्ध की विशेषता यह है कि उसका विघटन या विखण्डन या अन्त अवश्यम्भावी है, क्योंकि जिसका प्रारम्भ होता है उसका अन्त भी अवश्यमेव होता है। एक नियम यह भी है कि जिन परमाणुओं या स्कन्धों का परस्पर बन्ध होता है वे परस्पर सम्बद्ध रहकर भी अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ दूध और पानी की तरह अथवा रासायनिक प्रतिक्रिया से सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक् सत्ता नहीं खोता। उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरित हो जायें फिर भी उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रहता है।

प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से बन्ध दो प्रकार का होता है। प्रायोगिक भी दो प्रकार का होता है अजीवकृत और जीवाजीवकृत। लाख लकड़ी आदि का बन्ध अजीव विषयक बन्ध है तथा जीव के साथ पुद्गल कर्मों का बन्ध जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है। वैस्रसिक बन्ध स्वाभाविक बन्ध है। इसमें पुरुष के प्रयत्न विशेष की आवश्यकता नहीं रहती। स्निग्ध और रुक्ष गुण के निमित्त से होने वाला इन्द्र-धनुष, मेघ, उल्का आदि का बन्ध वैस्रसिक बन्ध के उदाहरण हैं।[1]

उल्का क्या है- इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने एक बहुत बड़ा घटनात्मक इतिहास गढ़ डाला है। जैनदर्शन के अनुसार उल्का, ताराओं का टूटना नहीं है और न ही उनकी पारस्परिक टक्कर का परिणाम है। वह तो आकाश स्थित पुद्गल स्कन्धों का संघर्ष-जन्य परिणाम है। इसी तरह विविध अणुओं के सांयोगिक बादल, इन्द्र-धनुष आदि परिणाम हैं।[2]

इसी प्रकार सूक्ष्मता, स्थूलता, विविध आकृतियाँ, इनकी टूट-फूट, अन्धकार आदि सब पुद्गल की पर्याय हैं। अन्धकार भी एक वस्तु है, क्योंकि वह दिखाई देती

---

1. सर्वा.सि.पृ. 225
2. जैन दर्शन और आधु. विज्ञान, पृ. 46

है। अन्य दर्शनकार इसे अभाव रूप मानते हैं, किन्तु जैनदर्शन के अनुसार यह भी एक सद्भावात्मक पदार्थ है। अभाव नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं है। उसी तरह छाया, प्रतिच्छाया (फोटोग्राफी), प्रकाश और ताप आदि सब पुद्गल की ही विविध अवस्थाएँ हैं।

पूर्व में विज्ञान शब्द, प्रकाश, छाया और ताप आदि को शक्ति रूप स्वीकार करता था, किन्तु अब एनर्जी नाम का, मेटर से कोई पृथक् पदार्थ है, उनकी यह मान्यता बदल गयी है जो कि जैनदर्शन से पूर्णतया सम्मत है। आइन्स्टाइन ने स्पष्ट कहा है कि शक्ति और द्रव्य कोई पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं हैं। इन्हें एक-दूसरे में बदला जा सकता है। उसी तरह प्रोफेसर मेक्स बोर्न कहते हैं- ''शक्ति और पदार्थ एक वस्तु विशेष के दो पृथक् नाम हैं। अब तो एनर्जी के भार भी आँके जा रहे हैं।'' उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि एनर्जी और मेटर दोनों पुद्गल के ही नामान्तर हैं। विज्ञान जिसे एनर्जी कहता है वह इन शब्दादि का ही सूक्ष्म परिणमन है।[1]

हमारा जीवन-मरण, सुख-दुःख, शरीर, वचन, श्वास आदि सारे व्यापार इस पुद्गल द्रव्य के ही आश्रित है।[2] इस प्रकार जो भी पदार्थ हमारे छूने, चखने, देखने या सूँघने में आते हैं वे सब इस पुद्ल द्रव्य की ही विविध अवस्थाएँ हैं। इनका अपना अस्तित्व है। ये स्वप्न की तरह मिथ्या नहीं है, न ही माया की आँख मिचौनी, अपितु पुद्गल की सन्तान होने से यह सब परमार्थतः सत् है।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य

धर्म द्रव्य- यह पुण्य और पाप के अर्थ में प्रयुक्त न होकर, जैनदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। यह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो गतिशील जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी हैं।[3] लोकवर्ती छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल में ही गतिशीलता पाई जाती है। ये एक स्थान से दूसरे स्थान को भी जाते हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।[4] इनमें हलन-चलनादि रूप क्रिया नहीं पाई जाती। धर्म द्रव्य समस्त लोकव्यापी अखण्ड द्रव्य है। तिल में तेल की तरह यह पूरे लोक में व्याप्त है, इसमें रूप-रस-गन्ध और स्पर्श का अभाव होने से यह अमूर्त भी है। रेल के चलने में सहायक रेल की पटरी की तरह यह बलात् या

1. जैन दर्शन और आधु. विज्ञान, पृ. 66
2. त.सू. 5/19-20
3. द्रव्य-संग्रह- 17
4. निष्क्रियाणि च, त.सू.5/17

प्रेरित कर किसी को नहीं चलाता अपितु, चलते हुए जीवों और पुद्गलों को चलने में सहायक होता है। इसलिए इसे उदासीन निमित्त कहा गया है। [धर्म द्रव्य की मान्यता अन्य दर्शनों में नहीं है, किन्तु आधुनिक विज्ञान इसे ईथर के रूप में स्वीकार करता है। आधुनिक विज्ञान ईथर को अमूर्तिक, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य मानने के साथ-साथ उसे गति का आवश्यक माध्यम मानता है।[1] जैनदर्शन मान्य धर्म-द्रव्य का भी यही लक्षण है।]

अधर्म द्रव्य- जिस प्रकार जीवों और पुद्गलों की गति में धर्म-द्रव्य सहायी है, उसी तरह अधर्म द्रव्य उनके ठहरने में सहायक है।[2] धर्म द्रव्यवत् यह भी निष्क्रिय, अमूर्त और लोकव्यापी है। जैसे पृथ्वी, हाथी, घोड़ा, मनुष्यादि को जबरन नहीं ठहराती, अपितु वह ठहरना चाहे तो उसमें सहायक होती है अथवा वृक्ष चलते हुए पथिक को नहीं रोकते, पर वह स्वयं रुकना चाहे तो वह उसे अपनी छाया अवश्य देते हैं। उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी किसी को जबरदस्ती नहीं रोकता, अपितु पदार्थ स्वयं रुकना चाहे तो यह उनका सहायी बन जाता है।

यदि धर्म और अधर्म द्रव्य उदासीन न होकर प्रेरक होते तो धर्म और अधर्म दोनों में द्वन्द्व छिड़ जाता। धर्म द्रव्य जीवों और पुद्गलों को चलने के लिए प्रेरित करता तो अधर्म द्रव्य उन्हें पकड़कर अपनी ओर खींचता रहता, बड़ी अव्यवस्था हो जाती, न तो हम चल पाते, न ही ठहर पाते, जबकि ऐसा है नहीं। इन्हें उदासीन निमित्त माना गया है। इनकी उपस्थिति में हम चलना चाहें तो धर्म द्रव्य हमारा साथ देने तैयार खड़ा है तथा यदि हम ठहरना चाहें तो अधर्म द्रव्य हमारे स्वागत में प्रतीक्षारत है।

[यद्यपि अन्य दर्शनों एवं विज्ञान ने धर्म और अधर्म द्रव्य को स्वीकार नहीं किया है, किन्तु प्रोफेसर जी.आर. जैन ने अपनी 'कास्मोलॉजी : ओल्ड एण्ड न्यू' नामक पुस्तक में न्यूटन की आकर्षण शक्ति के साथ इसकी तुलना की है। वे लिखते हैं "यह जैन धर्म के अधर्म द्रव्य विषयक सिद्धान्त की सबसे बड़ी विजय है कि विश्व की स्थिरता के लिए विज्ञान के अदृश्य आकर्षण शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है और प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने उसमें कुछ सुधार करके उसे क्रियात्मक रूप दिया। अब आकर्षण सिद्धान्त को साहयक कारण के रूप में

1. The Nature of the Physical World [Page No. 31]
2. द्रव्य संग्रह 18

माना जाता है, मूल कर्त्ता के रूप में नहीं। इसलिए अब वह जैन धर्म-विषयक अधर्म द्रव्य की मान्यता के बिल्कुल अनुरूप बैठता है।''[1]]

संसार के निर्माण के लिए पदार्थों को गति और स्थिरता के नियमों में बद्ध होना आवश्यक है। यदि धर्म द्रव्य न हो तो हम चल ही न सकेंगे और यदि अधर्म द्रव्य न हो तो हम ठहर नहीं सकेंगे। लोक और अलोक का विभाजन भी इन दोनों द्रव्यों के कारण ही हो पाता है, क्योंकि जहाँ तक पदार्थ स्थित है, वहीं तक लोक है तथा लोक वहीं तक है, जहाँ तक कि पदार्थों की गति। जिस प्रकार पटरी के अभाव में क्षमता रहते हुए भी रेल, पटरी की सीमा का उल्लंघन कर आगे नहीं बढ़ पाती, उसी तरह जीव और पुद्गल की भी वहीं तक गति और स्थिति है, जहाँ तक कि धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, ये इनका उल्लंघन नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान भी इस बात को स्वीकारता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने भी गति तत्त्व को स्वीकार करते हए कहा है ''लोक परिमित है, लोक से परे अलोक अपरिमित/लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का अभाव है जो गति में सहायक होती है।''[2]

आकाश द्रव्य

आकाश द्रव्य रूपादि रहित, अमूर्त, निष्क्रिय तथा सर्वव्यापक द्रव्य है। लोकवर्ती समस्त पदार्थों को यह स्थान/अवगाह देता है तथा स्वयं भी उसमें अवगाहित होता है।[3] यद्यपि जीव और पुद्गल भी एक-दूसरे को अवगाह देते हैं, किन्तु उन सबका आधार आकाश ही है। यह लोक और अलोक के भेद से दो भागों में विभक्त है। आकाश के जितने हिस्से में जीवादि पाये जाते हैं, वह लोकाकाश है तथा उससे बाहर का अनन्त आकाश अलोकाकाश कहलाता है।[4]

लोकाकाश लोक और आकाश इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'लोक' शब्द संस्कृत के ''लुक्'' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ हुआ जहाँ तक जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक है। उससे बाहर के आकाश को अलोक

1. Cosmology old & New, Page No 25-26
2. जैन दर्शन मनन और मीमांसा पृ. 160
3. द्र.सं.19
4. द्र.सं. 20

कहते हैं। लोक और अलोक का यह विभाग किसी दीवार की तरह नहीं है जो आकाश में भेद करती हो, अपितु पूर्ण आकाश अखण्ड है। जीवादि पदार्थों की उपस्थिति और अनुपस्थिति के कारण यह भेद हुआ है। जैन दर्शन के अनुसार लोकाकाश सम्पूर्ण आकाश के मध्य भाग में दोनों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर खड़े हुए मनुष्य के आकार का है। यह चौदह राजू ऊँचा और सात राजू चौड़ा है।

अधः, मध्य और ऊर्ध्व तीन विभागों में विभक्त यह लोक सब ओर से वायुदाब के दबाब से घिरा है। नीचे के (पैर की आकृति वाले) भाग में सात नरक हैं। कटिप्रदेश जहाँ हम सब अवस्थित हैं, उसे मर्त्यलोक या मध्यलोक कहते हैं। इससे ऊपर स्वर्ग है। लोक के अग्र भाग पर मोक्ष स्थान है, जहाँ पहुँचकर मुक्त अत्माएँ ठहर जाती हैं। आगे गति का हेतु धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण इससे आगे नहीं बढ़ पाती। वस्तुतः इसके विभाजन का कारण धर्म और अधर्म द्रव्य ही है। लोक का यह आकार धर्म और अधर्म द्रव्य के ही कारण है। जो धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का आकार है, वही लोक का आकार है।

अन्य दर्शनों ने भी आकाश को स्वीकार किया है, किन्तु उसके लोक और अलोक रूप भेद को नहीं मानते। इसी वजह से उनके यहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य की भी मान्यता नहीं है। जैन दर्शन में इन्हें माना गया है, जो कि तर्कसंगत है तथा आधुनिक विज्ञान ने भी इसके अस्तित्व पर अपनी मुहर लगा दी है।

काल द्रव्य

काल द्रव्य प्रत्येक पदार्थ में होने वाले परिवर्तन/परिणमन का हेतु है।[1] यही वह द्रव्य है, जिसके निमित्त से द्रव्य अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर प्रतिक्षण नया रूप धारण करते हैं। यह भी आकाश की तरह अमूर्त और निष्क्रिय है[2] किन्तु उसकी तरह एक और व्यापक न होकर असंख्य हैं, जो पूरे आकाश के प्रदेशों पर रत्नों की राशि की तरह भरे पड़े हैं। आकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं।[3] वर्तना इसका प्रमुख लक्षण है।[4] पदार्थों में परिणमन यह बलात् नहीं कराता, बल्कि इसकी उपस्थिति में पदार्थ स्वयं अपना परिणमन करते हैं। यह तो कुम्हार के चाक के नीचे रहने वाली कील की तरह है जो स्वयं नहीं चलती, न ही चाक

1. 3. द्र.सं. 21
2. निष्क्रियाणि च त.सू.5/7
3. द्र.सं. 22
4. द्र.सं. 21

को सञ्चालित करती है। फिर भी कील के अभाव में चाक घूम नहीं सकता। चाक के परिभ्रमण के लिए कील का आलम्बन अनिवार्य है। काल द्रव्य की यही भूमिका है। परिणमनगत इस आलम्बन को वर्तना कहते हैं। यह काल द्रव्य का मुख्य लक्षण है। इसे ही निश्चय काल कहते हैं। इसके अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं हो सकता। समय, पल, घड़ी, घण्टा, मिनट आदि व्यवहार काल हैं। समय काल की सूक्ष्मतम इकाई है। एक पुद्गल परमाणु को मन्द गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है, उसे समय कहते हैं।[1] नया-पुराना, बड़ा-छोटा, दूर-पास आदि का व्यवहार इस व्यवहार काल द्रव्य के ही आश्रित है। इसका अनुमान सौर मण्डल एवं घड़ी आदि के माध्यम से लगाया जाता है। द्रव्यों के होने वाले परिणमन से भूत, भविष्य और वर्तमान का व्यवहार भी इसी काल के आश्रित है।

इसे सभी दर्शनकारों ने स्वीकारा है। किन्तु कुछ इसे अखण्ड और व्यापक मानते हैं, जबकि ऐसा है नहीं। यदि ऐसा होता तो भिन्न क्षेत्रों में समय भेद नहीं देखा जाता। हम देखते हैं कि भारत मे होने वाले समय और अन्य देशों में होने वाले समय में भेद दिखाई पड़ता है। यह काल द्रव्य की अनेकता का ही परिणाम है। यदि काल द्रव्य एक होता तो सर्वत्र एक ही समय प्रवर्तित रहता।

कुछ दार्शनिक निश्चयकाल को अस्वीकारते हुए मात्र व्यवहार काल को स्वीकारते हैं, किन्तु व्यवहार काल से ही निश्चय काल का अनुमान किया जाता है। जैसे किसी बालक में शेर का उपचार मुख्य शेर के सद्भाव में ही किया जाता है। उपचरित शेर वास्तविक शेर का परिचायक होता है, वैसे ही काल सम्बन्धी समस्त व्यवहार मुख्य काल के अभाव में नहीं हो सकते।

कालचक्र

व्यवहार काल की समष्टि ही युगों और कल्पों में समाविष्ट हो जाती है, जिस प्रकार वैदिक धर्म में काल के सत्‌युग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलयुग रूप से चार भेद किये हैं। इन चारों युगों की कल्पना धर्म की हानि-वृद्धि के आधार पर की जाती है और यह युग करोड़ों वर्ष का होता है। उसी प्रकार जैनदर्शन में धर्म की हानि-वृद्धि के आधार पर कालचक्र का वर्गीकरण किया गया है।

---

1. नि.सा., पृ. 31

काल दो विभागों में विभक्त है। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया ऊपर से नीचे की ओर तथा नीचे से ऊपर की ओर घूमता रहता है। जैन दर्शनकारों ने काल को उसी तरह दो विभागो में विभाजित किया है। एक नीचे से ऊपर की ओर आने वाला अर्थात् दुःख से सुख की ओर जाने वाला। दूसरा ऊपर से नीचे की ओर जाने वाला अर्थात् सुख से दुःख की ओर जाने वाला। कालचक्र पहिये की तरह ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर की ओर घूमता रहता है, अर्थात् सारी समष्टि सुख से दुःख की ओर तथा दुःख से सुख की ओर घूमती रहती है, नीचे से ऊपर आने वाले काल खण्ड को उत्सर्पिणी काल कहते हैं, क्योंकि इसमें बुद्धि, आयु, बल और शरीर की ऊँचाई आदि में क्रमशः उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है। ऊपर से नीचे की ओर जाने वाला थाल अवसर्पिणी काल कहलाता है, क्योंकि इसमें आयु, बुद्धि, बल का अवसर्पण अर्थात् ह्रास होता है। अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी दोनों को मिलाने पर कालचक्र पूरा होता है। ये दोनों मिलकर कल्प कहलाते हैं। इसी को युग भी कह सकते हैं।

इन दोनों कालों में सुख, दुःख, शरीर की ऊँचाई, आयु आदि में हीनाधिकता होती रहती है। अतः तरतमता की दृष्टि से दोनों के छह-छह भेद किये गये हैं। इस प्रकार पूरा युग अर्थात् कालचक्र बारह विभागों में विभाजित हो जाता है। उत्सर्पिणी काल चूँकि दुःख से सुख की ओर बढ़ता है, अतः उसके छह भेद हैं क्रमशः-

1. दुःखमा-दुःखमा
2. दुःखमा
3. दुःखमा-सुखमा
4. सुखमा-दुःखमा
5. सुखमा
6. सुःखमा-सुःखमा।

अवसर्पिणी नामक काल ठीक इसके विपरीत है। यह सुख से दुःख की ओर जाता है अतः उसके भी छह विभाग हैं-

1. सुखमा-सुखमा
2. सुखमा
3. सुखमा-दुःखमा

4. दुःखमा-सुखमा

5. दुःखमा

6. दुःखमा-दुःखमा।

इन छह कालों में जिनका दो बार उल्लेख है, वह सुख अथवा दुःख की उत्कृष्टता का प्रतीक है। एक बार कहना मध्यम अंश है तथा जो शब्द पहले हैं, उस काल में उसकी अधिकता होती है, अर्थात् सुखमा-दुःखमा काल में सुख की अधिकता तथा दुःख की न्यूनता होती है तथा दुःखमा-सुखमा में दुःख की अधिकता के साथ सुख की न्यूनता होती है।

1. सुखमा-सुखमा- इस काल में सुख ही सुख होता है। यह काल भोग-प्रधान होता है। मनुष्यों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता है। सारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक कल्प-वृक्षों से होती है। इस काल में नर-नारी युगल रूप से जन्म लेते हैं तथा अपने जीवन के अन्त काल में युगल पुत्र-पुत्रियों को जन्म देकर स्वर्गवासी हो जाते हैं। इनकी आयु एवं शरीर की ऊँचाई काफी अधिक रहती है।

2. सुखमा-सुखमा-सुखमा काल की तरह यह काल भी भोग-प्रधान होता है। इस काल में भी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्प-वृक्षों से ही होती है। नर-नारी युगल रूप से रहते हैं, किन्तु इनके सुख, आयु और शरीर की ऊँचाई में पूर्व की अपेक्षा कुछ कमी होने लगती है।

3. सुखमा-दुःखमा- यह भी भोग-युग कहलाता है। पूर्व की तरह नर-नारी युगल रूप से ही जन्म लेते हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति कल्प-वृक्षों से होती रहती है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा इनके सुखों में और कमी आ जाती है। शरीर की ऊँचाई तथा आयु भी घटकर कम हो जाती है। ये तीनों काल भोगकाल कहलाते हैं। इस काल में मनुष्यों को खेती-बाड़ी आदि कर्म नहीं करना पड़ता है। जीवन का प्रमुख आधार प्राकृतिक कल्प-वृक्ष ही होते हैं। इस युग में न धर्म होता है, न अधर्म अपितु, एक सहज, शान्तिपूर्ण, निराकुल जीवन-पद्धति होती है।

4. दुःखमा-सुखमा- इस युग से कर्म युग प्रारम्भ हो जाता है। इस काल में प्राकृतिक सम्पदाएँ प्रायः लुप्त हो जाती हैं। मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की

पूर्ति/जीवन-निर्वाह के लिए खेती आदि कर्म करने पड़ते हैं। नर-नारी अब युगल रूप से जन्म नहीं लेते, न ही कल्प-वृक्षों से आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है। इस हेतु मनुष्यों को प्रयास करना पड़ता है। इसी काल से विवाह आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं, समाज-व्यवस्था बनती है, यद्यपि कर्म करने से कुछ कष्ट होता है फिर भी अल्प परिश्रम से ही अधिक फल की प्राप्ति होने लगती है। इस काल में प्राकृतिक आपदाएँ नहीं आतीं। इसी काल में क्रमशः चौबीस तीर्थंकर जन्म लेकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। मनुष्यों में धार्मिक बुद्धि उपजती हैं, धर्म का आराधन कर वे मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। इस काल से ही नर से नारायण बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। दुःख की अधिकता और सुख की अल्पता होने से यह काल दुःखमा-सुखमा कहलाता है।

5. दुःखमा- यह पाँचवाँ काल है। सम्प्रति यही काल प्रवर्तमान है। इस काल में अधिक परिश्रम करना पड़ता है, मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं, लोभ, लालच बढ़ जाता है और उपज कम होती है, प्राकृतिक आपदाएँ भी आने लगती हैं। इस काल में मनुष्य भोगी-विलासी होने लगता है। धर्म की हानि होने लगती है। तीर्थंकर आदि महापुरुषों का अभाव हो जाता है। विशिष्ट ऋद्धि-सम्पन्न मुनि, तपस्वी भी नहीं होते हैं। फिर भी कुछ न कुछ धर्म तो बना ही रहता है।

6. दुःखमा-दुःखमा- इस काल में दुःख ही दुःख होता है। प्राकृतिक उपज समाप्त हो जाती है। प्रकृति विरुद्ध हो जाती है। अग्नि का भी अभाव हो जाता है। परिणामतः मनुष्यों की प्रवृत्ति अमानुषिक हो जाती है। सर्वत्र अराजकता फैल जाती है। धर्म-कर्म पूर्णरूप से विलुप्त हो जाते हैं तथा अन्त में सब कुछ प्रलय में समाप्त हो जाता है।

कुछ समय पश्चात् पुनः उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। उस समय व्यक्ति निर्बल और असंस्कारित रहते हैं। दुःख की बहुलता बनी रहती है। धीरे-धीरे प्रकृति अनुकूल होने लगती है। विद्या आदि का विकास होने पर सुख होने लगता है तथा आगे चलकर धर्म भी प्रकट होने लगता है। इस प्रकार दुःख से सुख की ओर जाते हुए इस काल में प्राकृतिक सुविधाओं में वृद्धि होने लगती है तथा क्रमशः सुखमा-सुखमा काल पुनः प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार यह कालचक्र कभी सुख से दुःख की ओर तथा कभी दुःख से सुख की ओर निरन्तर चलता/घूमता रहता है। इस काल-चक्र के व्यूह में फँसे समस्त जीव निरन्तर काल के गाल में समाते रहते हैं। वर्तमान काल दुःख की ओर यात्रा का काल है। धर्म के आश्रय से ही इस काल-चक्र के प्रभाव से ऊपर उठा जा सकता है।

पंचास्तिकाय

पूर्वोक्त छह द्रव्यों में काल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य आस्तिकाय कहलाते हैं।[1] अस्ति शब्द अस्तित्व का वाची है, काय का अर्थ शरीर होता है। जिन द्रव्यों में शरीर की तरह प्रदेशों की बहुलता होती हैं, उन्हें अस्तिकाय कहते हैं।[2] समस्त आकाश अनन्त प्रदेशी है। धर्म और अधर्म द्रव्य लोक-प्रमाण और असंख्यात प्रदेशी हैं। ये तीनों एक-एक ही हैं। जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक जीव लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर असंख्यात प्रदेशी है।[3] यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है फिर भी यह अन्य पुद्गलाणुओं से संयुक्त होकर सदृश परिणमन भी कर लेता है। अतः यह संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी भी बन जाता है। इस दृष्टि से पुद्गल को भी अस्तिकाय कहते हैं।[4] कालाणु असंख्य होते हुए भी एक-दूसरे से अबद्ध रहने के कारण एक प्रदेशी कहलाते हैं। इसी कारण काल को अस्तिकाय नहीं कहा जाता।[5] जैनदर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीव और पुद्गल पाँच द्रव्यों को पञ्चास्तिकाय के नाम से भी जाना जाता है।

उपर्युक्त छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल में गतिशीलता पायी जाती है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय और शुद्ध हैं। ये चारों इस लोक में इस तरह ठसाठस भरे हैं कि इनके स्थानान्तरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इनका शुद्ध परिणमन ही होता है। शुद्ध पुद्गल तथा जीव भी शुद्ध परिणमन करते हैं, किन्तु पुद्गल की विशेषता यह है कि एक बार शुद्ध होने के बाद वह पुनः स्कन्ध रूप अशुद्ध परिणमन भी कर लेता है। जीव एक बार शुद्ध होने के बाद फिर कभी अशुद्ध नहीं होता।

---

1. नित्यावस्थितान्यरूपाणि, त.सू.5
2. द्र.सं. 23
3. द्र.सं. 24
4. द्र.सं. 25
5. द्रव्य संग्रह 261

द्रव्यों की इस संख्या में कभी भी हानि-वृद्धि नहीं होती। समुद्रों में उठने वाली लहरों की तरह प्रतिक्षण परिवर्तित रहने के बाद भी अपने अस्तित्व को नहीं खोते तथा इनके प्रदेशों में हीनाधिकता भी नहीं होती। अतः इन्हें नित्य और अवस्थित कहते हैं।[1] पुद्गल को छोड़ शेष पाँच द्रव्य अरूपी/अमूर्त हैं, जीव के अतिरिक्त शेष पाँच जड़ हैं।

इस प्रकार यह विश्व इन छह द्रव्यों से बना है। यह अनादि निधन है। किसी के द्वारा बनाये नहीं गये हैं। इनका सञ्चालन किसी शक्ति या पदार्थ से नहीं होता, अपितु प्रत्येक द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाले स्वभाव से स्वयं अपना परिणमन करते हैं। जैनदर्शन के अनुसार यह सारी लोक-व्यवस्था इन छहों द्रव्यों के ही आश्रित है।

---

1. त.सू. 5/4

कर्म बन्ध की प्रक्रिया (आस्रव, बन्ध)

- आस्रव
- आस्रव के भेद
- आस्रव के कारण
- योग
- बन्ध
- आस्रव-बन्ध सम्बन्ध
- बन्ध के कारण
- बन्ध के भेद
- प्रकृति बन्ध
- प्रदेश बन्ध
- स्थिति बन्ध
- अनुभाग बन्ध

कर्म बन्ध की प्रक्रिया

जैनदर्शन के सात तत्त्वों में से आदि के दो तत्त्व अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का निरूपण पिछले अध्यायों में हो चुका है। इस अध्याय में तीसरे और चौथे क्रमशः आस्रव और बन्ध नामक तत्त्वों की चर्चा करेंगे। यह विषय कर्म-सिद्धान्त का है। इसे आधुनिक भाषा में जैन मनोविज्ञान भी कह सकते हैं। अतः जैन-दर्शन मान्य कर्म-सिद्धान्त का सामान्य परिचय भी इसी अध्याय में प्ररूपित करेंगे।

आस्रव

कर्मों के आगमन को ''आस्रव'' कहते हैं।[1] जैसे नाली आदि के माध्यम से तालाब आदि जलाशयों में जल प्रविष्ट होता है वैसे ही कर्म-प्रवाह आत्मा में आस्रव द्वार से प्रवेश करता है। आस्रव कर्म-प्रवाह को भीतर प्रवेश देने वाला द्वार है।[2] जैनदर्शन के अनुसार यह लोक पुद्गल वर्गणाओं से ठसा-ठस भरा है। उनमें से कुछ ऐसी पुद्गल वर्गणाएँ हैं जो कर्म-रूप परिणत होने की क्षमता रखती हैं, इन वर्गणाओं को कर्म वर्गणा कहते हैं।[3] जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों के निमित्त से ये कार्मण-वर्गणाएँ जीव की ओर आकृष्ट हो, कर्म रूप में परिणत हो जाती हैं और जीव के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है। कर्म वर्गणाओं का कर्म रूप में परिणत हो जाना ही आस्रव है।

जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा में मन, वचन और शरीर रूप तीन ऐसी शक्तियाँ हैं जिनसे प्रत्येक संसारी प्राणी में प्रति समय एक विशेष प्रकार का प्रकम्पन/परिस्पन्दन होता रहता है। इस परिस्पन्दन के कारण जीव के प्रत्येक प्रदेश, सागर में उठने वाली लहरों की तरह तरंगायित रहते हैं। जीव के उक्त परिस्पन्दन के निमित्त से कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप से परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं, इसे ''योग'' कहते हैं।[4] यह योग ही हमें कर्मों से

1. द्र.सं.टी. 28
2. त. वा. 6/2/4, पृ. 252
3. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/513
4. कायवाङ्मनः कर्मयोगः। त.सू. 6/1

जोड़ता है, इसलिए ''योग'' यह इसकी सार्थक संज्ञा है। योग को ही ''आस्रव'' कहते हैं। ''आस्रव'' का शाब्दिक अर्थ है ''सब ओर से आना'', ''बहना'', ''रिसना'' आदि। इस दृष्टि से कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म किसी भिन्न क्षेत्र से आते हों, अपितु हम जहाँ हैं, कर्म वहीं भरे पड़े हैं। योग का निमित्त पाते ही कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप से परिणत हो जाती हैं।[2] कर्म-वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणत हो जाना ही आस्रव कहलाता है।

मन, वचन और काय की प्रवृत्ति शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की होती है। शुभ प्रवृत्ति को शुभ योग तथा अशुभ प्रवृत्ति को अशुभ योग कहते हैं। शुभ योग शुभास्रव का कारण है तथा अशुभ योग से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।[3] विश्वक्षेम की भावना, सबका हित-चिन्तन, दया, करुणा और प्रेम-पूर्ण भाव शुभ-मनो-योग है। प्रिय सम्भाषण, हितकारी वचन, कल्याणकारी उपदेश ''शुभ-वचन-योग'' के उदाहरण हैं, तथा सेवा, परोपकार, दान एवं देव पूजा आदि ''शुभ-काय-योग'' के कार्य हैं। इनसे विपरीत प्रवृत्तियाँ ''अशुभ-योग'' कहलाती हैं।

आस्रव के भेद

आस्रव के द्रव्यास्रव और भावास्रव रूप दो भेद हैं। जिन शुभाशुभ भावों से कार्मण वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत होती हैं उसे ''भावास्रव'' कहते हैं, तथा उन वर्गणाओं का कर्म-रूप परिणत हो जाना ''द्रव्यास्रव'' है।[4] दूसरे शब्दों, में, जिन भाावों से कर्म आते हैं, वह भावास्रव है तथा कर्मो का आगमन द्रव्यास्रव कहलाता है। जैसे-छिद्र से नाव में जल प्रवेश कर जाता है, वैसे ही जीव के मन, वचन, काय के छिद्र से ही कर्म-वर्गणाएँ आकर्षित/प्रविष्ट होती हैं। छिद्र होना-भावास्रव का, तथा कर्म-जल का प्रवेश करना, द्रव्यास्रव का प्रतीक है।

सकषाय और निष्कषाय जीवों की अपेक्षा द्रव्य-आस्रव दो प्रकार का कहा गया है-1. साम्परायिक 2. ईर्यापथ।[5]

1. साम्परायिक आस्रव : ''साम्पराय'' का अर्थ ''कषाय'' होता है। यह ''संसार'' का पर्यायवाची है। क्रोधादिक विकारों के साथ होने वाले आस्रव

1. स आस्रवः, त.सू. 6/2
2. त.वृ. श्रुत 6/2
3. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य, तत्त्वार्थ सूत्र 6/3
4. सर्वार्थ सिद्धि 6/4 पृ. 246
5. त.सू. 6/4

को ''साम्परायिक-आस्रव'' कहते हैं। यह आस्रव आत्मा के साथ दीर्घकाल तक टिका रहता है। कषाय स्निग्धता का प्रतीक है। जैसे तेलसिक्त शरीर में धूल चिपककर दीर्घकाल तक टिकी रहती है, वैसे ही कषाय सहित होने वाला यह आस्रव भी दीर्घकाल अवस्थायी रहता है।

2. ईर्यापथ आस्रव : आस्रव का दूसरा भेद ईर्यापथ है। यह मार्ग गामी है। अर्थात् आते ही चला जाता है, ठहरता नहीं।[1] जिस प्रकार साफ-स्वच्छ दर्पण पर पड़ने वाली धूल उसमें चिपकती नहीं है, उसी प्रकार निष्कषाय, जीवन-मुक्त महात्माओं के योग मात्र से होने वाला आस्रव ''ईर्यापथ'' आस्रव कहलाता है। कषायों का अभाव हो जाने के कारण यह दीर्घकाल तक नहीं ठहर पाता। इसकी स्थिति एक समय की होती है।

जैनागम में आस्रव के पाँच कारण बताये गये हैं- **1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय, 5.योग।**[2]

1. मिथ्यात्व- विपरीत-श्रद्धा या तत्त्व ज्ञान के अभाव को मिथ्यात्व कहते हैं। विपरीत श्रद्धा के कारण शरीर आदि जड़ पदार्थों में चैतन्य बुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, अकर्म में कर्म बुद्धि आदि विपरीत मान्यता/प्ररूपणा पायी जाती है। मिथ्यात्व के कारण जीव को स्वपर विवेक नहीं हो पाता। पदार्थों के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। कल्याण मार्ग में सही श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दोनों प्रकार से होता है।[3] दोनों प्रकार के मिथ्यात्व में तत्त्व रुचि जागृत नहीं होती है। जीव कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और लोक मूढ़ताओं को ही धर्म मानता है। मिथ्यात्व ही दोषों का मूल है, इसलिये इसे जीव का सबसे बड़ा अहितकारी कहा गया है।

इस मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं-

(1) एकान्त मिथ्यात्व: वस्तु के किसी एक पक्ष को ही पूरी वस्तु मान लेना, जैसे पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है। अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को न समझ कर एकाङ्गी दृष्टि बनाये रखना। वस्तु के पूर्ण स्वरूप से अपरिचित रहने के कारण सत्यांश को ही सत्य समझ लेना।

---

1. त.वा. 6/4/7/ पृ. 258
2. द्रव्य संग्रह गा. 30
3. त.वा. 8/1/6

(2) विपरीत मिथ्यात्व: पदार्थ को अन्यथा मानकर अधर्म में धर्म बुद्धि रखना।

(3) विनय मिथ्यात्व: सत्य-असत्य का विचार किये बिना तथा विवेक के अभाव में जिस किसी की विनय को ही अपना कल्याणकारी मानना।

(4) संशय मिथ्यात्व: तत्त्व और अतत्त्व के बीच सन्देह में झूलते रहना।

(5) अज्ञान मिथ्यात्व: जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार के कारण विचार और विवेक-शून्यता से उत्पन्न अतत्त्व श्रद्धान।

2. अविरति: सदाचार या चरित्र ग्रहण करने की ओर रुचि या प्रवृत्ति न होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी तो, कषायों का ऐसा तीव्र उदय रहता है, जिससे वह आंशिक चरित्र भी ग्रहण नहीं कर पाता।

3. प्रमाद : ''प्रमाद-का अर्थ होता है'' ''असावधानी''। आत्मविस्मरण या अजागृति को प्रमाद कहते हैं। अधिक स्पष्ट करें तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में सावधानी न रखना प्रमाद है। कुशल कार्यों के प्रति अनादर या अनास्था होना भी प्रमाद है।[1] प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं- पाँच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय तथा प्रणय और निद्रा।[2]

पाँचों इन्द्रियों के विषय में तल्लीन रहने के कारण राज कथा, चोर कथा, स्त्री कथा और भोजन कथा आदि विकथाओं में रस लेने के कारण क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन चार कषायों से कलुषित होने के कारण तथा निद्रा, प्रणय आदि में मग्न रहने के कारण कुशल कार्यों में अनादर भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार की असावधानी से कुशल कर्मों के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है और हिंसा की भूमिका भी तैयार होती है। हिंसा का मुख्य कारण प्रमाद है।

4. कषाय : ''कषाय'' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। ''कष्+आय'' ''कष्'' का अर्थ ''संसार'' है, क्योंकि इसमें प्राणी विविध दुःखों के द्वारा कष्ट पाते हैं, आय का अर्थ है ''लाभ''। इस प्रकार कषाय का सम्मिलित अर्थ यह हुआ कि जीव के जिन भावों के द्वारा संसार की प्राप्ति हो, वे कषाय भाव हैं।[3]

---

1. कुशलेष्वनादरः प्रमादः - सर्वार्थ सिद्धिः 8। 1 पृष्ठ 291
2. पञ्च-संग्रह प्रा. 1। 15
3. कषः संसारः तस्य आयः प्राप्तयः कषायाः पञ्चसंग्रह स्वो. 3। 35 पृष्ठ 35

वस्तुतः कषायों का वेग बहुत ही प्रबल है। जन्म-मरण रूप यह संसार वृक्ष ''कषायों'' के कारण ही हरा-भरा रहता है। यदि कषायों का अभाव हो तो जन्म-मरण की परम्परा का यह विष-वृक्ष स्वयं की सूखकर नष्ट हो जाये। कषाय ही समस्त सुख-दुःखों का मूल है। कषाय को कृषक की उपमा देते हुए ''पञ्च-संग्रह'' में कहा गया है कि ''कषाय'' एक ऐसा कृषक है जो चारों गतियों की मेड़ वाले कर्म रूपी खेत को जोतकर सुख-दुःख रूपी अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करता है।[1] आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी कषाय की कर्मोत्पादकता के सम्बन्ध में लिखा है, जो दुःख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्म रूपी खेत का, कर्षण करते हैं, जोतते हैं, फलवान् करते हैं वे क्रोध मानादिक कषाय है।[2] क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से कषाय के चार भेद हैं। इनमें क्रोध और मान द्वेष-रूप हैं तथा माया और लोभ राग-रूप हैं। राग और द्वेष समस्त अनर्थों का मूल है।

5. योग : जीव के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन-प्रकम्पन या हलन-चलन होता है उसे योग कहते हैं।[3] (योग का प्रसिद्ध अर्थ यम नियमादि क्रियाएँ हैं, पर यह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है।)जैन दर्शन के अनुसार मन, वचन और काय से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्म-परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है। इसी अर्थ में इसे योग कहा जाता है। यह योग प्रवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है- मनोयोग, वचन-योग और काय-योग। जीव की कायिक (शरीर) प्रवृत्ति को काय-योग तथा वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति को क्रमशः वचन और मनोयोग कहते हैं।

प्रत्ययों के पाँच होने का प्रयोजन : आत्मा के गुणों का विकास बताने के लिए जैन-दर्शन में चौदह गुणस्थानों का निरूपण किया गया है। उनमें जिन दोषों के दूर होने पर आत्मा की उन्नति मानी गयी है, उन्हीं दोषों को यहाँ आस्रव के हेतु में परिगणित किया गया है।[4] ऊँचे चढ़ते समय पहले मिथ्यात्व जाता है, फिर अविरति जाती है, तदुपरान्त प्रमाद छूटता है, फिर कषाय और अन्त में योग

---

1. सुह दुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेइ जीवस्स।
   संसार-दूर-मेरं तेण कसाओत्ति णं विंति॥ पृष्ठ पञ्चसंग्रह 1/142
2. दुःखं-शस्यं कर्म-क्षेत्रं कर्षन्ति फलवत् कुर्वन्तीति
   कषायाः क्रोध-मान-माया-लोभाः - ध.पु. 6 I41
3. सर्वाथ सि. 6/1 पृ. 24
4. (अ) प्रयोजनश्च गुणस्थान-भेदेन बन्ध-हेतु विकल्प योजनं बोद्धव्यम्। **त.वृ. भास्करनन्दि - 453**
   (ब) विस्तरस्तु गुणस्थान क्रमापेक्षया पूर्वोक्तं चतुष्टयं, पंच वा कारणानि भवन्ति। **जैन दर्शन सार पृ. 44**

का सर्वथा निरोध होने पर आत्मा सब कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है। इसलिए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- यह क्रम रखा गया है। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि पूर्व-पूर्व के कारणों के रहने पर उत्तरोत्तर कारण अनिवार्य रूप से रहते हैं। जैसे मिथ्याव की उपस्थिति में शेष चारों कारण भी रहेंगे। किन्तु अविरति रहने पर मिथ्यात्व रहे यह कोई नियम नहीं है। भिन्न-भिन्न अधिकरणों की अपेक्षा ही उक्त प्रत्यय बताये गये हैं।

बन्ध

कर्म रूप परिणत पुद्गलों का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो जाना बन्ध है।[1] दो पदार्थों के मेल को बन्ध कहते हैं। यह सम्बन्ध धन और धनी की तरह का नहीं है, न ही गाय के गले में बन्धने वाली रस्सी की तरह का, वरन् बन्ध का अर्थ जीव और कर्म-पुद्गलों का मिलकर एकमेक हो जाने से है।। आत्मा के प्रदेशों में कर्म प्रदेशों का दूध में जल की तरह एकमेक हो जाना ही बन्ध कहलाता है।[2] जिस प्रकार सोने और ताँबे के संयोग से एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है, अथवा हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप दो गैसों के सम्मिश्रण से जल रूप एक विजातीय पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार बन्ध पर्याय में जीव और पुद्गलों की एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो न तो शुद्ध जीव में पायी जाती है, न ही शुद्ध पुद्गलों में।

इसका अर्थ यह नहीं है कि बन्धावस्था में जीव और पुद्गल कर्म सर्वथा अपने स्वभाव से च्युत हो जाते हैं तथा फिर उन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता। उन्हें पृथक् भी किया जा सकता है- जैसे मिश्रित सोने और ताँबे को गलाकर अथवा प्रयोग विशेष से जल को पुनः हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप में परिणत किया जा सकता है। उसी प्रकार कर्मबद्ध जीव भी अपने पुरुषार्थ जन्य प्रयोग के बल से अपने आपको कर्मों से पृथक् कर सकता है।

आस्रव-बन्ध सम्बन्ध

जीव के मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के निमित्त से कार्मण वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणत होना ''आस्रव'' कहलाता है, तथा आस्रवित कर्म-पुद्गलों का जीव

---

1. आस्रवैरात्त कर्मणः आत्मना संयोगः बन्धः, त.भा.हरि वृ, 1/3
2. आत्मकर्मणोरन्योन्य-प्रवेशानुप्रवेशात्मको बन्धः, सर्वा. सि. 1/4, पृ. 11

के रागद्वेष आदि विकारों के निमित्त से आत्मा के साथ एकाकार/एक रस हो जाने का नाम ही ''बन्ध'' है। बन्ध, आस्रवपूर्वक ही होता है। इसीलिए आस्रव को बन्ध का हेतु कहते हैं।[1] आस्रव और बन्ध दोनों युगपत् होते हैं। उनमें कोई समय भेद नहीं हैं।[2] आस्रव और बन्ध का यही सम्बन्ध है। सामान्यतया आस्रव के कारणों को ही बन्ध का कारण (कारण का कारण होने से) कह देते हैं, किन्तु बन्ध के लिए अलग शक्तियाँ कार्य करती हैं।

बन्ध के कारण

मूल रूप से दो ही शक्तियाँ कर्म बन्ध का कारण हैं- योग और कषाय। योग रूप शक्ति के कारण कर्म वर्गणाएँ जीव की ओर आकृष्ट होती हैं तथा रागद्वेष आदि रूप मनोविकार- कषायों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं, अर्थात् योग शक्ति के कारण कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप से परिणत होती हैं तथा कषायों के कारण उनका आत्मा के साथ संश्लेष रूप एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्मबन्ध में मूल रूप से दो शक्तियाँ योग और कषाय काम करती हैं।[3]

इन दोनों शक्तियों में से कषायों को गोंद की, योग को वायु की, कर्म को धूल की तथा जीव को दीवार की उपमा दी जाती है। दीवार गीली हो अथवा उस पर गोंद लगी हो तो वायु से प्रेरित धूल उस पर चिपक जाती है, किन्तु साफ-स्वच्छ दीवार पर वह चिपके बिना झड़कर गिर जाती है। उसी प्रकार योग रूपी वायु से प्रेरित कर्म भी कषाय रूपी गोंद युक्त आत्मप्रदेशों से चिपक जाती है। धूल की हीनाधिकता वायु के वेग पर निर्भर करती है तथा उनका टिके रहना गोंद की प्रगाढ़ता और पतलेपन पर अवलम्बित है। गोंद के प्रगाढ़ होने पर धूल की चिपकन भी प्रगाढ़ होती है तथा उसके पतले होने पर धूल की चिपकन भी अल्पकालिक होती है। उसी प्रकार योग की अधिकता से कर्म प्रदेश अधिक आते हैं तथा उनकी हीनता से अल्प। उत्कृष्ट योग होने पर कर्म प्रदेश उत्कृष्ट बँधते हैं तथा जघन्य होने पर जघन्य। उसी प्रकार यदि कषाय प्रगाढ़ होती हैं तो कर्म अधिक समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अधिक मिलता है। कषायों के मन्द होने पर कर्म भी कम समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अल्प

1. आस्रवो बन्ध-हेतु र्भवति जैनदर्शन सार, पृ. 44।
2. त.सू. 8/2 ।
3. द्रव्य संग्रह. 33

मिलता है। इस प्रकार योग और कषाय रूपी शक्तियाँ ही बन्ध के प्रमुख कारण हैं। इसलिये जैन धर्म में कषाय के त्याग पर जोर देते हुए कहा गया है कि ''जिन्हें बन्ध नहीं करना है वे कषाय न करें''।[1]

बन्ध के भेद

द्रव्य बन्ध और भाव बन्ध की अपेक्षा बन्ध के दो भेद किये गये हैं। जिन राग, द्वेष मोह आदि मनोविकारों से कर्मों का बन्ध होता है उन्हें ''भाव-बन्ध'' कहते हैं तथा कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना ''द्रव्य'' बन्ध है।''[2] भाव बन्ध ही द्रव्य बन्ध का कारण है, अतः उसे प्रधान समझकर उससे बचना चाहिए।

द्रव्य बन्ध के भेद : द्रव्य बन्ध के चार भेद किये गये हैं- 1. प्रकृति बन्ध, 2. प्रदेश बन्ध, 3. स्थिति बन्ध, 4. अनुभाग बन्ध।[3]

1. प्रकृति बन्ध- प्रकृति का अर्थ है स्वभाव/कर्मबन्ध के समय बँधने वाले कर्म परमाणुओं में बन्धन का स्वभाव निर्धारण होना प्रकृति बन्ध है। प्रकृति बन्ध यह निश्चित करता है कि कर्म-वर्गणा के ये पुद्गल आत्मा की ज्ञान-दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत/आच्छादित करेंगे।

2. प्रदेश बन्ध- बँधे हुए कर्म-परमाणुओं की मात्रा को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

3. स्थिति बन्ध- बँधे हुए कर्म जब तक अपना फल देने की स्थिति में रहते हैं, तब तक की काल मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं। सभी कर्मों की अपनी-अपनी स्थिति होती है। कुछ कर्म क्षण-भर टिकते हैं तथा कुछ कर्म अति दीर्घ काल तक आत्मा के साथ चिपके रहते हैं। उनके इस टिके रहने की काल-मर्यादा को ही ''स्थिति बन्ध'' कहते हैं। जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध में माधुर्य एक निश्चित कालावधि तक ही रहता है, उसके बाद वह विकृत होजाता है। उसी प्रकार प्रत्येक कर्म का स्वभाव भी एक निश्चित काल तक ही रहता है। यह मर्यादा ही स्थिति बन्ध है, जिसका निर्धारण जीव के भावों के अनुसार कर्म बँधते समय ही हो जाता है और कर्म तभी तक फल देते हैं, जब तक कि उनकी स्थिति होती है। इसे काल-मर्यादा भी कह सकते हैं।

---

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 35
2. द्र.सं. 32
3. (अ) त.सू. 8/3 (ब) पयादिट्ठिदि अणुभागा पदेस भेदा दु चदु विधो बन्धों ।द्र.सं. 33

4. अनुभाग बन्ध- कर्मों की फलदान-शक्ति को "अनुभाग बन्ध" कहते हैं। कर्मफल की तीव्रता मन्दता इसी पर अवलम्बित है।

प्रकृति बन्ध सामान्य है। अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म आ तो जाते हैं, किन्तु उनमें तरतमता अनुभाग बन्ध के कारण ही आती है। जैसे गन्ने का स्वभाव मीठा है, पर वह कितना मीठा है यह सब उसमें रहने वाली मिठास पर ही निर्भर है। ज्ञानावरणी कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढाँकना है, पर वह कितना ढाँके, यह उसके अनुभाग बन्ध की तरतमता पर निर्भर है। प्रकृति बन्ध और अनुभाग बन्ध में इतना ही अन्तर है।

अनुभाग बन्ध में तरतमता हमारे शुभाशुभ भावों के अनुसार होती रहती है। मन्द अनुभाग में हमें अल्प सुख-दुःख होता है तथा अनुभाग में तीव्रता होने पर हमारे सुख-दुःख में तीव्रता होती है। जैसे उबलते हुए जल के एक कटोरे से भी हमारा शरीर जल जाता है, किन्तु सामान्य गर्म जल से स्नान करने के बाद भी वैसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार तीव्र अनुभाग युक्त अल्पकर्म भी हमारे गुणों को अधिक घातते हैं तथा मन्द अनुभाग युक्त अधिक कर्म-पुञ्ज भी हमारे गुणों को घातने में उतने समर्थ नहीं हो पाते। इसी कारण चारों बन्धों में अनुभाग बन्ध की ही प्रधानता है।

इन चार प्रकार के बन्धों में प्रकृति-बन्ध और प्रदेश बन्ध योग से होते हैं, जबकि स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का कारण कषाय है।

इस प्रकार कर्मों से बँधा हुआ जीव विकारी होकर नाना योनियों में भटकता है। कर्म ही जीव को परतन्त्र करते हैं। संसार में जो विविधता दिखाई देती है, वह सब कर्म बन्ध जन्य ही है। आस्रव और बन्ध के स्वरूप को विशेष रूप से समझने के लिए कर्म-सिद्धान्त पर विचार करना आवश्यक है। उसके बिना इस विषय को समझपाना असम्भव है।

कर्म और उसके भेद-प्रभेद कर्म

- कर्म का अस्तित्व
- कर्म का स्वरूप
- जैन-दर्शन में कर्म का स्वरूप
- अमूर्त का मूर्त से बन्ध कैसे?
- अनादि का अन्त कैसे?
- कैसे बँधते हैं कर्म?

कर्म के भेद-प्रभेद

- कर्म के मूल भेद
- कर्म के उत्तर भेद
- ज्ञानावरणीय कर्म
- दर्शनावरणीय कर्म
- वेदनीय कर्म
- वेदनीय कर्म-बन्ध के कारण
- मोहनीय कर्म
- आयु कर्म
- आयु कर्म के बन्ध सम्बन्धी विशेष नियम
- आयु बन्ध के कारण
- नाम कर्म
- नाम कर्म के बन्ध के कारण
- गोत्र कर्म
- गोत्र कर्म के बन्ध के कारण
- अन्तराय कर्म
- अन्तराय कर्म के बन्ध के कारण

कर्म और उसके भेद-प्रभेद

कर्म का अस्तित्व

इस विशाल जगत् और अपने जीवन में जब हम झाँककर देखते हैं, तो हमें अनेक रूप विविधतायें दिखाई पड़ती हैं। जगत् विविधताओं का केन्द्र है तथा जीवन विषमताओं से भरा है। जगत् में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई निर्धन, कोई धनवान्, कोई ऊँच, कोई नीच, कोई पण्डित, कोई मूर्ख, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई दुर्बल, कोई बलवान्, कोई उन्मत्त, कोई विद्वान्, कहीं जीवन, कहीं मरण, कोई बड़ा, कोई छोटा आदि अनेक विविधताएँ पायी जाती हैं। सर्वत्र वैचित्र्य ही दिखता है तथा जीवन में भी अनेक विषमतासँ हैं। हमारा जीवन भी आशा-निराशा, सुख-दुःख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता, हर्ष-विषाद, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि अनेक परिस्थितियों से गुजर रहा है। जीवन में कहीं समरूपता नहीं है। जगत् की इस विविधता और जीवन की विषमता का कोई न कोई तो हेतु होना ही चाहिए। वह हेतु है ''कर्म''। कर्म ही जगत् की विविधता और जीवन की विषमता का जनक है।

कर्म का स्वरूप

जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। सामान्यतः कर्म सिद्धान्त का यही अभिप्राय है। कर्म को सभी भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं सिर्फ चार्वाक को छोड़कर, क्योंकि वह तो आत्मा के अस्तित्व को हीं नहीं स्वीकारते। इस सिद्धान्त में एक मत होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उसके फल देने के सम्बन्ध में सबकी अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं। - ''कर्म'' का शाब्दिक अर्थ ''कार्य'', प्रवृत्ति अथवा क्रिया होता है, अर्थात् जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे-हँसना, रोना, चलना, दौड़ना, खाना, पीना आदि।[1] व्यवहार में

1. त. वा. 6/3

काम-धन्धे या व्यवसाय को ''कर्म'' कहा जाता है। कर्मकाण्डी मीमांसक, यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं। स्मृतियों में चार वर्णों और चार आश्रमों के योग्य कर्त्तव्यों को कर्म कहा गया है। पौराणिक लोग व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म मानते हैं।[1] वैय्याकरण, जो कर्त्ता के लिए इष्ट हो, उसे कर्म मानते हैं।[2] न्याय-शास्त्र में उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिए ''कर्म'' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[3] योग-दर्शन में संस्कार को ''अपूर्व वासना'' अथवा ''कर्म'' कहा जाता है। बौद्ध-दर्शन में कर्म वासना रूप है। जैनदर्शन में कर्मविषयक मान्यता इन सबसे पृथक् है। जैन सिद्धान्त में जो कर्म-सिद्धान्त का विवेचन मिलता है वह अत्यन्त विशद तथा अर्थपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म का अर्थ कायिक क्रियाकाण्डों एवं अन्य प्रवृत्तियों से नहीं है। न ही बौद्धों और वैशेषिकों की तरह संस्कार मात्र है, अपितु कर्म एक पृथक् सत्ता भूतपदार्थ भी है।

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप

जैनदर्शन में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड माना गया है। तदनुसार, यह लोक तेईस प्रकार की पुद्गल-वर्गणाओं से व्याप्त है। उनमें से कुछ पुद्गल-परमाणु कर्म रूप से परिणत होते हैं, उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं। कुछ शरीर रूप में परिणत होते हैं वे नोकर्म-वर्गणा कहलाते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से इन्हें ग्रहण करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है, जब जीव के साथ कर्म सम्बद्ध हो तथा जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होते हैं, जब मन, वचन या काय की प्रवृत्ति हो। इस प्रकार कर्म से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से कर्म की परम्परा अनादि से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्यकारण सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को ''द्रव्य-कर्म'' तथा रागद्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को ''भाव-कर्म'' कहा गया है।[4] द्रव्य कर्म और भाव कर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध वृक्ष और बीज के समान अनादि है।

जगत् की विविधता का कारण उक्त द्रव्य-कर्म ही है, तथा राग-द्वेषादि मनोविकार रूप भाव-कर्म ही जीवन में विषमता उत्पन्न करते हैं।

1. जैन धर्म दर्शन, पृ. 442
2. कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म- अष्टाध्यायी 1/1/49
3. उत्क्षेपणमवक्षेपणमांकुंचन- प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। -**जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष 2/28**
4. गो. क. का. 6

अमूर्त का मूर्त से बन्ध कैसे?

इस प्रसंग में यह जिज्ञासा सहज ही हो जाती है कि जीव चेतनावान्, अमूर्त पदार्थ है तथा कर्म पौद्गलिक पिण्ड। तब मूर्त का अमूर्त आत्मा से बन्ध कैसे होता है? मूर्तिक का मूर्तिक से सम्बन्ध तो उचित है, किन्तु मूर्तिक का अमूर्तिक से सम्बन्ध कैसे होता है?

इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यों ने अनेकान्तात्मक शैली में दिया है। जैन दर्शन में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नहीं माना गया है। उसे अनादि बन्धन-बद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बन्ध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इसी कारण अनादि बन्धन-बद्धता होने से उसका मूर्त कर्मों के साथ बन्ध होता जाता है।[1]

जिस प्रकार घी मूलतः दूध में उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के बाद उसे पुनः दूध रूप में परिणत करना असम्भव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण मूलतः पाषाण में पाया जाता है, परन्तु एक बार पाषाण से पृथक् होकर स्वर्ण बन जाने पर उसे उस प्रकार की किट्टिमा के साथ मिला पाना असम्भव है। उसी प्रकार जीव भी मूलतः कर्मबद्ध (सशरीरी) पाया जाता रहा है, परन्तु एक बार कर्मों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुनः इसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो पाना असम्भव है। जीव मूलतः अमूर्तिक या कर्म रहित नहीं है, बल्कि कर्मों से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण वह मूलतः अमूर्तिक न होकर, कथञ्चित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मों के साथ बन्ध हो जाना, विरोध को प्राप्त नहीं होता। हाँ, एक बार मुक्त हो जाने पर अवश्य वह सर्वथा अमूर्तिक हो जाता है और तब कर्म के साथ उसके बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

कब से बाँधा है कर्म?

जैसे स्वर्ण-पाषाण को खदान से निकालने पर वह कालिमा और किट्टिमा से संयुक्त विकृति-रूप होता है। उसे रासायनिक प्रयोगों से पृथक् कर शुद्ध किया जाता है, उसी तरह संसारी जीवों का कर्मों से अनादि-सम्बन्ध है। जैन-दर्शन के

---

1. द्र.सं.गा. 7

अनुसार संसार में रहने वाला प्रत्येक जीव कर्मों से बँधा हुआ है। साधना और तपश्चर्या के बल पर कर्मों को अलग कर आत्मा से परमात्मा बनाया जा सकता है। जीव कभी शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि वह शुद्ध था तो फिर उसके अशुद्ध होने का कोई कारण ही नहीं बनता। यदि एक बार शुद्ध होकर भी वह अशुद्ध होता है, तब तो मुक्ति के उपाय की बात ही निरर्थक हो जाती है।

इसी बात का समाधान करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि ''जीव और कर्म का अनादि से सम्बन्ध है। इन कर्मों के कारण ही संसार की नाना योनियों में भटकता हुआ यह जीव सदा से दु:खों का भार उठाता आ रहा है।'' कर्म-बन्ध और संसार परिभ्रमण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने अपने ''पञ्चास्तिकाय'' ग्रन्थ में कहा है कि-

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सु गदि॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायन्ते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो दु रागो व दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावं संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेंहिं भणिदं अणादि णिहणो सणिहणो वा॥[2]

संसार में जितने भी जीव हैं, उनमें रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से कर्म बँधते हैं। कर्मों से चार गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है तथा शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं, इनसे विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्र में भ्रमण करते हुए जीव के भावों से कर्मों का बन्ध तथा कर्म-बन्ध से जीव के भाव, सन्तति की अपेक्षा अनादि से चला आ रहा है। यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनन्त है तथा भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि सान्त।[3]

---

1. पञ्चास्तिकाय 128-30
2. संसार से मुक्त होने की योग्यता वाले संसारी जीवों को भव्य तथा वैसी योग्यता से रहित जीवों को अभव्य कहते हैं। भव्य जीव अपने पुरुषार्थ से अनादिकालीन कर्म सन्तति को उच्छिन्न कर सकते हैं, जबकि अभव्य जीवों के लिए वह सम्भव नहीं है। इसी अपेक्षा से भव्य जीवों की सन्तति को अनादि सान्त तथा अभव्यों को अनादि अनन्त कहा गया है।
3. समयसार गाथा 253-255

अनादि का अन्त कैसे?

ऐसा नहीं है कि इस अनादि कर्म-बन्ध का अन्त असम्भव ही हो। इस विवेचन में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कर्म-चक्र राग-द्वेष के निमित्त से घड़ी यन्त्र की भाँति सतत चलता रहता है तथा जब तक राग-द्वेष और मोह के वेग में कमी नहीं आती तब तक यह कर्म-चक्र निर्बाध रूप से चलता रहता है। राग-द्वेष के अभाव में क्रियाएँ कर्म-बन्ध नहीं करातीं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ''समयसार'' में कहा है कि कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्त कर धूल-पूर्ण स्थान में जाकर शस्त्र सञ्चालन करता है, और ताड़, केला, बाँस आदि के वृक्षों का छेदन करता है, उस समय वह धूल उड़कर उसके शरीर से चिपक जाती है। वस्तुतः देखा जाये तो उस व्यक्ति का शस्त्र-सञ्चालन शरीर में धूल चिपकाने का सही कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप ही है, जिससे धूल का सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि जब व्यक्ति बिना तेल लगाए पूर्वोक्त क्रियाएँ करता है तो धूल नहीं लगती। इसी प्रकार रागद्वेष रूपी तेल से लिप्त आत्मा में कर्म-रज आकर चिपकती है और आत्मा को मलिन बनाकर इतना पराधीन कर देती है कि अनन्त-शक्ति सम्पन्न आत्मा, कठपुतली की तरह, कर्मों के इशारे पर नाचा करता है।[1]

जीव और कर्म के सम्बन्ध को सन्तति की अपेक्षा अनादि मानते हुए भी पर्याय की दृष्टि से सादि-सम्बन्ध माना गया है। बीज और वृक्ष के सम्बन्ध पर दृष्टि डालें, तो सन्तति की अपेक्षा उनका कारण-कार्य भाव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे आम के वृक्ष का कारण हम उस बीज को कहेंगे, यदि हमारी दृष्टि प्रतिनियत आम के पेड़ तक ही जाती है तो हम उसे उस बीज से उत्पन्न कहकर सादि-सम्बन्ध सूचित करेंगे। किन्तु इस बीज के उत्पादक अन्य वृक्ष तथा अन्य वृक्ष के जनक अन्य बीज की परम्परा पर दृष्टि डालें तो इस दृष्टि से यह सम्बन्ध अनादि मानना होगा। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जो अनादि है उसका अन्त नहीं हो सकता, किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। यह कोई अनिवार्य नहीं है कि अनादि वस्तु अनन्त ही है। वह अनन्त भी हो सकती है तथा विरोधी कारण के आ जाने पर अनन्त होने वाले सम्बन्ध का मूलोच्छेद भी किया जा सकता है, कहा भी है-

दग्धे बीजे यथात्यन्ते प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥[1]

अर्थात् जिस प्रकार बीज के जल जाने पर पुनः नवीन वृक्ष के निमित्त बनने वाला अंकुर उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म हो जाने पर भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार बीज और वृक्ष की सन्तति की तरह जीव और कर्मों का परस्पर निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध है। जीव के अशुद्ध परिणामों के निमित्त से पुद्गल-वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत हो जाती हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव के अशुद्ध परिणाम होते हैं। फिर भी जीव कर्म-रूप नहीं होता तथा कर्म जीव-रूप नहीं होता। दोनों के निमित्त से संसार-चक्र चलता रहता है।[2]

कैसे बँधते हैं कर्म?

जैनदर्शन के अनुसार लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ कर्म योग्य पुद्गल परमाणु न हो। जीव के मन, वचन और काय के निमित्त से अर्थात् जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण कर्म योग्य परमाणु चारों ओर से आकृष्ट हो जाते हैं तथा कषायों के कारण आत्मा से चिपक जाते हैं। इस प्रकार कर्म-बन्ध के दो ही कारण माने गये हैं- योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं तथा क्रोधादिक-विकार कषाय के अन्तर्गत हैं। वैसे-कषायों के अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु स्थूल रूप से दो भेद किये गये हैं- ''राग और द्वेष''। राग-द्वेष युक्त शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति ही कर्म-बन्ध का कारण है। वैसे तो सभी क्रियाएँ कर्मोपार्जन का हेतु बनती हैं, किन्तु जो क्रियाएँ कषाय-युक्त होती हैं उनसे होने वाला बन्ध बलवान् होता है, जबकि कषायरहित क्रियाओं से होने वाला बन्ध निर्बल और अल्पायु होता है। इसे नष्ट करने में अल्प शक्ति एवं अल्प समय लगता है। इस प्रकार योग एवं कषाय कर्म बन्ध के प्रमुख कारण हैं।

1. त.वा. 10/9 पर उद्धृत, पृ. 725
2. समयसार 86-87

कर्म के भेद-प्रभेद

कर्म के मूल भेद

जैन कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणियों को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। वे हैं- 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अन्तराय।[1]

इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं, क्योंकि इनसे आत्मा के गुणों का घात होता है। शेष चार कर्म अघातिया हैं, क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करते, बल्कि आत्मा को एक ऐसा रूप प्रदान करते हैं जो उसका निजी नहीं है, अपितु वैभाविक है।

ज्ञानावरण कर्म से आत्मा के ज्ञान गुण का घात होता है। दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन-गुण का घात करता है। मोहनीय कर्म जीव के सम्यक् श्रद्धा और चरित्र-गुण को नष्ट करता है। अन्तराय कर्म से जीव का वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है। वेदनीय कर्म जीव को सुख-दु:ख का वेदन/अनुभव कराता है। आयु कर्म से आत्मा को नरक आदि गतियों की प्राप्ति होती है। नाम कर्म के कारण जीव को चित्र-विचित्र शरीर और गतियाँ मिलती हैं तथा गोत्र कर्म प्राणियों में उच्चत्व और नीचत्व का कारण है। इन आठ कर्मों के कार्यों को दर्शाने के लिए आठ उदाहरण दिये गये हैं।[2] ''ज्ञानावरणी'' कर्म का कार्य कपड़े की पट्टी की तरह है। जिस प्रकार आँख पर बँधी पट्टी दृष्टि की प्रतिबन्धक है, वैसे ही ज्ञानवरण-कर्म-ज्ञान-गुण को प्रकट नहीं होने देता। दर्शनावरणी कर्म प्रतिहारी की तरह है। जिस प्रकार द्वारपालों की सहमति के बिना किसी महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दर्शनावरण-कर्म जीव को अनन्त-दर्शन करने से

1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड-1
2. गोम्मट सार कर्म काण्ड- 21

रोकता है। ''वेदनीय'' कर्म तलवार की धार पर लगे शहद के स्वाद की तरह होता है, जो एक क्षण को सुख देता है, पर उसका परिणाम दुःखद होता है। ''मोहनीय'' कर्म मद्य की तरह है। जिस प्रकार मद्य के नशे में व्यक्ति को अपने हित-अहित का विचार नहीं रहता तथा वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार किये बिना कुछ भी आचरण करता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म भी जीव को विवेक-शून्य कर उसकी आचार और विचार शक्ति को विकारी बना देता है। ''आयु'' कर्म खूँटे की तरह है। जिस तरह खूँटे से बँधा पशु उसके चारों ओर ही घूमता है, वैसे ही आयु कर्म से बँधा जीव उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। ''नाम'' कर्म चित्रकार की तरह है। जिस प्रकार चित्रकार छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे अनेक प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है, उसी प्रकार नाम कर्म जीव के चित्र-विचित्र- शरीर का निर्माण करता है। ''गोत्र'' कर्म कुम्हार की तरह है। जिस प्रकार कुम्हार छोटे-बड़े बर्तनों को निर्माण करता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म जीव को उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराता है। ''अन्तराय'' कर्म भण्डारी की तरह है। जिस प्रकार भण्डारी की सहमति के बिना राजकोष से धन नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार अन्तराय कर्म जीव की अनन्त-शक्ति का प्रच्छादक है।

इस प्रकार ये आठ कर्म के मूल भेद हैं, किन्तु इनकी उत्तर प्रकृतियाँ (प्रभेद) 148 हो जाती हैं।

कर्म के उत्तर भेद

1. ज्ञानावरण कर्म- ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को आच्छादित/आवृत करता है, जिसके कारण इस संसार अवस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। जिस प्रकार देवता की मूर्ति पर ढका हुआ वस्त्र देवता को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को आच्छादित किये रहता है।[1] इतना होने पर भी वह जीव की ज्ञान-शक्ति को पूर्णरूप से आवृत नहीं कर पाता। जिस प्रकार दिन में सघन-घटाओं से आच्छादित रहने पर भी सूर्य-प्रकाश का अभाव पूर्णरूप से नहीं हो पाता, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का तीव्रतम उदय होने पर भी वह जीव की ज्ञान-शक्ति को पूरी तरह से नष्ट/आवृत नहीं कर सकता, जिससे कि जीव सर्वथा ज्ञान-शून्य होकर जड़वत् हो जाये। ज्ञानावरण कर्म के पाँच उत्तर भेद

1. वृहद् द्रव्य संग्रह 35 टीका

हैं- 1. मति-ज्ञानावरण, 2. श्रुत-ज्ञानावरण, 3. अवधि-ज्ञानावरण, 4. मनःपर्यय-ज्ञानावरण, 5. केवल-ज्ञानावरण।[1] प्रथम चारों कर्म क्रमशः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को आवृत तथा हीनाधिक करते हैं और पाँचवाँ केवल ज्ञानावरण कर्म केवलज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता।

ज्ञानावरण कर्म-बन्ध के कारण- निम्न कारणों से ज्ञानावरण कर्म का विशेष बन्ध होता है[2]-

1. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेष रखने से।
2. ज्ञान-दाता गुरुओं का नाम छिपाने से।
3. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों का नाश करने से।
4. ज्ञान के साधनों की विराधना करने से।
5. किसी के ज्ञान में बाधा डालने से।

2. दर्शनावरण कर्म- पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का अवभास करना दर्शन है। दर्शनावरण कर्म उक्त दर्शन गुण को आवृत करता है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार बन्द हो जाता है। इसकी तुलना राजा के द्वारपाल से की जा सकती है। द्वारपाल राजा से मिलने में किसी व्यक्ति को बाधा पहुँचाता है। जिस प्रकार द्वारपाल की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति राजा से नहीं मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म वस्तुओं के सामान्य बोध को रोकता है। पदार्थों को देखने में अड़चन डालता है। इसकी नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं- 1. चक्षु-दर्शनावरण, 2. अचक्षु दर्शनावरण, 3. अवधि दर्शनावरण, 4. केवल दर्शनावरण, 5. निद्रा, 6. निद्रा-निद्रा, 7. प्रचला, 8. प्रचला-प्रचला, 9. स्त्यान-गृद्धि।[3]

''चक्षु दर्शनावरण कर्म'' नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य अवबोध को रोकता है। चक्षु के अलावा शेष इन्द्रियों से होने वाले सामान्य बोध को ''अचक्षु-दर्शनावरण'' रोकता है। ''अवधि-दर्शनावरण'' इन्द्रिय और मन के बिना होने वाले रूपी पदार्थ के सामान्य बोध को रोकता है तथा केवल दर्शनावरण कर्म सर्वद्रव्यों और पर्यायों के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को व्यक्त नहीं होने देता।

---

1. त.सू. 8/6 2. त.सू. 8/10 3. त.वा. 8/13-14-15

हल्की नींद को निद्रा कहते हैं। ऐसी नींद कि प्राणी आवाज लगाते ही जाग उठे, ''निद्रा कर्म'' से उत्पन्न होती है। ''निद्रा-निद्रा'' कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, जिससे प्राणी बड़ी मुश्किल से जाग पाता है।[1] प्रचला कर्म के उदय से जीव खड़े-खड़े या बैठे-बैठे ही सो जाया करता है।[2] प्रचला-प्रचला कर्म के उदय से नींद में मुख से लार बहने लगती हे तथा हाथ-पैर आदि चलायमान हो जाते हैं।[3] ''स्त्यान-गृद्धि कर्म'' के उदय से ऐसी प्रगाढ़तम नींद आती है, जिससे व्यक्ति दिन में या रात्रि में उठना-बैठना, चलना आदि अनेक क्रियायें निद्रावस्था में ही सम्पन्न कर देता है।[4]

निद्रा में आत्मा का अव्यक्त उपयोग होता है, अर्थात् उसे वस्तु का सामान्य आभास नहीं हो सकता। इसलिए ''निद्रा'' के पाँच भेदों को दर्शनावरण कर्म के उत्तर भेदों में परिगणित किया गया है। चक्षु-दर्शनावरण आदि चारों दर्शनावरणी-कर्म दर्शन-शक्ति की प्राप्ति में बाधक होते हैं।

दर्शनावरण कर्म-बन्ध के कारण- जिन कारणों से ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है, दर्शनावरण कर्म भी उन्हीं साधनों से बँधता है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ ज्ञान और ज्ञान के साधन न होकर, दर्शन और दर्शन के साधनों के प्रति वैसा व्यवहार होने पर, दर्शनावरणी बन्धता है।[5]

3. वेदनीय कर्म- जो कर्म-जीव को सुख या दुःख का अनुभव कराता है, वह वेदनीय कर्म है।[6] यह दो प्रकार का होता है-1. साता वेदनीय एवं 2. असाता वेदनीय। जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों के संयोग से सुख का अनुभव होता है, वह ''साता'' वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों का संयोग होने पर दुःख का संवेदन होता है वह ''असाता'' वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म की तुलना मधु से लिप्त तलवार से की गयी है। जिस प्रकार शहद से लिप्त तलवार की धार को चाटने से पहले अल्प-सुख और फिर अधिक दुःख होता है, वैसे ही पौद्गलिक सुख में दुःखों की अधिकता होती है। मधु को चाटने के समान, साता-वेदनीय है ओर जीभ कटने की तरह असाता-वेदनीय है।[7]

---

1. (अ) गो. कर्मकाण्ड जी.त.प्र.गा.23-24
   (ब) सुख पडि बोहा निद्धा, निद्धा निद्धा य दुक्ख पडिबोहा। - कर्म विपाक
2. कर्म काण्ड गा.2
3. कर्म काण्ड 24
4. कर्म काण्ड 23
5. त.सू. 6/10
6. सर्वार्थ सिद्धि पृ. 296
7. वृहद् द्रव्य संग्रह टी. गा. 33

वेदनीय कर्म-बन्ध के कारण- सभी प्राणियों पर अनुकम्पा रखने से, व्रतियों की सेवा करने से, दान देने से, हृदय में शान्ति और पवित्रता रखने से, साधुओं या श्रावकों के व्रत पालन करने से, कषायों को वश में रखने से साता-वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[1]

इसके विपरीत, स्वपर को दुःख देने से, शोकमग्न रहने से, किसी को पीड़ा पहुँचाने आदि आचरण करने से दुःख के कारणभूत असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[2] असाता वेदनीय कर्म के फलस्वरूप देह सदा रोग-पीड़ित रहती है। तथा बुद्धि और शुभ क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। यह प्राणी अपने हित के उद्योग में तत्पर नहीं हो सकता।

4. मोहनीय कर्म- जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है, वह मोहनीय कर्म है।[3] इस कर्म के कारण जीव मोह ग्रस्त होकर संसार में भटकता है। मोहनीय कर्म संसार का मूल है। इसलिए इसे ''कर्मों का राजा'' कहा गया है। समस्त दुःखों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। इसीलिए इसे ''अरि'' या ''शत्रु'' भी कहते हैं। अन्य सभी कर्म मोहनीय के अधीन हैं। मोहनीय कर्म राजा है, तो शेष कर्म प्रजा। जैसे राजा के अभाव में प्रजा कोई कार्य नहीं कर सकती, वैसे ही मोहनीय के अभाव में अन्य कर्म अपने कार्य में असमर्थ रहते हैं। यह आत्मा के वीतराग-भाव तथ शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा राग-द्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यह कर्म स्वपर-विवेक एवं स्वरूप-रमण में बाधा डालता है।[4]

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गयी है। जैसे मदिरा पीने से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नहीं रहता। वह हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो पाता। वह संसार के विकारों में उलझ जाता है।[5]

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से मोहनीय कर्म दो प्रकार का है[6]-

---

1. त.सू. 6/12
2. त.सू. 6/11
3. सर्वा. सि. 8/4
4. ध.पु.1, पृ. 45
5. द्र.सं.टी.गा. 33
6. ष. खं. 6/1.9.1, सू. 20, पृ. 37

(क) दर्शन मोहनीय- यहाँ ''दर्शन'' का अर्थ-तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप आत्म-गुण है।[1] दर्शन मोहनीय कर्म आत्मा के दर्शन गुण/श्रद्धान को विकारग्रस्त बना देता है। इस कर्म के उदय से व्यक्ति अपने सम्यक् स्वरूप को भलीभाँति पहिचान नहीं पाता है। जैसे मदिरा पीने से व्यक्ति की बुद्धि मुर्च्छित हो जाती है, वैसे ही इस कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता है। वह हित-अहित, निज-पर का भेद नहीं कर पाता है। परिणामतः वह दिग्मूढ़ बनकर घातक इन्द्रिय विषयों को ही प्रिय मानने लगता है। शरीर, स्त्री, धन संतति जैसी पर वस्तुओं के प्रति घोर ममता का शिकार हो जाता है। वह सांसारिक मोहजाल में पड़कर मोह लक्ष्य से दूर हो जाता है।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं- 1. मिथ्यात्व, 2. सम्यक्-मिथ्यात्व, 3. सम्यक्त्व प्रकृति।

(1) मिथ्यात्व कर्म- जो कर्म तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न कराता है, वह ''मिथ्यात्व'' कर्म है। इस कर्म के उदय से जीव की वह मूढ़ अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिससे वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा तिरोहित हो जाती है।

(2) सम्यक्-मिथ्यात्व- यह कर्म तत्त्व श्रद्धा में दोलायमान स्थिति उत्पन्न कराता है। इस कर्म के उदय से न तत्त्व के प्रति रुचि रहती है, न अतत्त्व के प्रति। इसलिए इसे मिश्र-मोहनीय कर्म भी कहते हैं। यह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित रूप है।

(3) सम्यक्त्व प्रकृति- जो कर्म सम्यक्त्व को तो नहीं रोकता, किन्तु उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न करता है, वह ''सम्यक्त्व'' मोहनीय कर्म है।

इस प्रकार मित्यात्व-प्रकृति अश्रद्धा रूप होती है तथा सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति श्रद्धा और अश्रद्धा से मिश्रित होती है तथा सम्यक्त्व-प्रकृति से श्रद्धा में शिथिलता या अस्थिरता होती है, जिसके कारण चल, मलिन और अगाढ़ ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। यह प्रकृति सम्यक्त्व का घात तो नहीं करती, परन्तु शंका आदि दोषों को उत्पन्न करती है।[2]

---

1. ध.पु. 6/38
2. जै सि. कोष, 4/371

(ख) चारित्र मोहनीय : चरित्र मोहनीय कर्म आत्मा के चारित्र गुण को विकृत कर देता है। यह कर्म जीव की सन्मार्ग यात्रा में बाधा उपस्थित करता है। इस कर्म के उदय से जीव के आचरण में विकार आ जाता है। वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे आर्दशों को अपना नहीं पाता। यह कर्म आत्मा को राग द्वेष आदि विकारों में उलझाकर स्वरूप रमण में बाधा डालता है। कषाय-वेदनीय और नोकषाय-वेदनीय के भेद से चारित्र मोहनीय के भी दो भेद है।[1] कषाय वेदनीय मुख्य रूप से चार प्रकार का है-

1. क्रोध, 2. मान, 3. माया और 4. लोभ।

क्रोध आदि चारों कषाय तीव्रता व मन्दता की दृष्टि से चार-चार प्रकार की होती हैं-अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन। इस प्रकार कषाय वेदनीय के कुल सोलह भेद हो जाते हैं,[2] जिनके उदय से क्रोधादिक भाव होते हैं।

(अ) अनन्तानुबन्धी- अनन्तानुबन्धी के प्रभाव से जीव को अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करना पड़ता है। इसके उदय में सक्यक्त्व और चारित्र दोनों ही नहीं हो पाते।[3]

(ब) अप्रत्याख्यान- ''प्रत्याख्यान'' का अर्थ होता है ''त्याग''। जिस कषाय के उदय से ईषत् त्याग अर्थात् देश संयम भी ग्रहण न किया जा सके, वह अप्रत्याख्यान कषाय कहलाती है।[4]

(स) प्रत्याख्यान- जिस कषाय के उदय से सकल-संयम को ग्रहण न किया जा सके उसका नाम ''प्रत्याख्यान'' कषाय है।[5]

(द) सञ्जवलन- जिस कषाय के उदय से सकल-संयम तो हो जाए, किन्तु आत्म-स्वरूप में स्थिरता रूप यथाख्यात चारित्र न हो, उसे ''सञ्ज्वल'' कषाय कहते हैं।[6]

क्रोध चतुष्क- उक्त अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की शक्ति में तरतमता है। इन्हें जैनाचार्यों ने विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट किया है। अनन्तानुबन्धी क्रोध को

1. ष.खं. 6/1/9/1, सू. 32, पृ. 40
2. ष. 6/11/9/1/सूत्र 22 पृ. 40
3. सम्मत्तं देस सयल चारित्तं जह घाद करण परिणामो।
   घादंति व कसाया चउ सोल असंख लोगमिदा। गोम्मटसार जीवकाण्ड 283
4. वही।
5. वही
6. वही।

पाषाण की गहरी दरार की तरह कहा गया है, जो एक बार फटने के बाद पुनः नहीं मिलती। उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय का सम्बन्ध भव-भवों तक नहीं छूटता। ''अप्रत्याख्यान'' क्रोध को भूमि की दरार की तरह कहा गया है। जैसे गर्मी के दिनों में सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने से दरारें पड़ जाती हैं, किन्तु वर्षा होते ही वह दरारें मिट जाती हैं, उसी प्रकार अप्रत्याख्यान कषाय गुरुओं के उपदेशामृत की वर्षा से धीरे-धीरे शान्त हो जाती है। इसका प्रभाव अधिकतम छह माह तक रहता है। प्रत्याख्यान क्रोध उससे अल्पशक्ति वाली है, इसे धूल की लकीर की तरह कहा गया है जैसे धूल में अंकित लकीर थोड़ी-सी हवा के प्रभाव से मिट जाती है, वैसे ही यह कषाय उत्पन्न होकर शीघ्र ही शान्त हो जाती है। यह अधिक से अधिक पन्द्रह दिनों तक अपना प्रभाव दिखाती है। सञ्ज्वलन क्रोध को ''जल की लकीर'' की तरह कहा गया है। जैसे जल की लकीर खींचते ही मिट जाती है, वैसे ही यह कषाय उत्पन्न होते ही शान्त हो जाती है। इसका वासनाकाल (संस्कार) अन्तर्मुहूर्त कहा गया है।[1]

मान चतुष्क- इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के मान को क्रमशः शैल, अस्थि, काष्ठ तथा बेल (लता) की उपमा दी गयी है। जैसे शैलादिकों में कड़ापन उत्तरोत्तर अल्प होता है, वैसे ही ये चारों कषाय उत्तरोत्तर मन्द प्रभाव वाले हैं। अनन्तानुबन्धी मान के उदय में पत्थर की तरह स्तब्धता होती है। इस कषाय वाले व्यक्तियों को झुकाना दुःसाध्य होता है। अप्रत्याख्यान मान अस्थि की तरह कठोर होता है। इनमें मान की अपेक्षाकृत कमी रहती है। प्रत्याख्यान मान काष्ठ की तरह कठोर होता है। इस कषाय वाले जीव अधिक अभिमानी नहीं होते। सञ्ज्वलन मान को लता की तरह कहा गया है। ऐसे जीव विनम्रता की मूर्ति होते हैं। इन्हें कोमल लता की तरह कही भी मोड़ा-झुकाया जा सकता है।

माया चतुष्क- अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार की माया क्रमशः बाँस की गठीली जड़, भेड़ के सींग, गोमूत्र और छिलते हुए बाँस की छाल के सदृश कुटिल कही गयी है। इनका प्रभाव भी उत्तरोत्तर अल्प है।

अनन्तानुबन्धी माया बाँस की जड़ के समान कुटिल होती है। बाँस की जड़ इतनी वक्र होती है कि उसमें कुटिलता के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं। ऐसी माया व्यक्ति को धूर्तता को शिखर पर पहुँचा देती है। अप्रत्याख्यान माया भेड़ के

1. पं.स.प्रा.गा. 1/111 से 114

सींग की तरह है। भेड़ के सींग में बाँस की जड़ की तरह कुटिलता नहीं होती फिर भी उस व्यक्ति में काफी टेढ़ापन होता है। इस कषाय वाला जीव टेढ़ा होता है। प्रत्याख्यान माया चलते हुए बैल की मूत्रधारा की तरह होती है। चलते हुए बैल की मूत्र धारा टेड़ी मेढ़ी होने पर भी उलझी हुई नहीं होती इस कषाय वाले जीव अपेक्षाकृत कम कुटिल होते हैं, सञ्ज्वलन माया कषाय छिलते हुए बाँस की छाल के समान है। छिलते हुए बाँस की छाल टेढ़ी मेढ़ी होती है, पर वह सरलता से सीधी हो जाती है। ऐसे जीव सरल होते हैं।

लोभ चतुष्क- चारों प्रकार के लोभ को क्रमशः किरमिजी का दाग, पहिये का औंगन (अक्षमल), कीचड़ एवं हल्दी के रंग की तरह कहा गया है। अनन्तानुबन्धी किरमिजी के रंग के सदृश है, जो कि किसी भी उपाय से नहीं छूटता। अप्रत्याख्यान लोभ गाड़ी के पहिये में लगने वाले (औंगन) मल की तरह है, जिसका दाग कठिनता से छूटता है। प्रत्याख्यान लोभ कीचड़/काजल की तरह है, जो अल्प परिश्रम से छूट जाता है। सञ्ज्वलन लोभ हल्दी के सदृश है, जो सहज ही छूट जाता है। उक्त चारों कषायें क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव गति में उत्पत्ति के कारण हैं।

उपर्युक्त सोलह कषायों की शक्ति को निम्न सारणी से स्पष्ट कर सकते हैं-

कषाय की अवस्था	**क्रोध**	**मान**	**माया**	**लोभ**	**फल**
अनन्तानुबन्धी	शिलारेखा	शैल	बाँस की जड़	किरमिजी	नरकगति
अप्रत्याख्यान	पृथ्वी रेखा	अस्थि	भेड़ का सींग	अक्षमल (औंगन)	तिर्यञ्च गति
प्रत्याख्यान	धूलि रेखा	काष्ठ	चलते हुए बैल की मूत्र-धारा	कीचड़	मनुष्य गति
संज्वलन	जल-रेखा	लता/बेल	छिलते हुए बाँस की छाल	हल्दी	देव गति

नोकषाय वेदनीय- जिनका उदय कषायों के साथ होता है या जो कषायों से प्रेरित होता है, वह नोकषाय है।[1] इन्हें अकषाय भी कहते हैं। नोकषाय या अकषाय का तात्पर्य कषायों का अभाव नहीं, अपितु ईषत् कषाय है। इनके नौ भेद हैं-

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद। इनका अर्थ इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार दर्शन-मोहनीय के तीन तथा कषाय-वेदनीय के सोलह और नोकषाय वेदनीय के नौ, मिलकर मोहनीय कर्म के कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म के बन्ध का कारण- सत्यमार्ग की अवहेलना करने से और असत्य मार्ग का पोषण करने से तथा आचार्य, उपाध्याय, गुरु, साधु-संघ आदि सत्य-पोषक आदर्शों का तिरस्कार करने से दर्शन-मोहनीय कर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप जीव अनन्त संसार का पात्र बनता रहता है।

स्वयं पाप करने से तथा दूसरों को कराने से, तपस्वियों की निन्दा करने से, धार्मिक कार्यों में विघ्न उपस्थित करने से, मद्य-माँस आदि का सेवन करने और कराने से, निर्दोष व्यक्तियों में दूषण लगाने से चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।[2]

आयु कर्म

जीव की किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम आयु है। इस आयु का निमित्तभूत कर्म ''आयु'' कर्म कहलाता है।[3] जीवों के जीवन की अवधि का नियामक आयु है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु के मुख में जाता है।[4] मृत्यु का कोई देवता या उस जैसी कोई अन्य शक्ति नहीं है। अपितु आयु कर्म के सद्भाव और क्षय पर ही जन्म और मृत्यु अवलम्बित है। इस कर्म की तुलना कारागार से की गयी है।[5] जैसे न्यायाधीश अपराधी को अपराध के अनुसार नियत समय के लिए कैद में डाल देता है।

1. कषाय सहवर्तित्ववाद्कषाय प्रेरणादपि।
   हास्यादि नव कषायस्योक्ता नोकषाय-कषायता।
2. त. वा. 6/14/3
3. जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश 1/251
4. यद् भावाभावयोः जीवति-मरणं तदायुः/त.वा. 8/102, पृ. 469
5. जीवस्स अवट्ठाणं करेदि हलिव्वणरं- कर्मकाण्ड-11

अपराधी की इच्छा होने पर भी वह अपनी अवधि को पूर्ण किये बिना मुक्त नहीं हो सकता, वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव देह-मुक्त नहीं हो सकता। आयु कर्म का कार्य सुख-दुःख देना नहीं है, किन्तु निश्चित समय तक किसी एक भव में रोके रहना मात्र है।[1]

आयु दो प्रकार की होती है- अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय।[2]

कारण प्राप्त होने पर जिस आयु की काल-मर्यादा में कमी हो सके, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं तथा बड़े-बड़े कारण आने पर भी निर्धारित आयु की काल-मर्यादा एक क्षण को भी कम न हो, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु विष-भक्षण, वेदना, रक्त-क्षय, शस्त्र-घात, पर्वत से पतन आदि निमित्तों के मिलने से अपनी अवधि से पूर्व ही समाप्त हो सकती है। इसे ही ''अकालमरण'' या ''कदलीघात'' मरण कहते हैं। जैसे यदि किसी की 100 वर्ष की आयु है तो यह अनिवार्य नहीं कि वह 100 वर्ष तक ही जीवित रहे। वह 100 वर्ष की अवधि में कभी भी मरण प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी शेष आयु को अगली योनि या पर्याय में जाकर भोगता है, अपितु मृत्यु के क्षण में ही वह अपनी शेषायु को भोग लेता है। जैनदर्शन के नियमानुसार आयु के क्षय होने पर ही मरण होता है। जब तक वर्तमान भव की आयु कर्म का एक भी परमाणु शेष रहता है, तब तक मरण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से एक आयु को दूसरी योनि में जाकर भोगना मात्र कल्पना की उड़ान है।

इसे ऐसे समझें- किसी पेट्रोमेक्स में इतना तेल भरा हो, कि वह अपने क्रम से जलने पर छह घण्टे जलता है। यदि उसका बर्नर लीक करने लगे, तो वह पूरा तेल जल्दी ही जल जाता है तथा टैंक के फट जाने पर तो सारा तेल उसी क्षण जल जाता है। इसी प्रकार; आयु कर्म भी तेल की तरह है। जब तक कोई प्रतिकूल निमित्त नहीं आते, तब तक वह अपने क्रम से उदय में आता है तथा प्रतिकूल निमित्तों के जुटने पर वह अपने क्रम का उल्लंघन भी कर देता है। यह भी सम्भव है कि वह एक अन्तर्मुहूर्त में ही अपनी करोड़ों वर्ष की आयु को भोग कर समाप्त कर डाले।[3]

---

1. दुक्खं ण देइं आउ णवि सुहं देइं चउसुवि गईसु।
   दुक्ख सुहाणाहार धरेई देहट्ठियं जीवं॥ ठाणांग 2/4/105 टीका
2. ध.पु. 10/233-34
3. ध.पु. 10/240

देव, नारकी, भोग-भूमि के जीव, चरम देहधारी तीर्थंकर, अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। इनकी आयु का घात समय-पूर्व नहीं होता। इसीलिए इनका अकाल मरण भी नहीं होता। शेष जीवों में दोनों प्रकार की सम्भावना है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन-दर्शन के नियमानुसार आयु कर्म घट तो सकता है, किन्तु पूर्व में बाँधी हुई आयु में एक क्षण की भी वृद्धि नहीं हो सकती।

आयुकर्म के बन्ध सम्बन्धी विशेष नियम

आठ मूल कर्मों में आयु कर्म का बन्ध सदा नहीं होता। इसके बन्ध का विशेष नियम है। अपने जीवन की दो-तिहाई आयु व्यतीत होने पर ही आयु कर्म बँधता है, वह भी अन्तर्मुहूर्त तक। इसे अपकर्षकाल कहते हैं। एक मनुष्य/तिर्यञ्च के जीवन में ऐसे आठ अवसर आते हैं जिनमें वह आयु बाँधने के योग्य होता है। इसके बीच वह आयु का बन्ध कर ही लेता है अन्यथा मृत्यु से अन्तर्मुहूर्त पूर्व तो आयु का बन्ध हो ही जाता है। कोई भी जीव नयी आयु का बन्ध किये बिना, मरण नहीं करता तथा नूतन भव को प्राप्त नहीं होता। आयु बन्ध की यह प्रक्रिया समाप्त हो जाने पर ही जीव मुक्त हो पाता है।

मान लीजिए किसी व्यक्ति की 81 वर्ष की आयु हो, तो वह 54 वर्ष की अवस्था तक आयु कर्म के बन्ध के योग्य नहीं होता। वह पहली बार आयु कर्म का बन्ध 54 वर्ष[1] की अवस्था में कर सकता है। यदि उस काल में आयुकर्म का बन्ध न हो, तो शेष 27 में से दो-तिहाई अर्थात् 18 वर्ष बीतने पर यानि 72 वर्ष[2] की अवस्था में उसे आयु का बन्ध हो सकता है। उस काल में भी न हो तो शेष नौ वर्ष में से छह वर्ष बीतने पर, अर्थात् 78 वर्ष[3] की अवस्था होने पर आयु बँधेगी। उसमें भी न हो तो शेष तीन में से दो वर्ष बीतने पर अर्थात् 80 वर्ष[4] की अवस्था में। और यदि उसमें भी न हो तो शेष एक वर्ष में से 8 माह बीतने पर अर्थात् 80 वर्ष 8 माह[5] की अवस्था में, यदि उसमें भी न बँधे तो शेष चार माह में से 80 दिन बीत जाने के बाद अर्थात् 80 वर्ष, 10 माह और 20 दिन की अवस्था में।[6] यदि उसमें भी न बँधे, तो शेष 40 दिन के त्रिभाग, 26 दिन 16 घण्टे बीत जाने के उपरान्त अर्थात् 80 वर्ष, 11 माह, 16 दिन तथा 16 घण्टे की अवस्था[7] में। यदि इसमें भी न बँधे, तो शेष अवधि में से 8 दिन, 21 घंटे तथा 20 मिनिट बीत जाने पर अर्थात् 80 वर्ष, 11 माह, 25 दिन, 13 घण्टे, 20 मिनिट की आयु में आयु कर्म का बन्ध हो जाता है,[8] यदि उसमें भी न हो पाये तो मरण के अन्तर्मुहूर्त-पूर्व तो आयु बन्ध कर ही लेता है।

आयु बन्ध का यह नियम मनुष्य और तिर्यञ्चों के लिए है। देव, नारकी तथा भोग-भूमि के जीव अपने जीवन के 6 माह शेष रहने पर आयु बन्ध के योग्य होते हैं। इस छह माह में उनके भी पूर्ववत् आठ अपकर्ष होते हैं।[1]

आयु-बन्ध के कारण

हिंसा आदि कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का हरण, इन्द्रिय विषयों में अत्यन्त आसक्ति, तीव्र परिग्रह-लुब्धता तथा मरण के समय क्रूर परिणामों से ''**नरकआयु**'' का बन्ध होता है।[2]

धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उसका प्रचार करना, शील रहित जीवन बिताना, अतिसन्धानप्रियता अर्थात् विश्वासघात, वञ्चना और छल-कपट करना आदि ''**तिर्यञ्च आयु**'' के बन्ध के कारण हैं।[3]

स्वभाव से विनम्र होना, भद्र प्रकृति का होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषाय का होना तथा मरण के समय संक्लेश रूप परिणति का नहीं होना आदि ''**मनुष्य आयु**'' के बन्ध के कारण हैं।[4]

संयम पालने से, तप करने से, व्रतों का आचरण से, कषाय की मन्दता से, धर्म-कथा के श्रवण से, दान देने से, धर्मायतनों की सेवा तथा रक्षा करने से तथा सम्यक्दृष्टि होने से ''**देव आयु**'' का बन्ध होता है।[5]

नाम-कर्म

''**नाना मिनोतीति नाम**''[6] जो जीव के चित्र-विचित्र रूप बनाता है वह ''नाम-कर्म'' है। इसकी तुलना चित्रकार से की है।[7] जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रंगों के योग से सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक चित्र निर्मित करता है, उसी तरह नामकर्म रूपी चितेरा, जीव के भले-बुरे, सुन्दर-असुन्दर, लम्बे-नाटे, मोटे-पतले, छोटे-बड़े, सुडौल-बेडौल आदि शरीरों का निर्माण करता है। जीव की विविध आकृतियों एवं शरीरों का निर्माण इसी नाम-कर्म की कृति

---

1. ध.पु. 10/233-34
2. सर्वाथ सिद्धि 6/15/333
3. वही, 6/16/339
4. सर्वा. सि. 6/17/334
5. त.सा. 42-43
6. (अ) ध.पु. 6/13 (ब) ध.पु. 13/209
7. चित्रकार पुरुषवत् नाना रूपकरणता। व. द्र. सम. टी. गा. 33

है। विश्व की विचित्रता में नाम-कर्म रूप चितेरे की कला अभिव्यक्त होती है। इस नाम-कर्म के मुख्य बयालीस भेद हैं तथा इसके उपभेद कुल तेरानवे हो जाते हैं-

1. **गति**- जिस नाम-कर्म के उदय से जीव एक जन्म-स्थिति से अगली जन्म-स्थिति में जाता है, वह गति नाम-कर्म है। गतियाँ चार हैं- मनुष्य, देव, नरक एवं तिर्यंच।

2. **जाति**- जिस नाम-कर्म के उदय से सदृशता के कारण जीवों का बोध हो, उसे जाति नाम-कर्म कहते हैं। जातियाँ पाँच हैं- एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा पाँच इन्द्रिय।

3. **शरीर**- शरीर की रचना करने वाले कर्म को शरीर नाम-कर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर।

4. **अंगोपांग**- जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की रचना होती है, अर्थात् शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की रचना करने वाला कर्म 'अंङ्गोपाङ्ग' नाम-कर्म है। इसके तीन भेद हैं- औदारिक, वैक्रियिक व आहारक। तीनों अपने-अपने शरीर के अनुरूप अङ्गोपाङ्गों की रचना करते हैं। तैजस और कार्मण शरीर सूक्ष्म होने के कारण अंङ्गोपाङ्ग रहित होते हैं।

5. **निर्माण**- शरीर के अंङ्गोपाङ्ग की समुचित रूप से रचना करने वाला कर्म 'निर्माण' नाम-कर्म है।

6 **शरीर-बन्धन**- शरीर का निर्माण करने वाले पुद्गलों को परस्पर बाँधने वाला कर्म शरीर-बन्धन नाम-कर्म हैं। पूर्वोक्त शरीर के अनुसार यह पाँच प्रकार का है।

7. **शरीर संघात**- निर्मित शरीर के परमाणुओं को परस्पर छिद्ररहित बनाकर एकीकृत करने वाले कर्म को शरीर-संघात नाम-कर्म कहते हैं। इसके अभाव में शरीर तिल के लड्डू की तरह अपुष्ट रहता है[1]। यह भी शरीरों की तरह पाँच प्रकार का होता है।

---

1. ध.पु. 6/53

8. संस्थान- शरीर को विविध आकृतियाँ प्रदान करने वाला कर्म 'संस्थान' नाम-कर्म है[1]। इसके छह भेद हैं-

(1) समचतुरस्त्र संस्थान- सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जीव के सुन्दर, सुडौल और समानुपातिक शरीर बनाने वाले कर्म को 'समचतुरस्त्र-संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

(2) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान- 'न्यग्रोध' अर्थात् 'वट के वृक्ष' की तरह, नाभि से ऊपर की ओर मोटे और नीचे की ओर पतले शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

(3) स्वाति- सर्प की वामी की तरह नाभि के ऊपर पतले तथा नीचे की ओर मोटे आकार का शरीर बनाने वाला संस्थान कर्म 'स्वाति संस्थान' नाम-कर्म है।

(4) कुब्जक- कुबड़ा शरीर बनाने वाले कर्म को 'कुब्जक संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

(5) वामन संस्थान- बौना शरीर बनाने वाला कर्म 'वामन-संस्थान' नाम-कर्म है।

(6) हुण्डक- अनिर्दिष्ट आकार को हुण्डक कहते हैं। ऐसे अनिर्दिष्ट आकार का विचित्र शरीर बनाने वाले कर्म को 'हुण्डक संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

9. संहनन- अस्थि-बन्धनों में विशिष्टता को उत्पन्न करने वाले कर्म को 'संहनन नाम कर्म' कहते हैं। वेष्टन, त्वचा, अस्थि और कीलों के बन्धन की अपेक्षा इसके छह भेद हैं- 1. वज्र-वृषभ नाराच संहनन 2. वज्र-नाराच संहनन 3. नाराच संहनन 4. अर्द्ध-नाराच संहनन 5. कीलक संहनन 6. असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन।[2]

10. वर्ण- शरीर को वर्ण (रंग) प्रदान करने वाले कर्म को 'वर्ण नाम-कर्म' कहते हैं। यह कृष्ण, नील, रक्त, पीत एवं श्वेत रूप पाँच प्रकार के होते हैं।

---

1. सर्वा. सि. पृ. 304
2. ध.पु. 6/1 सूत्र 37 गो.सा. कर्म. का. गा. 35, सर्वा. सि. 390

11. गंध- शरीर को सुगन्ध एवं दुर्गन्ध प्रदान करने वाले कर्म को 'गन्ध-नाम-कर्म' कहते हैं।

12. रस- तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कसैला रस अर्थात् स्वाद उत्पन्न करने वाले कर्म को 'रस नाम-कर्म' कहते हैं।

13. स्पर्श- हल्का, भारी, कठोर, मृदु, शीत, उष्ण तथा स्निग्ध, रुक्ष आदि स्पर्श के भेदों से शरीर को प्रतिनियत स्पर्श उत्पन्न करानेवाला कर्म 'गन्ध-नाम-कर्म' कहलाता है।

14. आनुपूर्व्य- देह-त्याग के बाद नूतन शरीर धारण करने के लिए होने वाली गति को 'विग्रहगति' कहते हैं। विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'आनुपूर्व्य नाम-कर्म' कहते हैं। गतियों के आधार पर यह चार प्रकार का है।

15. अगुरुलघु- जो कर्म शरीर को न तो लौह पिण्ड की तरह भारी, न ही रुई की पिण्ड की तरह हल्का होने दे, वह 'अगुरुलघु नाम-कर्म' है। इस कर्म से शरीर का आयतन बना रहता है। इसके अभाव में जीव स्वेच्छा से उठ-बैठ भी नहीं सकता।

16. उपघात- इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से कष्ट पाता है। जैसे प्रतिजिह्वा और चोरदन्त आदि।[1]

17. परघात- दूसरों को घात करने के योग्य तीक्ष्ण नख, सींग, दाढ़ आदि अवयवों को उत्पन्न करने वाले कर्म को 'परघात नाम-कर्म' कहते हैं।[2]

18. उच्छ्वास- इस कर्म की सहायता से श्वासोच्छ्वास सञ्चालित होता है।

19. आतप- इस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश निकलता है। यह कर्म सूर्य और सूर्यकान्त मणियों में रहने वाले एकेन्द्रियों को होता है। उनका शरीर शीतल होता है तथा ताप उष्ण।

20. उद्योत- चन्द्रकान्त मणि और जुगनू आदि की तरह शरीर में शीतल प्रकाश उत्पन्न करने वाला कर्म 'उद्योत नाम-कर्म' है।

---

1. ध.पु. 6/1 पृ. 11 पृ. 59
2. ध.पु. 6/89

21. विहायोगति- इस कर्म के उदय से जीव की अच्छी या बुरी चाल होती है। यह प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की है। हाथी, हंस आदि की प्रशस्त चाल को प्रशस्त विहायोगति तथा ऊँट, गधा आदि की अप्रशस्त चाल को 'अप्रशस्त विहायोगति' कहते हैं। यहाँ गति का अर्थ 'गमन' या 'चाल' है।

22. प्रत्येक शरीर- जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है। अर्थात् जिस कर्म के उदय से भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त होता है, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है।

23. साधारण- जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही शरीर प्राप्त हो वह 'साधारण नाम-कर्म' है।

24. त्रस- जिस कर्म के उदय से द्वि-इन्द्रियादि जीवों में जन्म हो उसे 'त्रस नाम-कर्म' कहते हैं।

25. स्थावर- पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रियों में उत्पन्न कराने वाला कर्म 'स्थावर नाम-कर्म' है।

26. बादर- स्थूल शरीर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'बादर नाम-कर्म' है।

27. सूक्ष्म- सूक्ष्म अर्थात् दूसरों को बाधित एवं दूसरों से बाधित न होने वाले शरीर को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सूक्ष्म नाम-कर्म' है। इस कर्म का उदय मात्र एकेन्द्रिय जीवों को होता है।

28. पर्याप्ति- जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य आहारादिक पर्याप्तियों को पूर्ण कर सके वह 'पर्याप्ति नाम-कर्म' है।

29. अपर्याप्ति- जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर सके, उसे 'अपर्याप्ति नाम-कर्म' कहते है।

30. स्थिर- शरीर के अस्थि, माँस, मज्जा आदि धातु, उपधातुओं को यथास्थान स्थिर रखने वाले कर्म को 'स्थिर नाम-कर्म' कहते है।

31. अस्थिर- शरीर के धातु तथा उपधातुओं को अस्थिर रखने वाला कर्म 'अस्थिर नाम-कर्म' कहलाता है।

32. शुभ- शरीर के अवयवों को सुन्दर बनाने वाला कर्म 'शुभ नाम-कर्म' है।

33. अशुभ- 'अशुभ नाम-कर्म' असुन्दर शरीर प्राप्त कराता है।

34. सुभग- सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सुभग नाम-कर्म' है। अथवा जिस कर्म के उदय से सबको प्रीति कराने वाला शरीर प्राप्त होता है उसे 'सुभग नाम-कर्म' कहते हैं।

35. दुर्भग- गुण-युक्त होने पर भी दुर्भग नाम-कर्म अन्य प्राणियों में अप्रीति उत्पन्न कराने वाला शरीर प्रदान करता है।

36. सुस्वर- कर्णप्रिय स्वर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'सुस्वर नाम-कर्म' है।

37. दुःस्वर- 'दुःस्वर नाम कर्म' के उदय से कर्ण-कटु, कर्कश स्वर प्राप्त होता है।

38. आदेय- इस कर्म के उदय से जीव बहुमान्य एवं आदरणीय होता है।[1] प्रभायुक्त शरीर भी 'आदेय नाम-कर्म' है।[2]

39. अनादेय- 'अनादेय' कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गौरव प्राप्त नहीं होता। यह निष्प्रभ शरीर का कारण भी है।[3]

40. यशः कीर्ति- जिस कर्म के उदय से लोक में यश, कीर्ति, ख्याति और प्रतिष्ठा मिलती है वह 'यशः कीर्ति नाम-कर्म' है।

41. अयशः कीर्ति- इस कर्म के उदय से अपयश मिलता है।[5]

42. तीर्थंकर- 'तीर्थंकर' नाम-कर्म त्रिलोक पूज्य एवं धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक बनाता है।[6]

इस प्रकार नाम कर्म के मूल बयालीस भेद तथा उत्तर भेदों को मिलने पर कुल 93 (तेरानवे) भेद हो जाते हैं। इनमें कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं।[7]

---

1. ध.पु. 6/65
2. सर्वा. सि. 8/11/306
3. सर्वा. सि. 8/11/306
4. सर्वा. सि. 8/11/306
5. सर्वा. सि. 8/11/306
6. धु. पु. 6/67
7. विशेष के लिये देखें त.सू. 8/25-26

नाम-कर्म के बन्ध का कारण

मन-वचन-काय की कुटिलता अर्थात् सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ, इसी प्रकार अन्यों से कुटिल प्रवृत्ति कराना, मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्त की अस्थिरता, परवञ्चन की प्रवृत्ति, झूठे माप-तौल आदि रखने से अशुभ नाम-कर्म का बन्ध होता है।[1]

इसके विपरीत मन-वचन-काय की सरलता, चुगलखोरी का त्याग, सम्यक् दर्शन, चित्त की स्थिरता आदि शुभ नाम-कर्म के बन्ध का कारण होता है।[2] तीर्थंकर प्रकृति नाम-कर्म की शुभतम प्रकृति है, इसका बन्ध भी शुभतम परिणामों से होता है। तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के सोलह कारण बताये गये हैं।

सम्यक् दर्शन की विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, शील और व्रतों को निर्दोष परिपालन, निरन्तर ज्ञान-साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति, संसार से सतत भीति, शक्ति के अनुसार तप और त्याग, भले प्रकार की समाधि, साधुजनों की सेवा/सत्कार, पूज्य आचार्य, बहुश्रुत व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्म कार्यों का निरन्तर पालन, धार्मिक प्रोत्साहन व धर्मी जनों के प्रति वात्सल्य यह सब तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है।[3]

गोत्र-कर्म

लोक-व्यवहार सम्बन्धी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोक पूज्य आचरण की परम्परा है, उसे 'उच्च गोत्र' कहते हैं तथा जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे 'नीच गोत्र' नाम दिया है। इन कुलों में जन्म दिलाने वाला कर्म 'गोत्र-कर्म' कहलाता है।[4]

इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गयी है। जैसे-कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें से कितने ही ऐसे होते हैं, जिन्हें लोग कलश बनाकर चन्दन, अक्षत आदि मङ्गल द्रव्यों से अलंकृत करते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं जिनमें मदिरा आदि निन्द्य पदार्थ रखे जाते हैं, इसलिए निम्न माने जाते हैं।

---

1. त.सू. 6/22
2. वही 6/23
3. त.सू. 6/29
4. संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदिसण्णा। कर्मकाण्ड -11-13

इसी प्रकार गोत्र कर्म के उदय से जीव कुलीन/पूज्य और अपूज्य/अकुलीन घरों में उत्पन्न होता है।[1] गोत्र कर्म दो प्रकार का होता है- 1. उच्च गोत्र तथा 2. नीच गोत्र।[2]

गोत्र-कर्म के बन्ध का कारण

परनिन्दा, आत्मा-प्रशंसा, दूसरे के सद्भूत-विद्यमान गुणों का आच्छादन तथा अपने असद्भूत-अविद्यमान गुणों को प्रकट करना- यह सब नीच गोत्र के बन्ध के कारण हैं। इसके विपरीत अपनी निन्दा, दूसरों की प्रशंसा, अपने गुणों का आच्छादन, पर के गुणों का उद्भावन, गुणाधिकों के प्रति विनम्रता तथा ज्ञानादि गुणों में श्रेष्ठ रहते हुए भी, उसका अभिमान न करना, ये सब उच्च गोत्र के बन्ध का कारण है।[3]

अन्तराय-कर्म

जो कर्म विघ्न डालता है, उसे अन्तराय-कर्म कहते हैं। इस कर्म के कारण आत्मशक्ति में अवरोध उत्पन्न होता है। अनुकूल साधनों और आन्तरिक इच्छा के होने पर भी जीव इस कर्म के कारण अपनी मनोभावना को पूर्ण नहीं कर पाता।

इस कर्म को भण्डारी से उपमित किया है। जिस प्रकार किसी दीन-दुःखी को देखकर दया से द्रवीभूत राजा दान देने का आदेश करता है, फिर भी भण्डारी बीच में अवरोधक बन जाता है। वैसे ही यह अन्तराय-कर्म जीव को दान-लाभादिक कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है। इसके पाँच भेद हैं[4]-

(1) जिस कर्म के उदय से दान देने की अनुकूल सामग्री और पात्र की उपस्थिति में भी दान देने की भावना न हो, वह 'दानान्तराय कर्म' है।

(2) जिस कर्म के उदय से बुद्धिपूर्वक श्रम करने पर भी लाभ होने में बाधा हो वह 'लाभान्तराय कर्म' है।

(3) जिसके उदय से प्राप्त भोग्य वस्तु का भोग न किया जा सके, वह 'भोगान्तराय कर्म' है।

---

1. जह कुंभारों भंडाइं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स। इय गोयं कुणइ: भिंय लोए पुज्जेयरानत्थं॥ ठाणांग 2/4/105 टी.
2. उच्चैनीचैश्च-त.सू.8/12
3. सर्वा. सि. 6/26/340
4. भाण्डागरिकवद् दानादि-विघ्न करणता। वृ.द्र.स.टी.गा. 33

(4) जिसके उदय से प्राप्त उपभोग्य वस्तु का उपभोग न किया जा सके, वह 'उपभोगान्तराय कर्म' है।

(5) जिसके उदय से सामर्थ्य होते हुए भी कार्यों के प्रति उत्साह न हो, उसे 'वीर्यान्तराय कर्म' कहते हैं।

अन्तराय कर्म के बन्ध के कारण- दान आदि में बाधा उपस्थित करने से, जिन पूजा का निषेध करने से, पापों में रत रहने से, मोक्ष-मार्ग में दोष बताकर विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।[1]

---

1. (अ) त.सू. 6/27 (ब) गो.कर्म.का. 810

कर्मों की विविध अवस्थाएँ

- बन्ध
- सत्ता
- उदय
- उदीरणा
- उत्कर्षण
- अपकर्षण
- संक्रमण
- उपशम
- निधत्ति
- निकाचित
- कर्मों की स्थिति
- अनुभाग
- कर्मों के प्रदेश

कर्मों की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्म-सिद्धान्त नियतिवादी नहीं है और स्वच्छन्दतावादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म के द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती। साथ ही साथ जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार कुण्ठित व अवरुद्ध नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में किसी भी प्रकार का सुधार करने में सर्वथा असमर्थ हो जाये। कर्मबन्ध के पश्चात् उसके फल-भोग तक कर्मों की दशाओं में बहुत कुछ परिवर्तन सम्भव है। यह सब जीव की आन्तरिक पवित्रता और पुरुषार्थ पर निर्भर है। जीव के शुभ-अशुभ भावों के आश्रय से उत्पन्न होने वाली कर्मों की इन दशाओं/अवस्थाओं को जैन आगम में "करण" शब्द से जाना जाता है। करण दस होते हैं, जो कर्मों के विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण करते हैं। करण दस हैं[1]-

(1) बन्ध (2) सत्ता (3) उदय (4) उदीरणा (5) उत्कर्षण (6) अपकर्षण (7) संक्रमण (8) उपशम (9) निधत्ति (10) निकाचित।

(1) बन्ध- यह आत्मा और कर्म की एकीभूत अवस्था है। कर्म के परमाणुओं का आत्मा के साथ एकमेक हो जाना ही बन्ध है।[2] कर्मों की दस अवस्थाओं में यह सबसे पहली अवस्था है। बन्ध के बाद ही अन्य अवस्थाएँ प्रारम्भ होती हैं।

(2) सत्ता- कर्मबन्ध के बाद और फल देने से पूर्व बीच की स्थिति को सत्ता कहते हैं।[3] सत्ता-काल में कर्म अस्तित्व में तो रहता है, पर सक्रिय नहीं होता। जैसे शराब पीते ही वह अपना तुरन्त असर नहीं देती, किन्तु कुछ क्षण बाद ही उसका प्रभाव दिखता है, वैसे ही कर्म भी बन्धन के बाद कुछ काल तक सत्ता में बना रहता है।

---

1. गो. कर्मकाण्ड 437 2. एकी भावो बन्धः 3. पंच संग्रह 3/3

(3) उदय- जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं, उसे उदय कहते हैं।[1] फल देने के पश्चात् कर्म की निर्जरा हो जाती है।[2] उदय दो प्रकार का होता है।

(क) फलोदय (ख) प्रदेशोदय

कर्म का अपना अपने चेतन अनुभूति कराये बिना ही निर्जरित होना प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे-अचेतन अवस्था में शल्यक्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती, यद्यपि वेदना की घटना घटित होती है, इसी प्रकार बिना अपनी फलानुभूति करवाए जो कर्म परमाणु आत्मा से निर्जरित हो जाते हैं उनका उदय प्रदेशोदय कहलाता है। तथा कर्म का अपना फलानुभूति कराते हुए निर्जरित होना फलोदय कहलाता है। ज्ञातव्य है कि फलोदय में प्रदेशोदय अनिवार्य रूप से होता है, पर प्रदेशोदय में फलोदय हो यह अनिवार्य नहीं। फलोदय और प्रदेशोदय को क्रमशः स्वमुखोदय और परमुखोदय भी कहते हैं।

(4) उदीरणा- अपने नियत काल से पूर्व ही पूर्वबद्ध कर्मों का प्रयासपूर्वक उदय में लाकर उनके फलों को भोगना उदीरणा कहलाती है।[3] प्रायः जिस कर्म प्रकृति का उदय या भोग चलता है, उसकी या उसकी सजातीय कर्म प्रकृतियों की ही उदीरणा होती है।[4]

(5) उत्कर्षण- पूर्वबद्ध कर्मों के स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं।[5] नवीन बन्ध करते समय आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ा भी सकता है। काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की यह प्रक्रिया उत्कर्षण कहलाती है।

(6) अपकर्षण- पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं।[6] इस प्रक्रिया से कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को कम किया जा सकता है।

कर्म बन्धन के बाद बँधे हुए कर्मों में ये दोनों ही क्रियायें होती हैं। अशुभ कर्मों का बन्ध करने वाला जीव यदि शुभ भाव करता है तो पूर्व-बद्ध कर्मों की

1. उदयो विपाकः सर्वार्थ सिद्धि 6/14
2. ततश्च निर्जरा त.सू. 8/2
3. भुंजणकालो उदयो उदीरणापक्व पाचण फलं। पं.सं.प्रा.3/3
4. उदयस्स उदीरीरणस्स य सामित्तादो णविज्जइ विसेसो। पं.सं.प्रा. 3/44
5. स्थिति-अनुभागयोः वृद्धिः उत्कर्षणम्। गो.जी.का.जी.त.प्र.गा. 438
6. स्थिति-अनुभागयोः हानिः अपकर्षणम्। वही

स्थिति और अनुभाग अर्थात् समय मर्यादा और फल की तीव्रता उसके प्रभाव से कम हो जाती है। यदि अशुभ कर्म का बन्ध करने के बाद और भी अधिक कलुषित परिणाम होते हैं तो उस अशुभ-भाव के प्रभाव से उनके स्थिति और अनुभाग में वृद्धि भी हो जाती है। इस प्रकार इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देते हैं तथा कुछ विलम्ब से। किसी का कर्मफल तीव्र होता है तथा किसी का मन्द।

(7) संक्रमण- संक्रमण का अर्थ है परिवर्तन।[1] एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है, अवान्तर प्रकृतियों का यह अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण में आत्मा नवीन बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों का रूपान्तरण करता है। उदाहरण के रूप में पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म का नवीन साता-वेदनीय कर्म का बन्ध करते समय साता वेदनीय कर्म के रूप में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण की यह क्षमता आत्मा की पवित्रता के साथ बढ़ती है। जो आत्मा जितनी पवित्र होती है उसमें संक्रमण क्षमता उतनी ही अधिक होती है। आत्मा में कर्म प्रकृतियों के संक्रमण की सामर्थ्य होना यह बताता है कि जहाँ अपवित्र आत्माएँ परिस्थितियों का दास होती हैं, वहीं पवित्र आत्मा परिस्थितियों की स्वामी होती है। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि कर्मों का यह परिवर्तन उनके अवान्तर भेदों में ही होता है। सभी मूल-कर्म परस्पर में संक्रमित/परिवर्तित नहीं होते।[2] जैसे ज्ञानावरण-दर्शनावरण में नहीं बदलता। इतना ही नहीं चारों आयु कर्म तथा दर्शन मोह और चरित्र मोह कर्म भी परस्पर में संक्रमित नहीं होते।[3]

(8) उपशम- उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना, अथवा काल विशेष के लिए उन्हें फल देने से अक्षम बना देना उपशम है।[4] उपशमन में कर्म की सत्ता समाप्त नहीं होती, मात्र उसे काल विशेष के लिये फल देने से अक्षम बना दिया जाता है। इस अवस्था में कर्म, राख से दबी अग्नि की तरह निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।

---

1. अवत्थादो अवत्थरं संकंति संकमोतित। जयधवल 19/3
2. संकमणं णत्थ मूल पयडीणं। गो.क. का. 410
3. दंसण चरित मोहे आउचउक्के ण संकमण/गो.क. का. गा. 410
4. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष 1/464

(9) निधत्ति- कर्म की वह अवस्था निधत्ति है, जिसमें कर्म न तो अवान्तर भेदों में संक्रमित या रूपान्तरित हो सकते हैं और न ही असमय में अपना फल प्रदान कर सकते हैं, लेकिन कर्मों की स्थिति और अनुभाग को कम अधिक किया जा सकता है। अर्थात् इस अवस्था में कर्मों का उत्कर्षण और अपकर्षण तो सम्भव है पर उदीरणा और संक्रमण नहीं।[1]

(10) निकाचित- कर्मबन्धन की प्रगाढ़ अवस्था निकाचित है। कर्म की इस अवस्था में न तो उसके स्थिति और अनुभाग को हीनाधिक किया जा सकता है, न समय से पूर्व उसका उपभोग किया जा सकता है, तथा न ही कर्म अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित हो सकता है। इस दशा में कर्म का जिस रूप में बन्धन होता है, उसे उसी रूप में भोगना पड़ता है, क्योंकि इसमें उत्कर्षण-अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण चारों का अभाव रहता है।[2]

इस प्रकार जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म के फल-विपाक की नियतता और अनियतता को सम्यक् प्रकार से समन्वित किया गया है तथा यह बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा कषायों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ता है वह कर्म फल-विषयक नियतता को समाप्त करने में सक्षम होता जाता है। कर्म कितना बलवान् होगा, यह बात केवल कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर भी निर्भर है। इन अवस्थाओं का चित्रण यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय होना एक अलग स्थिति है तथा उससे नवीन कर्मों का बन्ध होना न होना एक अलग स्थिति है। कषाय युक्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन कर्मों का बन्ध करता है। इसके विपरीत कषाय-मुक्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन बन्ध नहीं करता, मात्र पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

कर्मों की स्थिति

बँधे हुए कर्म जब तक अपना फल देने की स्थितिमें रहते हैं, तब तक की काल-मर्यादा ही कर्मों की स्थिति है।[3] जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ एक निश्चित अवधि तक बँधा रहता है। तदुपरान्त वह पेड़ में

1. गो.क. का. गा. 450
2. वही
3. कम्मसरूवेण परिणदाणं कम्मइय पोग्गलक्खंधाणं कम्मभावमछ्डिय अच्छाण कालो ट्ठिदीणाम। जय धवल 3/192

पके फल की तरह अपना फल देकर जीव से अलग हो जाता है। जब तक कर्म अपना फल देने की सामर्थ्य रखते हैं, तब तक की काल मर्यादा ही उनकी 'स्थिति' कहलाती है जैन कर्म ग्रंथों में विभिन्न कर्मों की पृथक्-पृथक् स्थितियाँ (उदय में आने योग्य काल) बताई गयी हैं। वे निम्न प्रकार हैं-

क्रमांक	**कर्म का नाम**	**अधिकतम समय**	**न्यूनतम समय**
1.	ज्ञानावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
2.	दर्शनावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
3.	वेदनीय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	बारहर्मुहूर्त
4.	मोहनीय	सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
5.	आयु	तैतीस सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
6.	नाम	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठर्मुहूर्त
7.	गोत्र	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठर्मुहूर्त
9.	अन्तराय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त

सागरोपम आदि उपमा काल हैं। इनके स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जैन कर्म-ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए, जिससे काल-विषयक मान्यता का भी ज्ञान हो सकेगा।

अनुभाग

कर्मों की फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं।[1] प्रत्येक कर्म का फलदान एक-सा नहीं रहता। जीव के शुभाशुभ भावों के अनुसार बँधने वाले प्रत्येक कर्म का अनुभाग, अपने-अपने नाम के अनुरूप तरतमता लिये रहता है। कुछ कर्मों का अनुभाग अत्यन्त तीव्र होता है, कुछ का मन्द, तो कुछ का मध्यम। कर्मों का अनुभाग कषायों की तीव्रता व मन्दता पर निर्भर रहता है। कषायों की तीव्रता होने पर अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है, शुभ कर्मों का मन्द तथा कषायों की मन्दता होने पर शुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है और अशुभ कर्मों का मन्द। तात्पर्य यह है कि जो प्राणी जितना अधिक कषायों की तीव्रता से युक्त होगा उसके

1. को अणुभागो? कम्माणं सगकज्जकरण सत्ती अणुभागोणाम। जयधवल 5/11

अशुभ कर्म उतने ही सबल होंगे तथा शुभ-कर्म उतने ही निर्बल होंगे। जो प्राणी जितना अधिक कषाय-मुक्त होगा उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे एवं पाप कर्म उतने ही दुर्बल होंगे।

कर्मों के प्रदेश

आत्मा से बद्ध कर्म परमाणुओं की मात्रा ही कर्मों के प्रदेश हैं। जीव के भावों का आश्रय पाकर बँधने वाले सभी कर्मों के परमाणुओं की मात्रा समान नहीं होती। इसका भी एक निश्चित नियम है, एक साथ आत्मा के साथ बन्धन को प्राप्त होने वाले समस्त कर्म परमाणु एक निश्चित अनुपात से आठ कर्मों में विभक्त हो जाते हैं। उक्त क्रमानुसार आयु कर्म में सबसे थोड़े परमाणु होते हैं। नामकर्म के परमाणु उससे कुछ अधिक होते हैं। गोत्र कर्म के परमाणुओं की मात्रा नामकर्म के बराबर ही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों के परमाणु विशेष अधिक होते है। तीनों की मात्रा परस्पर समान होती है। मोहनीय कर्म के परमाणु इससे भी अधिक होते हैं तथा सबसे अधिक परमाणु वेदनीय कर्म के होते हैं।[1] यह मूल-कर्मों का विभाजन है। प्रत्येक कर्म के प्रदेशों में न्यूनता व अधिकता का यही आधार है। कर्म परमाणुओं का यह विभाजन बन्ध काल में ही हो जाता है।

---

1. आउगभागोथोवो णामागोदे समो तदो अहिओ।
   घादि तियेवि तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥गो.क. का. गा.। 92

कर्म की फलदान प्रक्रिया और ईश्वर

कर्म स्वरूप के विवेचन के बाद यह सहज ही जिज्ञासा हो जाती है कि शुभाशुभ कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है? क्या कर्म अपना फल स्वयं देते हैं अथवा अपने फलदान के लिए किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा रखते हैं? उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त जटिल तथा दार्शनिक गुत्थियों से उलझा हुआ है, साथ ही विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। विस्तार भय से यहाँ सिर्फ जैनदर्शन के अनुसार कर्म की फलदान प्रक्रिया पर विचार करते हैं।

जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म अपना फल देने में स्वतन्त्र हैं, परतन्त्र नहीं। इस मान्यता के अनुसार बँधे हुए कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर स्वयं उदयावस्था में आकर अपना फल प्रदान करते हैं। कर्मों के फलदान का अर्थ 'विपाक' है। 'विपाक' यानि 'विशिष्ट पाक' जो कि बाह्य परिस्थितियों एवं आन्तरिक शक्तियों की अपेक्षा रखकर अपना फल देते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें कि द्रव्य, क्षेत्र काल एवं भाव की अपेक्षा रखकर ही कर्म अपन फल देते हैं।[1]

कर्मों का फल कषायों की तीव्रता एवं मन्दता पर निर्भर करता है। जिस प्रकार भोजन शीघ्र न पचकर, जठराग्नि की तीव्रता-मन्दता के अनुसार पचता है, उसी प्रकार कषायों की तीव्रता व मन्दता के अनुरूप ही शुभाशुभ कर्मों का फल मिलता है।[2] तीव्र कषायों के साथ बँधे हुए अशुभ कर्मों का फल तीव्र तथा अधिक मिलता है। मन्द कषायों के साथ बँधने वाले कर्मों का फल मन्द और अल्प मिलता है।[3]

शुभाशुभ परिणामों के प्रकर्षापकर्ष के अनुरूप ही कर्मों का शुभाशुभ फल मिलता है। यह कोई अनिवार्य नहीं कि कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर ही फल दे।

---

1. सर्वा.सि. 8/21 पृ. 311 2. सर्वा.सि. 8/2 पृ. 293 3. का. अनु. गा. 319

जिस प्रकार आम आदि फलों को विशेष प्रकार के साधनों द्वारा पकाकर समय पूर्व ही रसदार बना लेते हैं, उसी प्रकार स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही विशेष तपश्चरण आदि के द्वारा, कर्मों को पका देने पर, वे अपना फल असमय में भी देते हैं। इस प्रकार कर्म-फल 'यथाकाल' और 'अयथाकाल' दो प्रकार का होता है।[1]

एक समय में बँधे हुए कर्म एक साथ फल नहीं देते, बल्कि अपने-अपने उदय क्रमानुसार ही अपना फल प्रदान करते हैं।

यह कोई आवश्यक नहीं कि कर्म अपना फल देकर ही उदय में आएँ, क्योंकि आन्तरिक शक्तियों और बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल न रहने पर कर्म अपना फल दिये बिना भी (अन्य कर्म-रूप परिणत होकर) आत्म-प्रदेशों से अलग हो सकते हैं।[2]

सभी मूल कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही अपना फल देते हैं। उनमें परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता।[3] जैसे, ज्ञानावरणी कर्म का फल ज्ञान को कुण्ठित व अवरुद्ध करने का मिलेगा। दर्शनादि अन्य शक्तियों में बाधा पहुँचाने में, उसका कोई हस्तक्षेप नहीं रहता।

कर्म अपने अवान्तर-भेदों में परिवर्तित हो सकते हैं। जैसे-साता वेदनीय कर्म असाता वेदनीय रूप फल दे सकता है अथवा शुभ नाम-कर्म अशुभ नाम-कर्म रूप फल दे सकता है, किन्तु चारों आयु कर्म, दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय इसके अपवाद हैं।[4] वे अपना फल स्वमुख से ही देते हैं, अर्थात् एक आयु दूसरी आयु रूप नहीं हो सकते। इसी प्रकार दर्शन-मोहनीय और चरित्र-मोहनीय परस्पर बदलकर अपना फल प्रदान नहीं कर सकते।

कर्म, फल देने के तत्काल बाद आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं, वे पेड़ से गिरे फल की तरह पुनः फल नहीं दे सकते।[5] कर्म फल देने के बाद उनकी 'निर्जरा' या 'क्षय' हो जाती है। क्षय होने का तात्पर्य उनका सर्वथा विनिष्ट होने से

1. त. वा. 2/83/2
2. भग. आ. गा. 1178
3. स यथानाम, ब.सू.8/22
4. कर्म काण्ड 410
5. पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विंटे।
   जीवस्स कम्म भावे पडिदे ण पुणोदय मुवेदि। समयसार - 175

नहीं है, वरन् उनके कर्मरूप पर्याय को छोड़कर अन्य अकर्मरूप पर्यायों में परिवर्तित हो जाने से है।

ये है संक्षेप में, जैन कर्म सिद्धान्त। ''जैसी करनी-वैसी भरनी'' या ''जो जस करहि, सो तस फल चाखा'' आदि कहावतों का प्रमुख आधार यही है। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि कर्म अपना फल स्वयं नहीं देते, क्योंकि वे अचेतन हैं। अपना फल देने के लिए कर्म अन्य शक्ति के अधीन है। जिस प्रकार निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायाधीश निर्णय करके दोषी को दण्ड देता है, उसी प्रकार कर्मों का फल देने वाला सर्व-शक्तिमान् ईश्वर है। वही जीवों को उनके शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। वे कहते हैं कि ईश्वर द्वारा प्रेरित जीव स्वर्ग या नरक जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव सुख-दु:ख पाने में समर्थ नहीं है।[1]

जैनदर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वयं प्रदान करते हैं। उसके लिए किसी अन्य, ईश्वर जैसे न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो सुख आदि अनन्त चतुष्टयों से युक्त और कृत्य-कृत्य होता है। वह हमारे शुभ और अशुभ कर्मों में हस्तक्षेप क्यों करेगा?

परम वीतरागी, महान् करुणावान् ईश्वर किसी को कर्मों का फल तीव्र अशुभ तथा किसी को शुभ प्रदान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसके पक्षपाती होने का प्रसंग आता है। यदि कहा जाये कि ईश्वर अपनी इच्छा से फल नहीं देता, अपितु कर्मों के अनुसार ही फल देता है, तब जैन दार्शनिकों का कहना है कि यदि ऐसा है, तो इस विषय में ईश्वर जैसे महान् कारुणिक का नाम न घसीटकर कर्मों को ही उसके स्थान पर बिठा लेना चाहिए। ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानने सम्बन्धी मान्यता अनेक दृष्टियों से दूषित है। उनमें से कुछ निम्न हैं-

1. ईश्वरवादी जन तो ईश्वर को सर्वशक्तिमान नियन्ता मानते हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर इस जगत् से अशुभ कर्मों को समाप्त ही क्यों नहीं कर देता? ऐसा क्यों है कि पहले तो वह आत्माओं को दुष्कर्मों में प्रवृत्त करता है और फिर उन अशुभ कर्मों के फल को शुभ बनाने में श्रम भी करता है।

---

1. ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
   अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुखयो। स्याद्वाद मंजरी पृ. 30 उद्धृत।

2. यदि ईश्वर ही कर्मों का फलदाता है, तो कर्मों का फल वह तत्काल ही क्यों नहीं दे देता, ताकि दुष्कर्मों के दुष्परिणाम देखकर अन्य प्राणी सन्मार्गी हो सकें। एक स्थिति और विचारणीय है। जो परपीड़क हैं, हिंसक हैं, उन्हें अधम समझा जाता है और उनके कर्म अनैतिक और निन्दनीय स्वीकार किये जाते हैं, वे अन्य प्राणियों को कष्ट देते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिन प्राणियों को कष्ट मिल रहा है, वह तो ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही मिल रहा है। उन प्राणियों को अपने कर्मों का फल मिल रहा है। ये हिंसक जन तो ईश्वर की इच्छा को ही पूर्ण कर रहे हैं, फिर इन्हें निन्दनीय क्यों समझा जाये? और इनके हिंसापूर्ण कार्यों का अशुभ फल इन्हें क्यों मिले?

4. इसी प्रकार दान को पुण्य कर्म कहा जाता है। भूखों को अन्नदान करना श्रेष्ठ कर्म है। भूखों को भूख का कष्ट भी तो ईश्वर ने ही दिया होगा। फिर ईश्वर की व्यवस्था में किसी व्यक्ति द्वारा हस्तक्षेप करना शुभ कर्म कैसे कहा जा सकता है? ईश्वर चाहता है, अमुक जन भूख से पीड़ित रहें और हम उसे उस कष्ट से मुक्त कर दें तो ईश्वर की अप्रसन्नता ही होगी। ऐसी स्थिति में यह शुभ कर्म कैसे हो सकेगा? ये सब भ्रामक स्थितियाँ हैं।

अतः ईश्वर को कर्मों का फलदाता न मानकर उन्हेंअपने फल देने में स्वतन्त्र मानना ही युक्ति-युक्त है। तभी पूर्ण कृत्य-कृत्य ईश्वर-कर्त्तृत्वादि दोषों से बच सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रीमद् भगवद्गीता में भी उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा गया है कि

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य स्रजति प्रभूः।
न कर्मफल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥
नादत्ते कस्यचिद् पापं न चैव सुकृतं विभूः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

भगवद्गीता 5/14/15

कर्म मुक्ति के उपाय :- संवर-निर्जरा

- **संवर**
    - संवर का महत्व
    - संवर के भेद
    - संवर के साधन
    - व्रत
    - समिति
    - गुप्ति
    - धर्म
    - अनुप्रेक्षा
    - परीषह-जय
    - चारित्र
- **निर्जरा**
    - निर्जरा का अर्थ
    - निर्जरा के साधन
    - तप का महत्त्व
    - तप का लक्षण
    - तप के भेद
    - बाह्य तप
    - आभ्यन्तर तप

कर्म मुक्ति के उपाय

संवर

जीव अपने मोह और अज्ञान के कारण निरन्तर कर्मों का आस्रव और बन्ध करता आ रहा है। आखिर कर्मबन्ध के इस अनन्त प्रवाह का कोई अन्त भी है या नहीं? क्या बन्ध की यह परम्परा ऐसे ही चलती रहेगी? या उससे बचने का कोई उपाय भी है? इसका एक ही उपाय है वह है संवर। संवर का अर्थ होता है- रोकना, बन्द करना। यह आस्रव का विरोधी है। आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं।[1] आस्रव जहां कर्म-मल के प्रवेश करने में नाली की तरह है, तो संवर उस नाली के प्रवेश-द्वार को बन्द कर कर्म-प्रवाह को रोकता है। इससे नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाता है और सत्तागत सञ्चित कर्मों की अभिवृद्धि पर अंकुश लग जाता है। इसलिए संवर को परम उपादेय माना गया है। संवर का व्युत्पत्ति-परक अर्थ भी यही है। सम्यक् वरण को, संवरण को, संवर कहते हैं। जो अच्छी तरह से वरण करने योग्य हो, अपनाने योग्य हो, वह संवर है।

संवर का महत्त्व

मोक्षमार्ग में संवर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संवर से ही मोक्षमार्ग के विकास का क्रम प्रारम्भ होता है। जितना-जितना संवर होता है, उतना-उतना ही आत्मिक विकास होता जाता है। संवर सहित निर्जरा को ही मोक्षमार्ग का साधन कहा गया है।

मान लीजिये हमें एक ऐसी नाव पर यात्रा करना पड़ रहा है, जिसमें अनेक छिद्र हैं, जिसमें जल प्रविष्ट हो रहा है, नाव का भार बढ़ रहा है, उसका सन्तुलन खो रहा है, वैसी स्थिति में उस नाव को खाली करना तभी सम्भव होगा, जब हम

---

1. आस्रव-निरोधः संवरः तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 9/1

उसके छिद्रों को बन्द कर जल उलींचना प्रारम्भ करें। उसके अभाव में निरन्तर उलीचते रहने के बाद भी नाव को खाली कर पाना मुश्किल है, क्योंकि जिस गति से हम पानी उलीच रहे हैं, वहीं दूसरी ओर, उसी गति से जल की प्रविष्टहो रहा है। वैसी स्थिति में नाव को खाली कर पाना असम्भव है। हमारा सारा परिश्रम व्यर्थ सिद्ध होगा। परिणामतः उस नाव को डूबने से नहीं बचाया जा सकता। आत्मा भी एक नाव के समान है, जो संसार-समुद्र में तैर रही है। हमारे शुभ और अशुभ भावों के छिद्रों से उसमें निरन्तर कर्म-जल प्रवेश कर रहा है। उन छिद्रों को बन्द करने पर ही हम अपनी नाव को उबार सकते हैं। निर्जरा के लिए संवर अनिवार्य है।

संवर के भेद

द्रव्य और भाव की अपेक्षा संवर के दो भेद किये गये हैं। कर्म परमाणुओंके आगमन का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है[1] तथा आत्मा के जिन भावों से कर्मों का आगमन रुकता है, उन्हें भाव-संवर कहते हैं।[2]

संवर के साधन

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र ये सात संवर के साधन कहे गये हैं। इनके पालन से उत्पन्न आत्मिक विशुद्धि कर्म-प्रवाह को रोक देती हैं। ये मूलतः सात हैं, किन्तु अपने उत्तर भेदों को मिलाने पर कुल बासठ हो जाते हैं।

व्रत

पापों से विरत होने/दूर हटने को व्रत कहते हैं। **''हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्''**।[3] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच को पाप कहा गया है। इनसे विरत होना/इनका त्याग करना ही व्रत कहलाता है।

उक्त पाँच पापों का त्याग करने पर क्रमशः अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत होते हैं। इनके पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं तथा आंशिक त्याग को अणुव्रत कहते हैं।[4] महाव्रतों का पालन साधुगण करते हैं तथा अणुव्रतों का पालन श्रावक/गृहस्थ जन, समाज में रहते हुए अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं।

1. अ-हरि पु.पृ. 58/300 ब-पं.का.जय.वृ.143
2. अ. सवार्थ सिद्धि 9/1 ब.हरि.पु.58/300
3. तत्त्वार्थ सूत्र 7/1
4. तत्त्वार्थ सूत्र 7/2

1. **अहिंसा**- मन, वचन, काय से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचाना हिंसा है। इसके त्याग को 'अहिंसा' कहते हैं।

2. **सत्य**- जो यथार्थ नहीं है, उसे कहना झूठ है। इस झूठ का त्याग करना 'सत्य' व्रत है।

3. **अचौर्य**- बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। इसके त्याग को 'अचौर्य' व्रत कहते हैं।

4. **ब्रह्मचर्य**- मैथुन-कर्म को कुशील कहते हैं। इनका मन, वचन और काय से त्याग करना 'ब्रह्मचर्य' व्रत है।

5. **अपरिग्रह**- मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। धन-धान्य, कुटुम्ब, परिवार और अपने शरीर के प्रति उत्पन्न आसक्ति को मूर्च्छा कहते हैं। इस मूर्च्छा का त्याग ही 'अपरिग्रह' व्रत है।

समिति

सम्यक् (सत्क्रिया की) प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।[1] समिति का अर्थ हुआ सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना। उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि क्रियाओं में होने वाली सावधानी ही समिति कहलाती है। समिति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'समेकी भावेनेति इति समितिः' अर्थात् हम जिस क्रिया में संलग्न हैं उस क्रिया में एक भाव होना, पूरी तत्परता और एकाग्रता होना समिति है। अपनी प्रवृत्तिगत सावधानी या आत्म-जागृति ही समिति है।

समितियाँ पाँच होती हैं- ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति।

1. **ईर्या समिति** : किसी भी जीव-जन्तु को क्लेश न हो, इस प्रकार सावधानीपूर्वक, चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना 'ईर्या' समिति है।

2. **भाषा समिति** : सत्य, हितकारी, परिमित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है। बोलते समय बरती जाने वाली सावधानी 'भाषा' समिति है।

3. **एषणा समिति** : शुद्ध और निर्दोष आहार, विधि-पूर्वक ग्रहण करना 'एषणा' समिति है।

1. (अ) भग.आ. विजयो-16 (ब) सर्वा. सि. - 9/2 (स) आचार सार 5/137

4. आदान-निक्षेपण समिति- 'आदान' का अर्थ होता है 'ग्रहण करना' तथा 'निक्षेपण' का अर्थ रखना है। वस्तु को देखभाल कर, सावधानीपूर्वक, जीवरहित स्थानों पर उठाना-रखना 'आदान-निक्षेपण' समिति है।

5. प्रतिष्ठापन समितिः भली-भाँति देखकर शुद्ध और निर्जन्तुक स्थान पर अपने मल-मूत्र का त्याग करना 'प्रतिष्ठापन' समिति कहलाती है, अर्थात् मल-मूत्र के त्याग में रखी जाने वाली सावधानी। इसे 'व्युत्सर्ग' समिति भी कहते हैं। ये पाँचों समितियाँ कर्म-विनाश के कारण हैं तथा इन्हें साधना-पथ का मूल माना गया है।

गुप्ति

पाप क्रियाओं से आत्मा को बचाना गुप्ति है।[1] 'गुप्ति' का शाब्दिक अर्थ होता है 'गोपन करना/रक्षा करना' अर्थात् मन-वचन-काय की अकुशल प्रवृत्तियों से आत्मा की रक्षा करना 'गुप्ति' है।[2] मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को उन्मार्ग से रोकना, यही गुप्ति शब्द का भावार्थ है। गुप्तियाँ तीन हैं- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मन का राग-द्वेष, क्रोधादि से अप्रभावित होना 'मनोगुप्ति' है।[3] असत्य वाणी का निरोध करना अथवा मौन रहना 'वचन गुप्ति' है।[4] शरीर को वश में रखकर हिंसादिक क्रियाओं से दूर होना 'कायगुप्ति' है।[5] गुप्ति ही संवर का साक्षात् कारण है। गुप्ति में असत् क्रिया के निरोध की मुख्यता रहती है तथा समिति में सत् क्रिया की प्रवृत्ति की मुख्यता रहती है। गुप्ति और समिति में यही अन्तर है।

धर्म

जो व्यक्ति को दुःख से मुक्त कराकर सुख तक पहुँचा दे, उसे धर्म कहते हैं।[6] इस धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं- उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। ये उत्तम दस धर्म आत्मा के भावनात्मक परिवर्तन से उत्पन्न विशुद्ध परिणाम हैं, जो आत्मा को अशुभ कर्मों के बन्ध से रोकने के कारण संवर

---

1. योगसार स्वो.वृत्ति 7/34
2. भग.आ. विजयो-16
3. भग.आ. विजयो-115
4. नियमसार-65, मूलाचार 5/135, भगवती आराधना 1187
5. भग.आ. विजयो-115
6. सर्वा. सि. 9/2

के हेतु हैं। ख्याति, पूजा आदि से निरपेक्ष होने के कारण इनमें 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है।[1]

1. उत्तम क्षमा- क्रोध के कारण उपस्थित रहने पर भी क्रोध न करना क्षमा है। क्षमा कायरता नहीं है। समर्थ रहने पर भी क्रोधोत्पादक निन्दा, अपमान, गाली-गलौच, आदि प्रतिकूल व्यवहार होने पर भी मन में कलुषता न आने देना 'उत्तम क्षमा' है।

2. उत्तम मार्दव- चित्त में मृदुता और व्यवहार में विनम्रता 'मार्दव' है। यह मान कषाय के अभाव में प्रकट होता है। जाति, कुल, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व और ऐश्वर्य सम्बन्धी अभिमान-मद कहलाता है। इन्हें विनश्वर समझकर मान-कषाय को जीतना 'उत्तम मार्दव' कहलाता है।

3. उत्तम आर्जव- 'आर्जव' का अर्थ होता है- 'ऋजुता' या 'सरलता' अर्थात् बाहर-भीतर एक होना। मन में कुछ, वचन में कुछ तथा प्रकट में कुछ, यह प्रवृत्ति कुटिलता या मायाचारी है। इस मायाकषाय को जीतकर मन, वचन और काय की क्रिया में एकरूपता लाना 'उत्तम आर्जव' है।

4. उत्तम शौच- 'शौच' का अर्थ होता है- 'पवित्रता' या 'सफाई'। मद, क्रोधादिक बढ़ाने वाली जितनी दुर्भावनाएँ हैं, उनमें लोभ सबसे प्रबल है। इस लोभ पर विजय पाना ही 'उत्तम शौच' है।

5. उत्तम सत्य- यथार्थ बोलना 'सत्य' है। दूसरों के मन में सन्ताप उत्पन्न करने वाले, निष्ठुर और कर्कश, कठोर वचनों का त्याग कर, सबके हितकारी और प्रिय वचन बोलना 'उत्तम सत्य' धर्म है। अप्रिय शब्द भी असत्य की कोटि में आ जाता है।

6. उत्तम संयम- 'संयम' का अर्थ होता है- 'आत्म-नियन्त्रण, पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर अंकुश रखकर, उनकी अनर्गल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना 'उत्तम संयम' धर्म है।

7. उत्तम तप- इच्छा के निरोध को 'तप' कहते हैं। विषय कषायों का निग्रह करके बारह प्रकार के तप में चित्त लगाना 'उत्तम तप' धर्म है। तप धर्म का प्रमुख उद्देश्य चित्त की मलिन वृत्तियों का उन्मूलन है।

---

1. तत्त्वार्थ वार्तिक 9/6/26

8. उत्तम त्याग- परिग्रह की निवृत्ति को 'त्याग' कहते हैं। बिना किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा के अपने पास होने वाली ज्ञानादि सम्पदा को दूसरों के हित व कल्याण के लिए लगाना 'उत्तम त्याग' है।

9. उत्तम आकिंचन्य- ममत्व के परित्याग को 'आकिंचन्य' कहते हैं। आकिंचन्य का अर्थ होता है 'मेरा कुछ भी नहीं है।' घर-द्वार, धन-दौलत, बन्धु-बाँधव आदि यहाँ तक कि शरीर भी मेरा नहीं है। इस प्रकार का अनासक्ति भाव उत्पन्न होना 'उत्तम आकिंचन्य' धर्म है। सबका त्याग करने के बाद भी उस त्याग के प्रति ममत्व रह सकता है, आकिंचन्य धर्म में उस त्याग के प्रति होने वाले ममत्व का त्याग कराया जाता है।

10. उत्तम ब्रह्मचर्य- ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमण करना 'ब्रह्मचर्य' है। रागोत्पादक साधनों के होने पर भी, उन सबसे विरक्त होकर, आत्मोन्मुखी बने रहना 'उत्तम ब्रह्मचर्य' धर्म है।

इस प्रकार धर्म के ये दस लक्षण कोई बाहरी तत्त्व नहीं है, वरन् विकारों के अभाव में प्रकट होने वाली आत्म-शक्तियाँ ही है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच-ये आत्मा के अपने भाव हैं, जो क्रमशः क्रोधादिक विकारों के अभाव में प्रकट होते हैं, सत्य, संयम, तप और त्याग इनकी प्राप्ति के उपाय हैं, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्मों का सार है।

अपनी आत्मा पर आस्था, अपने अविनश्वर वैभव का ज्ञान और अपने आत्म-ब्रह्म में रमण धर्म का सार तो इतना ही है। चारों गतियों के दुःखों से छुड़ाने की सामर्थ्य इसी में है।

अनुप्रेक्षा

किसी भी पदार्थ का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। विचारों का हमारे मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का जब हम अन्तर-विश्लेषण करते हैं तो बहुत कुछ सार तत्त्व हमारे हाथों में आ जाता है, हमारा मनोबल बढ़ता है और हम सत्य पुरुषार्थ की ओर प्रयत्नशील होते हैं। संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप पर जब हम बार-बार विचार करते हैं, तो उनकी निःसारता हमारी समझ में आने लगती है तथा सहज ही वैराग्य के अंकुर फूटने लगते हैं। इसलिए इन्हें वैराग्य की उत्पत्ति में माता की तरह कहा गया है।

जैन-दर्शन में बारह अनुप्रेक्षाएँ प्रसिद्ध हैं। इन्हें बारह भावना भी कहते हैं। वे हैं क्रमशः अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ और धर्म। आइए अब हम इनके स्वरूप पर विचार करें।

1. **अनित्य अनुप्रेक्षा**- संसार में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश सुनिश्चित है। संसार के सारे संयोग विनाशशील हैं, क्षण-क्षयी हैं। चाहे हमारा शरीर हो, सम्पत्ति हो या सम्बन्धी, सबके-सब छूटने वाले हैं। इनका अस्तित्व भोर के तारे की तरह है, जो कुछ ही क्षणों में विलीन होने वाला है। इस प्रकार का चिन्तन करना 'अनित्य अनुप्रेक्षा' है।

2. **अशरण अनुप्रेक्षा**- जन्म, जरा और मृत्यु से, इस संसार में कोई भी किसी को बचा नहीं सकता। चाहे कितना ही बड़ा परिकर और परिवार हो, धन और वैभव हो अथवा देवी-देवताओं की उपासना की जाये, मृत्यु के समय इनका कोई जोर नहीं चलता, सारे साधन रहते हुए भी निष्प्राण हो जाते हैं। जन्म लेने वाले का मरण अनिवार्य है। बड़ी-बड़ी औषधि, मन्त्र-तन्त्र और संसार के सारे पदार्थ व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार शेर के मुख में रहने वाले हिरण को कोई बचा नहीं सकता, उसी प्रकार इस जीव को मृत्युरूपी सिंह के मुख से नहीं बचाया जा सकता। ऐसी स्थिति में कोई शरण और सहारा है तो मात्र देव, धर्म और गुरु ही हमारे शरण हैं जो हमें मृत्यु के आतंक से बचा सकते हैं, इस प्रकार चिन्तन करना 'अशरण अनुप्रेक्षा' है।

3. **संसार अनुप्रेक्षा**- जन्म, जरा और मृत्युरूपी इस संसार में सभी जीव चारों गतियों में भ्रमण करते हुए दुःख पाते हैं। संसार में रहने वाले सभी प्राणी दुःखी हैं। चाहे वह बहुत वैभव सम्पन्न हो, उसके पास सारी सुविधाएँ हों अथवा वैभवहीन, दरिद्र, अभावग्रस्त हो, सभी के सभी दुःखी हैं। फर्क इतना है कि धनवान् अधिक पाने की चाह में दुःखी हो रहा है तथा निर्धन अभाव के कारण दुःखी हो रहा है। गरीब की कोशिश है- अपने अभाव को मिटाने की तथा सम्पन्न वर्ग की चाहत है- और अधिक पाने की। इस प्रकार सभी आशा और तृष्णा के अधीन होकर तदनुरूप दुःखी हैं। इस प्रकार चिन्तन करना 'संसार अनुप्रेक्षा' है।

4. **एकत्व अनुप्रेक्षा**- संसार में प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है। जन्म के समय उसके साथ कोई नहीं आता। सारे रिश्ते-नाते, संगी-साथी सब बीच में ही मिलते हैं तथा यह मरता भी अकेला है। संगी साथी न तो जन्म के

समय उसके साथ आते हैं और न ही मरण के बाद कोई उसके साथ जाता है। अपना सुख-दुःख उसे अकेला ही भोगना पड़ता है। उसे संसार की पूरी यात्रा अकेले ही पूर्ण करनी पड़ती है। इस प्रकार विचार करना 'एकत्व अनुप्रेक्षा' है।

5. अन्यत्व अनुप्रेक्षा- बाहर से दिखने वाले धन-वैभव तथा परिवार-परिजन ये सब मुझसे पृथक् हैं, ये मेरे नहीं हैं। यहाँ तक कि यह देह, जिसका मेरे साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह भी मेरी नहीं है। यद्यपि दूध और पानी की तरह मिली-जुली होने के कारण यह देह और आत्मा एक-सी दिखती है, किन्तु विवेक के द्वारा इनका भेद जाना जाता है। मैं अपने पुरुषार्थ के बल पर अपनी आत्मा को इस शरीर की कैद से मुक्त कर सकता हूँ। इस प्रकार विचार करना 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' है।

6. अशुचि अनुप्रेक्षा- ऊपर से गोरा या काला, सुन्दर या कुरूप दिखाई पड़ने वाला शरीर भीतर से उतना ही घिनौना है। इसके अन्दर कोई सार नहीं है। इसे जितना साफ करने का प्रयास करते हैं, यह उतना ही मैला होता जाता है। इतना ही नहीं, इसके सम्पर्क में आने वाली केशर, चन्दन, पुष्प जैसी पवित्र सामग्री भी अपवित्र हो जाती है। इस देह का श्रृंगार करना तो मल के घड़े को फूलों से सजाने जैसा कृत्य है। इस शरीर के द्वारा तप करने में ही सार्थकता है। इसी से यह पवित्र होता है। इस प्रकार विचार करना 'अशुचि अनुप्रेक्षा' है।

7. आस्रव अनुप्रेक्षा- मैं अपने मन, वचन और काय की क्रियाओं के कारण, निरन्तर, अनेक प्रकार के कर्मों का आस्रव कर रहा हूँ; जिससे सम्बद्ध हो, अनेक प्रकार के कर्म मेरी आत्मा को नाना योनियों में भटका रहे हैं। जब तक मेरा अज्ञान दूर नहीं हो जाता, तब तक मैं इस आस्रव से नहीं बच सकता। इस प्रकार का चिन्तन करना 'आस्रव अनुप्रेक्षा' है।

8. संवर अनुप्रेक्षा- प्रति समय होने वाले कर्मों के आस्रव की इस प्रक्रिया को रोके बिना हमारी आत्मा का विकास सम्भव नहीं। संवर के माध्यम से ही कर्मों को रोका जा सकता है। इसके साधन मेरे जीवन में कैसे विकसित हों? इस प्रकार विचार करना 'संवर अनुप्रेक्षा' है।

9. निर्जरा अनुप्रेक्षा- कर्मों के झड़ने को निर्जरा कहते हैं। तप के द्वारा सभी कर्मों की निर्जरा होती है। जब तक मैं अपने कर्मों की निर्जरा नहीं कर लेता, तब

तक मैं आत्मिक सुख को नहीं पा सकता। संवरपूर्वक जब तपरूपी ज्योति मेरे अन्तर में प्रकट होगी, तभी मेरी आत्मा आलोकित होगी। इस प्रकार का विचार करना 'निर्जरा अनुप्रेक्षा' है।

10. **लोक अनुप्रेक्षा**- अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर, मैं अनादि से इस लोक में भटक रहा हूँ। यह लोक छह द्रव्यों का संयुक्त रूप है। किसी के द्वारा बनाया नहीं गया है; न ही इसका विनाश सम्भव है। यह अनादि-निधन है। चौदह राजू ऊँचाई वाले पुरुषाकार इस लोक में, मैं अपने अज्ञान के कारण भटकता हुआ अकथनीय दुःखों का पात्र रहा हूँ। अब जैसे भी बने, मुझे इस परिभ्रमण को समाप्त कर अपना शाश्वत स्वरूप प्राप्त करना है, जहाँ जाने के बाद किसी प्रकार का आवगमन नहीं होगा। इस प्रकार के चिन्तन को 'लोक अनुप्रेक्षा' कहते हैं।

11. **बोधि-दुर्लभ अनुप्रेक्षा**- धन-धान्यादि बाह्य सांसारिक सम्पदा तो मैं अनेक बार प्राप्त कर चुका, पर उनसे मुझे किसी प्रकार का सुख या सन्तोष नहीं मिला, किन्तु संसार से पार उतारने वाला यह ज्ञान मुझे बहुत दुर्लभता से प्राप्त हुआ है। इसकी प्राप्ति उतनी ही दुर्लभ है, जितनी कि किसी शहर के चौराहे पर रत्नों की राशि का मिलना। अतः रत्नों से भी बहुमूल्य इस बोधि-रत्न को पाकर मुझे इसके संरक्षण और संवर्धन में लगना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन को 'बोधि-दुर्लभ अनुप्रेक्षा' कहते हैं।

12. **धर्म अनुप्रेक्षा**- लोक के सारे संयोग और सम्बन्ध यहीं छूट जाते हैं। धर्म इस जीव के साथ परलोक में भी जाता है। धर्म ही इसका सच्चा साथी है। यही हमारा वास्तविक मित्र है। इससे ही हमारा कल्याण होगा। इस प्रकार के चिन्तन से अपनी धार्मिक आस्था दृढ़ करना 'धर्म अनुप्रेक्षा' है।

इस बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का हमारे जीवन में बहुत अधिक महत्व है। इन पर अनेक ग्रन्थ प्राकृत और संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं। हिंदी के अनेक कवियों ने भी अपनी लेखनी का विषय बनाया है। उनका आलम्बन लेकर, हम सहज ही इनका सविस्तार चिन्तन कर सकते हैं।

परीषह जय

अंगीकृत धर्म-मार्ग में स्थिर रहने के लिए तथा कर्म-बन्ध के विनाश के लिए समस्त प्रतिकूल विचारों और परिस्थितियों का समतापूर्वक सहन करते चलना

परीषह जय कहा गया है-

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।[1]

'परीषह' यह शब्द 'परि' और 'षह' इन दो शब्दों के सम्मेल से बना है। 'परि' अर्थात् 'सब ओर से' 'षह' का अर्थ होता है 'सहन', यानी आन्तरिक संवेदनाओं से तथा बाह्य संयोगों-वियोगों से उत्पन्न सभी प्रकार के कष्टों तथा दुःखों को समतापूर्वक सहन करना ही परीषह जय है। दिगम्बर साधु इसका पालन करते हैं। चूँकि वे प्रकृति में रहते हैं तथा सभी प्रकार के साधन व सुविधाओं से दूर रहते हैं, ऐसी स्थिति में समता भाव को नष्ट करने वाली अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और वे ही स्थितियाँ उनके समत्व की परीक्षा के विशेष क्षण होते हैं। यद्यपि ऐसी परिस्थितियाँ अनगिनत हो सकती हैं, किन्तु मुख्य रूप से उन्हें बाईस में विभाजित किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिए तत्सम्बन्धी क्लेशों पर विजय पाने का उपदेश दिया गया है। वे हैं क्रमशः- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस-मच्छर, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। इन्हें इस प्रकार परिभाषित किया गया है-

1-2 क्षुधा-तृषा- जैन साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह नहीं रखते, न ही अपना भोजन अपने हाथ से बनाते हैं। भिक्षावृत्ति से ही भोजन ग्रहण करते हैं, वह भी दिन में एक ही बार। वे समय-समय पर उपवास आदि तप भी धारण करते हैं। ऐसी स्थिति में भूख और प्यास लगना स्वाभाविक है। फिर भी, कितनी ही तीव्र भूख या प्यास लगने पर स्वीकृत मर्यादा (विधि) विरुद्ध आहार मिलने पर उसे ग्रहण नहीं करना, क्षुधा और प्यास रूपी अग्नि को धैर्य रूपी जल से शान्त करना 'क्षुधा-तृषा परीषह-जय' है।

3-4 शीत-उष्ण- कड़कड़ाती ठण्ड हो या जेठ की तपतपाती धूप, दोनों परिस्थितियों में वस्त्रादिकों को स्वीकार न कर, समता-भावपूर्वक सर्दी-गर्मी सहन करना 'शीत-उष्ण परीषह-जय' है।

5. डाँस-मच्छर- मक्खी, पिस्सू आदि जन्तुओं कृत बाधाओं को समतापूर्वक सहन करना, उनसे विचलित होकर प्रतिकार की इच्छा न करना 'डाँस-मच्छर परीषह-जय' है।

1. तत्त्वार्थ सूत्र-9/8

6. नाग्न्य- सद्यः प्रसूत बालक की तरह नग्न रूप धारण करना 'नाग्न्य परीषह-जय' है। दिगम्बरत्व को धारण करने वाले साधु के मन में किसी भी प्रकार का विकार न आना तथा लज्जा आदि के वश उसे छिपाने का भाव न करना, 'नाग्न्य परीषह-जय' है।

7. अरति- 'अरति' का अर्थ 'संयम के प्रति अनुत्साह' है। अनेक विपरीत कारणों के होने पर भी संयम के प्रति अत्यन्त अनुराग बना रहना 'अरति परीषह-जय' है।

8. स्त्री- नव-युवतियों के हाव-भाव, विलास आदि द्वारा बाधा पहुँचाए जाने पर भी मन में विकार उत्पन्न नहीं होने देना, उनके रूप को देखने अथवा उनके आलिंगन आदि की भावना न होना 'स्त्री परीषह-जय' है।

9. चर्या- नंगे पैरों से सतत विहार करते रहने पर, मार्ग में पड़ने वाले कंकर-पत्थरों से पैर छिल जाने पर भी खेद-खिन्न न होना 'चर्या परीषह-जय' है।

10. निषद्या- जिस आसन में बैठे हैं उस आसन से विचलित न होना 'निषद्या परीषह-जय' है।

11. शय्या- स्वाध्याय, ध्यान आदि के श्रमजन्य थकावट दूर करने के लिए, रात्रि में ऊँची-नीची, कठोर भूमि अथवा लकड़ी के पाटे आदि पर एक करवट से शयन करना 'शय्या परीषह-जय' है।

12. आक्रोश- मार्ग में चलते हुए साधु को अन्य अज्ञानियों द्वारा गाली-गलौच आदि से अपमानित करने पर भी शान्त रहना, उन पर क्रोध न करना 'आक्रोश परीषह-जय' है।

13. वध- जैसे चन्दन को जलाने पर भी वह सुगन्ध देता है; वैसे ही अपने साथ मार-पीट करने वालों पर भी क्रोध न करना, अपितु उनका हित सोचना 'वध परीषह-जय' है।

14. याचना- आहारादि के न मिलने पर भले ही प्राण चले जायें, लेकिन किसी से याचना करना तो दूर, मन में दीनता भी न आना 'याचना परीषह-जय' है।

15. अलाभ- आहारादि का लाभ न होने पर भी, उसमें लाभ की तरह सन्तुष्ट रहना 'अलाभ परीषह-जय' है।

16. रोग- यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीड़ा से घिर जाये, तो उस रोग को शान्तिपूर्वक सहना 'रोग परीषह-जय' है।

17. तृण-स्पर्श- चलते, उठते, बैठते तथा सोते समय जो कुछ तृण, कंकड़, काँटा आदि चुभने की पीड़ा ले, उसे साम्य भाव से सहन करना 'तृण स्पर्श परीषह-जय' है।

18. मल- शरीर में पसीना आदि से मल लग जाने पर भी उस ओर दृष्टि न देकर उन्हें हटाने की इच्छा न करना 'मल परीषह-जय' है।

19. सत्कार-पुरस्कार - सम्मान एवं अपमान में समभाव रखना और आदर-सत्कार न होने पर खेद-खिन्न न होना 'सत्कार-पुरस्कार परीषह-जय' है।

20. प्रज्ञा- अपने पाण्डित्य का अहंकार न होना 'प्रज्ञा परीषह-जय' है।

21. अज्ञान- ज्ञान न होने पर लोगों के तिरस्कार युक्त वचनों को सुनकर भी अपने अन्दर हीन-भावना न लाना 'अज्ञान परीषह-जय' है।

22. अदर्शन- श्रद्धान से च्युत होने के कारण उपस्थित होने पर भी मुनि मार्ग से च्युत न होना 'अदर्शन परीषह-जय' है।

ये बाईस परीषह जैन मुनियों की विशेष साधनाएँ हैं। इनके द्वारा वह अपने को पूर्ण इन्द्रिय-विजयी और योगी बनाकर संवर का पात्र बनाते हैं। परीषहों को जीतने से चरित्र में दृढ़ निष्ठा होती है और कर्मों का आस्रव रुककर संवर होता है।

चारित्र

संवर का सातवाँ साधन चारित्र है। जिसके द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का निवारण होता है, उसे चारित्र कहते हैं।[1] एक परिभाषा के अनुसार, आत्मिक शुद्ध दशा में स्थिर होने का प्रयत्न करना चारित्र है।[2] विशुद्धि की तरतमता की अपेक्षा, चारित्र पाँच प्रकार का कहा गया है - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात।[3]

1. भग.आ. विजयो 8/41
2. प्र.सा.-जय वृत्ति 8
3. तत्त्वार्थ सूत्र 9/18

1. सामयिक - साम्यभाव में स्थित रहने के लिए समस्त पाप-प्रवृत्तियों का त्याग करना 'सामयिक चारित्र है'।[1]

2. छोदोपस्थापना - गृहीत चारित्र में दोष लगने पर, उनका परिहार कर, मूल रूप में स्थापित होना 'छेदोपस्थापना' है।[2]

3. परिहार-विशुद्धि - चरित्र की जिस विशुद्धि से हिंसा का पूर्ण रूप से परिहार हो जाता है उसे 'परिहार-विशुद्धि चरित्र' कहते हैं। इस चारित्र के प्रकट होने पर शरीर में इतना हल्कापन आ जाता है कि चलने-फिरने, उठने-बैठने आदि सभी क्रियाओं के बाद भी किसी जीव का घात नहीं होता। 'परिहार' का अर्थ होता है 'हिंसादिक पापों से निवृत्ति'।[3] इस विशुद्धि के बल से हिंसा का पूर्ण रूप से परिहार हो जाता है; अतः परिहार-विशुद्धि इसकी यह सार्थक संज्ञा है। इस चारित्र का धनी साधु जल से अलिप्त कमल के पत्रों की तरह पापों से अलिप्त रहता है। यह किसी विशिष्ट साधना-सम्पन्न तपस्वी को ही प्राप्त होता है।

4. सूक्ष्म-साम्पराय - जिस साधक की समस्त कषायें नष्ट हो चुकी हैं, मात्र एक लोभ कषाय अति सूक्ष्म रूप में शेष रह गयी है तथा जो उसे भी क्षीण करने में तत्पर है, उसके चारित्र को 'सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र' कहते हैं।[4]

5. यथाख्यात - समस्त मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर प्रकट, आत्म के शान्त-स्वरूप में रमण करने रूप चारित्र 'यथाख्यात चारित्र' है।[5] इसको वीतराग चारित्र या अथाख्यात चारित्र भी कहते हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामायिक के अतिरिक्त शेष चारों चारित्र सामयिक रूप में ही हैं, परन्तु आचार गुणों की विशेषता होने के कारण उन चार को अलग कहा गया है।

इस प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र रूप संवर के बासठ भेद कहे गये है। वे मुख्य रूप से साधु-जीवन को लक्ष्य करके कहे गये हैं। इसका अर्थ यह है कि संवर की सिद्धि के लिए साधु-धर्म अपेक्षित है। गृहस्थ जन भी इनका यथाशक्ति पालन करके आंशिक संवर के अधिकारी बन सकते हैं।

---

1. त.वा. 9/29/11
2. सर्वा. सि. 9/18
3. सर्वा. सि. 9/18
4. सर्वा. सि. 9/18
5. सर्वा. सि. 9/18

निर्जरा

निर्जरा का अर्थ

बद्ध कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है।[1] सात तत्त्वों में संवर तत्त्व के बाद इसका स्थान है। संवर के द्वारा कर्मों का आस्रव रुकता है; तो निर्जरा द्वारा पूर्व-बद्ध अर्थात् संचित कर्मों का क्षय होता है। जैसे जल के प्रवेश-द्वार को बन्द कर देने पर सूर्य के प्रखर ताप से तालाब स्थित जल धीर-धीरे सूख जाता है, वैसे ही कर्मों के आस्रव को संवर द्वारा रोक देने पर तप आदि साधनों से आत्मा के साथ पहले बाँधे हुए कर्म धीरे-धीरे निःसत्व होते जाते हैं। इस दृष्टि से 'निर्जरा' का अर्थ हुआ 'कर्म-वर्गणाओं का आंशिक रूप से आत्मा से छूटना'[2] आत्म-प्रदेशों से कर्मों का छूटना ही निर्जरा है। यह प्रक्रिया जब उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाती है, तब आत्मा में लगे सम्पूर्ण कर्मों का विलगाव हो जाता है और आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कर्मों का पूर्ण रूप से विलग होना ही मोक्ष है।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग में सीढ़ियों के समान है। जैसे कदम-दर-कदम सीढ़ियों पर चढ़कर मंजिल पर पहुँचते हैं, वैसे की क्रमशः निर्जरा करते हुए मोक्ष-अवस्था की प्राप्ति होती है।

निर्जरा के भेद

निर्जरा दो प्रकार की होती है- द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। आत्मा के जिस निजी (शुद्ध) परिणमन से कर्म-पुद्गल विलग होते/झड़ते हैं, उस परिणाम/भाव की प्रक्रिया को भाव निर्जरा कहते हैं। दूसरो शब्दों में, भाव निर्जरा से तात्पर्य आत्मा में होने वाली उस वैचारिक उज्ज्वलता से है जिससे कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशों को

1. वा. अनु. 66

2. सर्वार्थ सिद्धि 1-4

छोड़ने के लिए बाध्य होते हैं। द्रव्य निर्जरा से तात्पर्य है- कर्म पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से विलग होने की प्रक्रिया; जो कर्म-फल भोगने के द्वारा अथवा कर्म-फल भोगने से पूर्व तप आदि के द्वारा सम्पादित होती है।[1]

इस प्रकार से द्रव्य निर्जरा दो प्रकार की हो जाती है। प्रथम सविपाक निर्जरा और द्वितीय अविपाक निर्जरा।[2]

स्थिति के पूर्ण होने पर, कर्मों के सुख-दुःखात्मक फल देकर विलग होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। जैसे-आम आदि फल पककर झड़ जाते हैं, वैसे ही यह निर्जरा केवल फलोन्मुख हुए कर्मों की होती है। इसे यथाकाल-निर्जरा भी कहते हैं।[3] यह सभी संसारी जीवों के प्रतिसमय होती रहती है,[4] क्योंकि बँधे हुए कर्म अपने-अपने समय पर अपना फल देकर निजीर्ण होते ही रहते हैं। मोक्षमार्ग में इस प्रकार की निर्जरा का महत्त्व नहीं है, क्योंकि इस निर्जरा में राग-द्वेष होने के कारण निर्जरा के साथ-साथ नवीन कर्मों का बन्ध भी होता है। संवर पूर्वक होने वाली निर्जरा ही मोक्षमार्ग में उपादेय है।

सविपाक निर्जरा के विपरीत अविपाक निर्जरा है, जिसमें परिपाक-काल से पहले तप आदि साधनों के द्वारा समय से पूर्व ही कर्मों को झड़ाया/गलाया जाता है। यह ऐसा ही है जैसे-माली कच्चे आमों को तोड़कर, पाल आदिक में रखकर, उन्हें समय से पूर्व ही पका लेता है। वैसे ही अविपाक निर्जरा परिपाक काल से पूर्व ही तप आदि विशेष साधनों द्वारा की जाती है। यह समय से पूर्व ही कर्मों ही गला देती है।[5] मोक्षमार्ग में यह अविपाक निर्जरा ही उपादेय मानी गयी है। यह व्रतधारी, सम्यक्दृष्टि पुरुषों के ही होती है।[6]

निर्जरा का लाभ

निर्जरा का साधन तप कहा गया है।[7] करोड़ों वर्षों से सञ्चित-कर्म तप से निर्जरित हो जाते हैं। ***'भव कोटि संचियं कम्मं तवसा णिरज्जइ'।*** कहा गया है कि तप के बिना अकेले संवर से ही मोक्ष नहीं होता। जैसे अर्जित धन उपभोग के बिना समाप्त नहीं होता, वैसे ही सञ्चित कर्म तपस्या के बिना नष्ट नहीं होते। इसलिए कर्म-निर्जरा के लिए तप आवश्यक है।[8] वैदिक-ग्रन्थों में भी **''तपसा किल्विषं**

1. प्रवचन सार टीका 36
2. भ.आ.मू. 1847
3. सर्वार्थ सिद्धि 8/23
4. का.अनु.गा. 104
5. सर्वार्थ सिद्धि 8/13
6. का.अनु.गा. 104
7. त. सू. 9/13
8. भ.आ.मू.गा. 1846

हन्ति'' तप द्वारा पाप नाश करते हैं। ऐसा कहकर तप को आत्मशोधन का उपाय बताया गया है।

तप का महत्त्व

तप की बहुत महिमा है। जैसे जल मिट्टी को गला देता है, किन्तु अग्नि में तपने के बाद, उसी घड़े में जल को, अपने भीतर धारण करने की क्षमता आ जाती है, उसी प्रकार तप के द्वारा आत्मा में अनेक गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। जैसे सोने को तपाने पर स्वर्ण की आभा निखर उठती है; ठीक वैसे ही तपस्वी जन जितना ही अधिक दुर्द्धर तप करते हैं, उनकी आत्मा में उतना ही निखार आता है।

जैन-शास्त्रों में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसे मोक्षमार्ग का प्रमुख अङ्ग बताकर, धर्म निरूपित किया गया है। ***'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो'***[1] तप के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए 'भगवती आराधना' में कहा गया है कि ''जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो निर्दोष तप से प्राप्त नहीं होता। जैसे अग्नि तृण को जलाती है, वैसे ही तप रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जलाकर भस्म कर डालती है। उत्तम प्रकार से किया गया, आस्रव-रहित तप का फल वर्णन करने में हजारों जिह्वाओं वाला इन्द्र भी समर्थ नहीं है।''[2]

तप का लक्षण

तप की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। किसी ने अमुक व्रत को ही तप माना है, किसी ने वनवास, कंद-मूल भक्षण अथव सूर्य के आतप को सहना ही तप माना है, तो किसी ने देह और इन्द्रियों के दमन से ही तप की पूर्णता स्वीकार की है, किसी ने मात्र मानसिक तितिक्षा को ही तप मानने की हिमायत की है, परन्तु जैन धर्म में तप का बड़ा विशद अर्थ किया गया है डौर उसमें शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि करने वाले सारे प्रयोगों को स्थान दिया गया है।

'इच्छा निरोधस्तप:'[3]- यह जैनों का प्रसिद्ध सूत्र है। तप का मूल उद्देश्य इच्छाओं का निरोध ही है। इसलिए अज्ञानपूर्वक लौकिक, ख्याति पूजा, प्रतिष्ठा और लाभ की भावना से किये गये तप को बाल-तप (अज्ञानियों का तप) कहा गया है। वस्तुतः ऐहिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर, सिर्फ कर्म-क्षय के लिए किया गया

1. प्रतिक्रमण सूत्र   2. भ.आ.मू.गा. 1472, 1473   3. चा. सा. 59

पुरुषार्थ ही तप है। आचार्य अकलंकदेव ने तप का लक्षण करते हुए कहा है, ''**कर्म निर्दहनात्तपः**''[4] कर्मों का दहन अर्थात् भस्म कर देने के कारण ही इसे तप कहते हैं, जैसे अग्नि संचित-तृणादि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार तप भी जन्म-जन्मान्तरों से सञ्चित कर्मों को जला डालते हैं तथा देह और इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति को रोककर, उन्हें तपा देते हैं, अतः ये तप कहे जाते हैं।[1] ''**तवो विसयविणिग्गहो जत्थ**''[2], तप वही है जहाँ विषयों का निग्रह है।

तप के भेद

तप के बारह भेद हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन और काय-क्लेश ये छह बाह्य तप हैं। बाह्य द्रव्यों के आलम्बन पूर्वक होने से तथा बाहर प्रत्यक्ष दिखने से, इन्हें बाह्य तप कहते हैं।[3] प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद आभ्यन्तर तप के हैं। मनोनिग्रह से सम्बन्ध होने के कारण इन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं।[4] बाह्य तप भी आभ्यन्तर तप की अभिवृद्धि के उद्देश्य से ही किये जाते हैं। आभ्यन्तर तप साध्य है, बाह्य तप उनके साधन हैं।[5]

बाह्य तप

अनशन- 'अशन' का अर्थ होता है 'भोजन'। भोजन का त्याग करना 'अनशन' तप कहलाता है। यह सीमित समय के लिए भी होता है तथा यावज्जीवन भी। अनशन से भूख पर विजय होती है। भूख को जीतना और मन का निग्रह करना अनशन तप है। अनशन से शारीरिक शुद्धि भी होती है। यह शरीर का सबसे बड़ा चिकित्सक है। कहा भी है ''**लंघनं परमौषधम्।**'' अनशन को उपवास भी कहते हैं। 'उपवास' का अर्थ होता है- 'उप' यानी 'पास'; 'वास' का अर्थ है 'बैठना'। अपने करीब आने को उपवास कहते हैं। अकेले भोजन छोड़ना उपवास नहीं कहलाता। भोजन के साथ-साथ विषय-विकारों का त्याग कर, मन पर नियन्त्रण करना ही उपवास है। मनोनिग्रह के अभाव में किया गया उपवास, उपवास न होकर लंघन कहलाता है।[6] ध्यान की साधना में उपवास आवश्यक है।

1. त.वा. 9/19/18
2. त.वा. 9/19/18
3. नियमसार त.वृ. 6/15
4. स.सि. 9/19
5. स.सि. 9/20
6. स्वयंभू-स्त्रोत 83
7. कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधीयते।
   उपवासो स विज्ञेयो शेषं लंघनकं विदुः ॥ (का. अनु. पर उद्धत पृ. 33)॥

ऊनोदर- 'ऊन' का अर्थ हैं 'कम', 'उदर' का अर्थ पेट अर्थात् भोजन करते समय भूख से कम खाना, पेट को अपूर्ण रखना 'ऊनोदर तप' है। अधिक खाने से मस्तिष्क पर रक्त का दबाव बढ़ जाता है। परिणामतः स्फूर्ति कम हो जाती है और नींद आने लगती है। इसके अतिरिक्त अधिक खाने से वायु-विकार आदि अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। ऊनोदर तप बहुत उपयोगी है। इससे ब्रह्मचर्य की सिद्धि भी होती है तथा यह निद्रा विजय का साधन है।[1] भूख से कम खाना ही ऊनोदर है, इसे अवमौदर्य भी कहते हैं।

वृत्ति-परिसंख्यान- भिक्षा के लिए जाते समय मुनि द्वारा घरों का नियम करना कि मैं आहार के लिए इतने घरों तक ही जाऊँगा और इस रीति से आहार मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नहीं। इसे 'वृत्ति-परिसंख्यान तप' कहते हैं। यह तप भोजन के प्रति आशा और राग की निवृत्ति के लिए किया जाता है।[2]

रस-परित्याग- 'रस' का अर्थ है 'प्रीति बढ़ाने वाला'। "**रसः प्रीतिविवर्धनम्**" -रस भोजन में प्रीति बढ़ाता है। घी, दूध, तेल, दही, मीठा और नमक-इन छह प्रकार के रसों के संयोग से भोजन स्वादिष्ट होता है तथा अधिक खाया जाता है। इनके अभाव में भोजन नीरस हो जाता है। इन्द्रिय विजय के लिए इनमें से किसी एक, दो या सभी रसों का त्याग करना 'रस-परित्याग तप' है।[3]

विविक्त-शय्यासन- ब्रह्मचर्य, ध्यान, स्वाध्याय आदि की सिद्धि के लिए एकान्त स्थान पर शयन करना तथा आसन लगाना 'विविक्त-शय्यासन तप' है।[4]

कायक्लेश- 'कायक्लेश' का अर्थ होता है- शारीरिक कष्टों/बाधाओं को सहन करना। सुख से प्राप्त हुआ ज्ञान प्रतिकूलताओं में नष्ट हो जाता है, अतः साधक को कष्ट-सहिष्णु होना चाहिए।[5] इसी उद्देश्य से शारीरिक ममत्व को कम करने के लिए, तथा तज्जन्य कष्ट सहने के लिए, और धर्म की प्रभावना के लिए अनेक प्रकार के आसनों द्वारा खड़ें रहना, बैठना, ध्यान लगाना आदि 'कायक्लेश तप' है।[6] ये छहों तप बाह्य वस्तु की अपेक्षा के कारण तथा दूसरों द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण बाह्य तप हैं।

---

1. त.वा. 9/19/3
2. त.वा. 9/19/14
3. त.वा. 9/19/5
4. त.वा. 9/19/12
5. अदुक्ख भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
   तम्हा जहा बलं जोई भावह दुक्खस्स भावणा॥ **मो. पा. 62**
6. त.वा. 9/19/14

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त: किये गये अपराधों के शोधन को प्रायश्चित्त कहते हैं। 'प्रायः' का अर्थ 'अपराध' है और 'चित्त' का अर्थ होता है 'शोधन'। अपराधों के शोधन की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं।[1] 'प्रायश्चित्त' शब्द की व्युपत्ति करते हुए, कहा गया है कि जिसके द्वारा पाप का छेदन हो वह प्रायश्चित्त है।[2]

यह एक ऐसा तप है, जिसमें अपने अज्ञान व प्रमादवश हुई भूलों का अहसास होते ही साधक का मन पश्चात्ताप से भर जाता है तथा वह निश्छल भाव से उसे अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देता है। जैसे, किसी कुशल वैद्य के हाथों दी गयी औषधि को रोगी, अपने लिए हितकारी ज्ञान, कड़वी होने पर भी बड़े उत्साह से ग्रहण करता है, वैसे ही प्रायश्चित्त से शिष्य, गुरु द्वारा प्रदत्त अल्प या अधिक दण्ड को अपना हितकर समझ सहर्ष स्वीकार करता है।

कुछ लोग प्रायश्चित्त को दण्ड समझते हैं। प्रायश्चित्त दण्ड नहीं है। दोनों में अन्तर है। प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है, दण्ड दिया जाता है। प्रायश्चित्त में सहज स्वीकृति है, दण्ड में मजबूरी। प्रायश्चित्त लेने वाले का मन पश्चाताप से भरा होता है, जबकि दण्ड भोगने वाले को प्रायः अपराध-बोध भी नहीं रहता, यदि कदाचित् होता भी है तो उसके प्रति पश्चात्ताप नहीं होता। प्रायश्चित्त को लेने वाला उसे समझता है- 'स्वयं पर गुरु की कृपा, दण्ड को समझा जाता है बोझ'। दोनों की मानसिकता में महान् अन्तर है, अतः दोनों एक नहीं कहे जा सकते।

प्रायश्चित्त-तप से दोषों का नाश होता है तथा भावों की विशुद्धि होती है। प्रायश्चित्त वही लेता है, जिसका मन सरल होता है।

विनय- पूज्य-पुरुषों एवं मोक्ष के साधकों के प्रति हार्दिक आदर-भाव विनय है।[3] विनय का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि "विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः"[4] अर्थात् जो कर्म मल को दूर कर दे, वह विनय है। इसलिए विनय को 'मोक्ष का द्वार' कहा गया है।[5]

---

1. त.वा. 9/22/1
2. पावं छिंदई जम्हा पायच्छित्तं तु भण्णई तेण। आ.नि. 1503
3. सर्वा. सि. 9/20/439
4. भग.आरा. विजयो 300/511/21
5. अ. मू. चा. 386 ब. भग. आ. मृ. 129

वैयावृत्य- गुणों के अनुराग पूर्वक संयमीजनों की थकावट क्लान्ति आदि को दूर करना, हाथ-पाँव दबाना तथा और भी ऐसे उपकार करना 'वैयावृत्य' कहलाता है।[1] बाल, वृद्ध, युवा, तपस्वी साधुओं के हाथ-पाँव दबाकर, तेल मर्दन कर, आवश्यकता के अनुसार योग्य औषधि लगाकर उनकी यात्रा, स्वाध्याय और तपस्याजन्य श्रम के खेद को दूर करना वैयावृत्य है। वैयावृतय का बहुत महत्त्व है। वैयावृत्य करने से समाधि-धारण, ग्लानि पर विजय, परस्पर वात्सल्य एवं सनाथता प्रकट होती है।[2] आचार्य श्री कुंदकुंद ने वैयावृत्य को जिन-भक्तिपरक बताते हुए, अपनी शक्ति के अनुसार सदा काल करने की प्रेरणा दी है।[3] भगवती आराधना में कहा गया है कि "समर्थ होते हुए भी जो वैयावृत्ति नहीं करता, वह धर्म-भ्रष्ट है।" जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र-कथित धर्म का नाश अथवा साधु-वर्ग का व आगम का त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्ति की उपेक्षा करने से उत्पन्न होते हैं।[45]

स्वाध्याय- आलस्य के त्याग और ज्ञान की आराधना को स्वाध्याय कहते हैं।[5] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय के पाँच भेद हैं।[6] ग्रन्थों का अर्थ सहित पढ़ना/पढ़ाना वाचना है।[7] संशय के निवारण के लिए तथा अर्थ के निश्चय के लिए ज्ञानीजनों से प्रश्न करना 'पृच्छना' है। पढ़े हुए अर्थ का बार-बार विचार करना 'अनुप्रेक्षा' है। शुद्धतापूर्वक पाठ करना 'आम्नाय' है। धर्म का उपदेश करना, सुनना या मनन करना धर्मोपदेश है।[8]

स्वाध्याय करने से ज्ञान बढ़ता है, वैराग्य बढ़ता है एवं तप में वृद्धि होती है। मन को स्थिर रखने का स्वाध्याय से सरल उपाय और कोई नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि स्वाध्याय से बड़ा कोई तप नहीं है।[9]

व्युत्सर्ग- अहंकार और ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।[10] इसके दो भेद हैं- बाह्य उपधि त्याग और आभ्यन्तर उपधि त्याग।[11] आत्मा से पृथक् धन-धान्यादि के प्रति ममता का त्याग करना बाह्य उपधि त्याग है तथा रागादिक विकारी भावों का त्याग आभ्यन्तर उपधि त्याग है।[12] कुछ समय के लिए अथवा जीवन पर्यन्त के लिए शरीर के ममत्व को त्यागना आभ्यन्तर उपधि त्याग है।[13]

---

1. र.क.श्रा. 112
2. त.वा. 9/24
3. भाव प्राभृत 103
4. भ.आ. 307. 308
5. सर्वाथ सिद्धि पृ. 349
6. त.सू. 25
7. शिष्याध्यापनं वाचना ध. पु. 9/252
8. तू.सू. 9/25
9. णवि अत्थि णविय होहिदि सज्झाय समं तवो कम्मं। भग. आ. -107
10. सर्वा.सि. 9/20 पृ. 346
11. त.वा. 9/26/3-4-5
12. वही
13. त.वा. 9/26/3.4.5

इसके करने से निर्भयता और निःसंगता आती है। मन हल्का होता है तथा आशा-तृष्णा पर विजय प्राप्त होती है।

ध्यान- मन की एकाग्रता को 'ध्यान' कहते हैं। चित्त का किसी एक विषय को लेकर उसमें लीन होना ध्यान है। हर प्राणी का चित्त सामान्यतः हर समय कुछ न कुछ ध्यान करता ही रहता है। भले ही वह शुभ हो अथवा अशुभ, इसी दृष्टि से ध्यान के प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो भेद किये गये हैं।[1]

(i) **आर्त्त ध्यान**- आर्त्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं। आर्त्त का अर्थ होता है 'पीड़ा', 'दुःख'। इष्ट की प्राप्ति के लिए, या उसके संयोग के लिए, अनिष्ट के परिहार के लिए, शरीर आदि से उत्पन्न वेदना के प्रतिकार के लिए तथा लालासावश आगामी भवों में भोगों की प्राप्ति के लिए चित्त में जो विकलता होती है उसे आर्त्तध्यान कहते हैं। उक्त चार निमित्तों की अपेक्षा इसके चार भेद हो जाते हैं।

(ii) रौद्र ध्यान- 'रुद्र' का एक अर्थ होता है 'क्रूर'। जो ध्यान क्रूर परिणामों से होता है, उसे रौद्र ध्यान कहते हैं। रौद्र ध्यान का मूल आधार क्रूरता है। अतः क्रूरता के जनक हिंसा, झूठ, चोरी और विषय-संरक्षण के निमित्त से रौद्र ध्यान के भी चार भेद हो जाते हैं- हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और विषय संरक्षणानन्दी (परिग्रहानन्द), इनका अर्थ इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार आर्त्त और रौद्र ध्यान बिना प्रयत्न के ही हमारे संस्कारवश चलता रहता है। ये दोनों ध्यान हमारी दुर्गति के कारण है। मोक्षमार्ग में इनका कोई स्थान नहीं है। न ही ऐसे ध्यान तप की श्रेणी में आते हैं, अपितु ये दोनों तप के विरोधी हैं। इन अशुभ विषयों से चित्त को हटाकर, किसी शुभ विषय में टिकाना ध्यान तप है।

धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त-ध्यान की श्रेणी में आते हैं।

धर्म-ध्यान- पवित्र विचारों से मन का स्थिर होना धर्म-ध्यान है। इसमें धार्मिक चिन्तन की मुख्यता रहती है। निमित्तों की अपेक्षा धर्मध्यान के चार भेद हो जाते हैं-

(1) **आज्ञा विचय**- वीतरागी महापुरुषों की जो धर्म सम्बन्धी प्ररूपणाएँ हैं, उनका विचार करना, उनकी आज्ञा का प्रकाशन करना 'आज्ञा विचय' धर्म ध्यान है। पूजन, विधान आदि भी इसी ध्यान में आते हैं।

1. सवार्थसिद्धिः 9/28 पृ. 351

(2) अपाय विचय- 'अपाय' का अर्थ 'दुःख' होता है। संसार के प्राणी अपने अज्ञान से दुःखी हैं। उनके दुःखों का अभाव कैसे हो, इस प्रकार का करुणापूर्ण चिन्तन 'अपाय विचय' धर्म ध्यान है।

(3) विपाक विचय- कर्म फल के बारे में विचार करना 'विपाक विचय' है। संसारी जीव अपने-अपने कर्मों से पीड़ित होकर कैसे-कैसे उनका फल भोगते हैं तथा सभी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख मिलता रहता है। इस प्रकार का विचार करना 'विपाक विचय' धर्म ध्यान है।

(4) संस्थान विचय- विश्व या लोक के स्वरूप का सतत चिन्तवन् करते रहना 'संस्थान विचय' धर्म ध्यान है।

शुक्ल ध्यान- मन की अत्यन्त निर्मलता होने पर, जो एकाग्रता होती है, वह 'शुक्ल ध्यान' है। यह परिपूर्ण समाधि की स्थिति है। इससे अन्तर्मुखता की अग्रिम भूमिकाएँ प्रशस्त हो जाती हैं। इस स्थिति में भौतिक आकांक्षाएँ छूटती हैं और आत्मानुभूति के द्वार खुलते हैं। शुक्ल-ध्यान की चार अवस्थाएँ हैं। चौथी अवस्था में पहुँचने पर जीव सांसारिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार- तीनों योगों में प्रवृत्त होना 'पृथक्त्व' है। श्रुत ज्ञान के आलम्बन को वितर्क कहते हैं तथा अर्थ-व्यञ्जन और योगों के परिवर्तन को 'वीचार' कहते हैं। ध्येयों का यह परिवर्तन सहज निष्प्रयास या अबुद्धिपूर्वक होता है। इस ध्यान में परिणामों की विशुद्धि के साथ तीनों योगों में प्रवृत्त होता हुआ, श्रुत ज्ञान में उपयुक्त साधक पदार्थों के भिन्न-भिन्न पर्यायों का ध्यान करता है।[1] मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम इसी ध्यान की विशुद्धि से सम्भव होता है।

एकत्व-वितर्क-अवीचार- श्रुतज्ञान के आलम्बनपूर्वक मन, वचन और काय में से किसी एक योग में स्थिर होकर, द्रव्य की एक ही पर्याय का चिन्तन करना 'एकत्व-वितर्क-अवीचार' ध्यान है। इस ध्यान में एक ही योग होने के कारण 'एकत्व' रहता है तथा पर्यायों में परिवर्तन न होने के कारण 'वीचार' नहीं होता। इसलिए इसे एकत्व-वितर्क-अवीचार कहते हैं।[2] इसी ध्यान के बल से आत्मा वीतरागी-सर्वज्ञ बनकर सदेह परमात्मा बनता है।

सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति- वितर्क और वीचार से रहित इस ध्यान में मन, वचन और काय रूप योगों का निरोध हो जाता है। यहाँ तक कि श्वासोच्छ्वास

1. ध. पु. 13 पृ. 77
2. ज. ध. 1/344

जैसी सूक्ष्म-क्रिया भी इस ध्यान में निरुद्ध हो जाती है। सूक्ष्म क्रियाओं के भी निरोध से उपलब्ध होने के कारण इसे सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति कहते हैं।[2] यह ध्यान जीवन-मुक्त सयोग केवली के अपनी आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष बचने पर होता है।[3]

व्युपरत क्रिया-निवृत्ति- वितर्क और वीचार से रहित हुआ यह ध्यान क्रिया से भी रहित हो जाता है। इस ध्यान में आत्मा के समस्त प्रदेश निष्प्रकम्प हो जाते हैं। अतः आत्मा अयोगी बन जाता है। इस ध्यान में किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक , कायिक आदि क्रियाएँ नहीं होतीं। योग रूप क्रियाओं से उपरत हो जाने के कारण इस ध्यान का नाम 'व्युपरत क्रिया-निवृत्ति' है।[4] इस ध्यान के प्रताप से शेष सर्व कर्मों का नाश हो जाता है तथा आत्मा, देह मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से लोक के अग्रभाग तक जाकर वहाँ शरीरातीत अवस्था के साथ स्थिर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इसी ध्यान के बल से सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है और दुःखों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है।

तप कर्म-निर्जरा का मुख्य साधन है, इसीलिए जैन-दर्शन में इसे विशेष प्रतिष्ठा मिली है। इस पर विचार-विमर्श भी बहुत हुआ है, उसका सार यह है कि-

1. तप-पूजा, प्रसिद्धि अथवा सांसारिक लाभों की दृष्टि से नहीं करना चाहिए, अपितु कर्म-क्षय के लिए करना चाहिए।

2. तप इस प्रकार नहीं करना चाहिए, जिससे किसी अंग का भेद हो अथवा इन्द्रिय का खण्डन हो।

3. तप इस प्रकार करना चाहिए, जिससे मन में निर्मलता आती हो तथा ध्यान स्वाध्याय आदि का विकास होता हो।

4. तप आजीविका के हेतु अथवा खेदपूर्वक नहीं होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनधर्म का तप मात्र शारीरिक दण्ड रूप नहीं है, अपितु उसमें कायिक संयम के साथ-साथ मानसिक शुद्धि को भी उतना ही स्थान प्राप्त है। जैन तपश्चर्या शरीर और मन दोनों की शुद्धि द्वारा आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रकट करने की प्रक्रिया है। उसे मात्र शारीरिक दण्ड नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार संवर और निर्जरा के साधनों को अपनाता हुआ साधक, अपना क्रमोन्नत विकास करते हुए, मुक्ति के सोपानों पर चढ़ता है। संवर और निर्जरा ही मोक्षमार्ग में परम उपादेय है।

---

1. (अ) ध. पु. 13 पृ. 79 (ब) ज. ध. 1/344
2. भग. आ. मू. 1886
3. ब.द्र.स.टी. 48
4. मू. चा. 5/208

मोक्ष, आत्मा की परम अवस्था

- मोक्ष का स्वरूप
- मोक्ष का अर्थ आत्मा का अभाव नहीं
- मुक्ति के बाद ऊर्ध्वगमन में हेतु
- पुनरागमन नहीं
- अवतारवाद असंगत
- संसार खाली नहीं होगा
- मुक्तात्मा का आकार
- मोक्ष का सुख
- अन्य दर्शनों में मोक्ष

मोक्ष आत्मा की परम अवस्था

मोक्ष का स्वरूप

सात तत्त्वों में मोक्ष अन्तिम तत्त्व है। जीव का परम लक्ष्य मोक्ष ही है। सभी आत्मवादी भारतीय दर्शनों ने इसे स्वीकारा है। इसके बावजूद उसके स्वरूप और साधनों के सम्बन्ध में उन सबके अपने-अपने मत हैं। इस अध्याय में हम जैन दर्शन-मान्य मोक्ष के स्वरूप और साधनों के साथ-साथ अन्य दर्शनों में उल्लिखित/ वर्णित मोक्ष के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

बन्धन से मुक्ति को मोक्ष कहते हैं। 'मोक्ष' का अर्थ है 'मुक्त होना' संसारी आत्मा कर्मों के बन्धन से युक्त होता है। अतः आत्मा और कर्म-बन्ध का अलग-अलग हो जाना ही मोक्ष है। 'मोक्ष' शब्द संस्कृत के 'मोक्ष-आसने' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'छूटना' या 'नष्ट होना'। अतः समस्त कर्मों का आत्मा से आत्यन्तिक रूप से पृथक् होना, समूल उच्छेद होना मोक्ष है।[1] ''आत्यन्तिक क्षय'' का अर्थ है जहाँ पुरातन कर्मों का पूर्ण रूप से नाश हुआ हो और नये कर्मों के आगमन की कोई सम्भावना न हो। संवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोकने तथा निरन्तर चलने वाली निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों के नाश से, यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसी को परिलक्षित करते हुए आचार्यश्री 'उमास्वामी' ने मोक्ष का लक्षण करते हुए कहा है- **''बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः''**[2] अर्थात् बन्ध के हेतुओं के अभाव और निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा से अलग होना या उनका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

हमारी साधना का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष ही है। इसीलिए जैन-दर्शन में मुक्त जीवों को 'सिद्ध' कहा गया है, क्योंकि उन्होंने अपने समस्त कर्मों का क्षय करके

---

1. त.वा. 1/1/37 पृ. 29
2. त.सू. 10/2

अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है। कर्मों के बन्धन के कारण ही आत्मा दुःखी होता है। कर्मों के नष्ट हो जाने पर वह शुद्ध-बुद्ध-निरंजन हो जाता है। उसके आत्मिक गुणों का चरम विकास हो जाता है और उसकी अनेक अव्यक्त आत्मिक शक्तियाँ पूरे तेज के साथ व्यक्त हो जाती हैं। बन्धन मुक्त पक्षियों के स्वतन्त्र आह्लाद की तरह उन्मुक्त आनन्द एवं अनुपम सुख का अनुभव करता है। आनन्द भी कैसा चिरन्तन, शाश्वत, कभी नष्ट न होने वाला।

मोक्ष का अर्थ आत्मा का अभाव नहीं

बौद्ध दार्शनिक 'मोक्ष' का अर्थ 'आत्मा का अभाव' मानते हैं। उनका मानना है कि जैसे ज्योति के बुझने से ज्योति का अभाव हो जाता है, वैसे ही कर्मों का क्षय हो जाने से, चित्त-सन्तति का विनाश हो जाता है। यही निर्वाण है। अतः मोक्ष में आत्मा का अस्तित्व नहीं होता है।[1]

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि सत् का कभी विनाश नहीं होता तथा असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती।[2] बौद्धों के उपर्युक्त मत की मीमांसा करते हुए आचार्य 'समन्तभ्रद' महाराज ने कहा है कि दीपक के बुझ जाने से ज्योति का अभाव नहीं होता, अपितु उसके प्रकाश-रूप परमाणु ही अन्धकार रूप परिणत हो जाते हैं।[3] उसी प्रकार मोक्ष का अर्थ भी आत्मा का विनाश नहीं होता, कर्मों का क्षय होते ही आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था में परिणत हो जाती है।

वस्तुतः जीव अपने रागद्वेषादिक वैभाविक भावों के कारण ही संसारी होकर दुःखी होता है। आत्मा का राग-द्वेष आदि भावों से मुक्त होना ही मुक्ति है। 'आचार्य कमलशील' ने संसार और मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''रागादि-क्लेश और वासनामय-चित्त को संसार कहते हैं। चित्त का रागादि क्लेश और वासनामय संसार से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है। अतः मुक्ति का अर्थ जीव का अभाव न होकर रागादि-क्लेशों से मुक्ति है।''[4] रोग की निवृत्ति होने का अर्थ आरोग्य का लाभ है; न कि रोगी की निवृत्ति। अतः मुक्ति का अर्थ जीव का अभाव किसी भी अर्थ में नहीं हो सकता। जैनदर्शन में आत्मा की स्वाभाविक अवस्था की

1. भारतीय दर्शन प्रो. हरेन्द्रप्रसाद, पृ. 127
2. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उपपादो। पं.का. 15
3. नैवासतो जन्म, सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति। - स्वयंभृस्त्रोत 24
4. चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
   तदेव तै विर्निर्मुक्तं भवान्तः इति कथ्यते॥ त.सं. पंजिका पृ. 104॥

उपलब्धि को ही मुक्ति कहा गया है। वस्तुतः समस्त कर्मों के क्षय से होने वाला आत्म-लाभ ही मुक्ति है। कहा भी है-

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मल-क्षयात्।
नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥[1]

मुक्ति के बाद ऊर्ध्वगमन में हेतु

कर्म-मुक्त होते ही जीव का शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है तथा आत्मा अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है। कर्मों का क्षय और जीव का लोकान्त-गमन दोनों साथ-साथ होते हैं। जीव के ऊर्ध्वगति में आचार्य 'उमास्वामी' ने चार हेतु दिये हैं-

''पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च। आविद्ध कुलालचक्र वद्व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्ड-बीजवत् अग्नि-शिखावच्च।[2]**''**

1. पूर्व प्रयोग से (कुम्हार के चाक की तरह) - जैसे कुम्हार के द्वारा घुमाया हुआ चाक, डण्डे के अभाव में अपने पूर्व संस्कारवश घूमता रहता है, वैसे ही आत्मा द्वारा चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए किये गये ध्यानादि पुरुषार्थजन्य (प्रयोगजन्य) संस्कारवश ऊर्ध्वगमन करता है। अतः पूर्व संस्कार भी जीव के ऊर्ध्वगमन में एक कारण है।

2. असंग होने से- मिट्टी से लिप्त तुम्बी, मिट्टी के भार के कारण, पानी में डूबी रहती है और जब वह मिट्टी पानी में गलकर घुल जाती है, तब तुम्बी ऊपर उठ जाती है। वैसे ही कर्म-लेप से लिप्त आत्मा संसार में डूबा रहता है; कर्मों के भार से मुक्त होते ही ऊर्ध्वगति कर लेता है। अतः 'असंगत्व' ऊर्ध्वगति का दूसरा हेतु है।

3. बन्धन टूटने से : जिस प्रकार एरण्ड का फल जब पककर फटता है तो उसका बीज नीचे की ओर न गिरकर, उचटकर, सीधे, ऊपर की ओर जाता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध के टूटने से मुक्तात्मा भी सीधे ऊपर की ओर जाते हैं, वे तिर्यक् या नीचे की ओर नहीं जाते।

---

1. सिद्धि-विनिश्चय पृ. 485
2. त.सू. 10/6-7

4. वैसा स्वभाव होने से : जैसे निर्वात अग्नि की शिखा ऊपर की ओर ही उठती है, उसी प्रकार कर्मरहित आत्मा भी स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करता है। कर्मरूपी वायु से प्रताड़ित होते रहने के कारण ही वह इधर-उधर भटकता है। तात्पर्य यह है कि जब तक कर्म जीव की स्वाभाविक शक्ति को विकारी बनाये रखता है, तब तक वह पूर्ण रूप से ऊर्ध्वगमन नहीं कर पाता। स्वाभाविक शक्ति को विकृत करने वाले कर्मों के नष्ट हो जाने पर, आत्मा ऊर्ध्वगमन कर लोक के शिखर पर तिलक की तरह विराजमान हो जाता है। गति में हेतुभूत धर्म द्रव्य के अभाव के कारण उससे आगे जीव की गति नहीं होती।[1]

पुनः आगमन नहीं

ऊर्ध्वगति होने के बाद आत्मा का किसी भी परिस्थिति में पुनरागमन नहीं होता। जिस प्रकार बीज को जला देने पर वह अंकुरित नहीं होता, उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार राग-द्वेष के अभाव हो जाने पर मुक्तात्माओं का संसार में पुनरागमन नहीं होता।[2] राग-द्वेष ही संसार में उत्पत्ति के बीज हैं। कारण के बिना कार्य नहीं होता।

अवतारवाद असंगत

कुछ दार्शनिक, आत्मा के मुक्त हो जाने के बाद, उनका संसार में पुनः आगमन मानते हैं। उनके मतानुसार जब-जब धरती पर धर्म का नाश होता है, अधर्म बढ़ता है, तब ईश्वर धर्म का प्रस्थापन करने के लिए संसार में अवतरित होते हैं।[3] उक्त बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती; क्योंकि अवतरण नीचे उतरने का द्योतक है। एक बार मुक्त हो जाने के बाद पुनःसंसार में आने का कोई कारण नहीं बनता। यदि बनता है तो फिर मुक्त होने का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि मुक्ति तो पूर्णता का नाम है। संसार में लौटना अपूर्णता की निशानी है। अकस्मात् कोई कार्य नहीं होता है। यदि अकस्मात् ही उनका पुनरागमन होता है तब तो किसी जीव को कभी भी मोक्ष हो ही नहीं सकता, क्योंकि मुक्ति हो जाने के बाद भी अकारण ही उसका पुनः आगमन हो जायेगा।[4]

---

1. धर्मास्तिकायाभावात् त. सू. 10/8
2. त.वा. 10/2/3 पर उद्धत
3. (अ) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
   अभ्युथानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥ भगवत्गीता
   (ब) द्र.सं.टी. 14
4. त.वा. 10/4/6 पृ. 704

जैनदर्शन में जीव को दूध में घी की तरह माना गया है। जिस प्रकार मथने/भाने आदि क्रिया विशेषों से एक बार दूध से घी को अलग कर लेने पर घी पुनः दूध रूप नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी एक बार शुद्ध हो जाने के बाद पुनः अशुद्ध नहीं होता, न ही वह दुबारा संसार में लौटता है, बल्कि लोक-शिखर पर विराजमान हो जाता है। अतः अवतारवाद को मानने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता है। जैन-दर्शन में इसीलिए अवतारवाद को स्थान नहीं दिया गया है। वस्तुतः जैन-दर्शन अवतारवादी नहीं है उत्तारवादी है, क्योंकि जैन-धर्म समस्त प्राणियों को संसार सागर से पार उतरने का मार्ग प्रशस्त करता है।

इसके अतिरिक्त मुक्तात्माओं के पुनरागमन नहीं होने में एक दूसरा वैज्ञानिक कारण भी है, वह है- 'गुरुत्व का अभाव'। गुरुत्व स्वभाव वाले पौद्गलिक पदार्थ ही ऊपर से नीचे गिरते हैं, मुक्तात्माओं में यह नहीं होता। संसारी आत्मा-कर्म-पुद्गलों के संयोग से गुरुत्व रूप हो जाती है। मुक्तात्माओं में उसका अभाव हो जाता है। अतः पेड़ से टूटने वाले फल के टपकने की तरह मुक्तात्माओं की मोक्ष से च्युति नहीं होती, और न ही पानी भर जाने से जहाज की तरह डूबना होता है।[1]

संसार खाली नहीं होगा

यहाँ हमारे मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि भव्य जीवों के निरन्तर मुक्त होते रहने से एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जबकि पूरा संसार भव्य जीवों से खाली हो जाये? उक्त प्रश्न के लिए भी कोई अवकाश नहीं है। क्योंकि भव्य जीवों की राशि अनन्त है। अनन्त का अर्थ वह राशि है जो आयरहित व्यय होते रहने के बाद भी अव्यय हो अर्थात् ज्यों की त्यों बनी रहे।[2]

जिस प्रकार भविष्य काल प्रति समय घट रहा है फिर भी वह अनन्त ही है, उसकी राशि में कोई न्यूनता नहीं आती। जब भी भविष्य काल की परिगणना की जाती है वह अनन्त ही रहता है। यद्यपि वह प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है। उसी प्रकार निरन्तर मुक्त होते रहने से यद्यपि जीव राशि में न्यूनता आती है फिर भी उस राशि का कभी भी अन्त नहीं होता। परिमित वस्तु ही घटती-बढ़ती है तथा उसी का अन्त सम्भव है। अपरिमित वस्तु में न्यूनाधिकता तथा सर्वथा विनाश होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भव्य जीव राशि अनन्त है, अतः उनके मुक्त होते रहने पर भी संसार के भव्य जीवों से खाली होने की कोई आशंका नहीं रहती।[3]

---

1. त.वा. 10/8 पृ. 704   2. ध. पु. 4, पृ.235   3. द्र.सं.टी.गा. 51

मुक्तात्मा का आकार

कुछ भारतीय दार्शनिक मुक्तात्मा को आकृति शून्य निराकार मानते हैं। जैनदर्शन उनके उक्त मत से सहमत नहीं है। जैनदर्शन में आत्मा को अमूर्तिक मानते हुए भी उसे आकृति शून्य नहीं माना गया है। इन्द्रियों से दिखाई नहीं पड़ने के कारण ही मुक्तात्मा को जैनदर्शन में निराकार कहा गया है। इसलिए जैनदर्शन में जीव निराकार होते हुए भी आकृति शून्य नहीं है। इस दृष्टि से मुक्त-जीवों का आकार मुक्त हुए शरीर से कुछ कम होता है। मुक्त जीव के अंतिम शरीर से कुछ कम होने का कारण यह है कि नाक, कान, नाखून आदिक अंगोपांग खोखले होते हैं। अर्थात् उनमें आत्म-प्रदेश नहीं होते।[1] कहा भी है- मुक्त शरीर के कुछ खोखले अंगों में आत्म-प्रदेश नहीं होते। मुक्तात्मा छिद्ररहित होने के कारण अपने पहले के शरीर से कुछ कम (लगभग1/3 कम), मोमरहित साँचे के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिंब (परछाई) की तरह आकार वाले होते हैं।[2]

मोक्ष का सुख

न्याय-वैशेषिक दार्शनिक सिद्धों में सुख का अभाव मानते हैं। उनके अनुसार बुद्धि, इच्छा, सुख, दुःख आदि आत्मिक गुणों का अभाव हो जाना ही मुक्ति हैं। वे सिर्फ दुःख के अभाव को ही मुक्त जीवों का सुख मानते हैं। इस प्रकार तो मुक्त जीव भी पाषाण की तरह सुख के अनुभव से रहित हो जायेंगे। सिद्धों का सुख इस प्रकार का नहीं होता; क्योंकि इस प्रकार के सर्वविनाशी निरर्थक मोक्ष के लिए मोक्षार्थी-तपश्चरण, योग-साधना, समाधि आदि कार्य क्यों करेगा? इसी से खिन्न होकर कुछ लोगों ने वैशेषिकों के मोक्ष का उपहास करते हुए कहा है- ''गौतम ऋषि वैशेषिकों की मुक्ति की अपेक्षा वृन्दावन में सियार होकर रहना अच्छा समझते हैं।''[3]

जैनदर्शन मान्य मुक्तात्माओं का सुख मात्र दुःखाभाव रूप ही नहीं होता, अपितु मुक्तात्माओं का सुख, इन्द्रियातीत आत्मा से उत्पन्न हुआ, विषयों से अतीत, अनुपम, अनन्त और विच्छेदरहित होता है।[4] संसार के सुख, विषयों की

1. (अ) किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। द्र.सं. 14
   (ब) वही, द्र.सं.टीगा. 14
2. तिलोयपण्णत्ति 9।10
3. वर वृंदावने रम्ये क्रोष्टृत्वमविवाच्छितम्।
   न तु वैशेषिकीं मुक्ति गौतमो गन्तुमिच्छति॥ स्याद्वादमंजरी, पृ.63॥
4. अदिसयमाद समुत्थं विसयातीदं अणोवम अणंतं।
   अव्वुच्छिन्नं च सुहं सुद्धुवजोगो य सिद्धाणं ॥ ध.पु. 1 पृ. 58 गा. 46

पूर्ति, वेदना का अभाव और पुण्य कर्मों के इष्ट फल-रूप है, जबकि मोक्ष-सुख कर्म क्लेश के क्षय से उत्पन्न परम सुखरूप है। सारे लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसकी उपमा सिद्धों के सुख के लिए दी जा सके, वह सुख अनुपम है।

संसारी जीवों का सुख इन्द्रियाधीन होने के साथ बाधा-सहित है, जबकि सिद्धों का सुख-अतिन्द्रिय और बाधारहित है। उनके उस सुख को अव्याबाध-सुख कहते हैं। कोई-कोई सिद्धों के सुख को सुषुप्तावस्था के समान मानते हैं पर उनकी मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि सिद्धों में सुखानुभव रूप क्रिया होती है, जबकि सुषुप्तावस्था श्रम, क्लम, मद, व्याधि आदि निमित्तों से उत्पन्न होती है और वह मोह विकार रूप है।[1]

अन्य दर्शनों में मोक्ष

जैनदर्शन में निरूपित मोक्ष के स्वरूप को हमने समझा। आइए, अब एक दृष्टि इतर दर्शनों में मान्य मोक्ष पर भी डाल लें।

1. **बौद्ध**- बौद्धदर्शन में दीपक के बुझने की तरह, चित्त सन्तति के अभाव को मोक्ष माना गया है। इससे उच्छेदवाद का प्रसंग आता है।[2]

2. **न्याय-वैशेषिक**- न्याय-वैशेषिक के अनुसार सुख-दुःख चेतना आदि सभी आत्मा के आगन्तुक गुण हैं। मुक्तात्माओं के शरीर-विच्छेद के साथ-साथ आगन्तुक गुणों का भी अभाव हो जाता है। उनका मानना है कि सुषुप्तावस्था जिस प्रकार सुख-दुःख से रहित अवस्था होती है, उसी प्रकार मोक्षावस्था में भी आत्मा सुख-दुःख से अतीत होता है। नींद की अवस्था अल्पकालिक होती है, परन्तु मोक्षावस्था स्थायी होता है।[3]

3. **सांख्य**- सांख्य-दर्शन के अनुसार मूल प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।[4] इस प्रकार प्रकृति से निवृत्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा को आनन्द की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वे पुरुष को स्वभावतः मुक्त और त्रिगुणातीत मानते हैं।[5]

---

1. त.वा. 10।9।114
2. षड्दर्शन सम्मुचय श्लोक 7
3. सुप्तस्य-स्वप्न-दर्शनें क्लेशाभावादपवर्गः। न्याय सू. 4.1.63
4. सांख्य कारिका 62
5. वही, 111

4. मीमांसा- मीमांसा दर्शन के अनुसार चैतन्य रहित अवस्था ही आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। इस दृष्टि से मोक्ष सुख-दुःख से परे है। इस अवस्था में न चैतन्य रहता है, न ही आनन्द।[1]

5. अद्वैत-वेदान्त : न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों के विपरीत अद्वैत-वेदान्त में मोक्ष पूर्ण चैतन्य और आनन्द की अवस्था है। अनादि अविद्या से मुक्त होकर आत्मा का ब्रह्म में विलीन हो जाना ही मोक्ष है। वस्तुतः आत्मा ब्रह्म ही है, परन्तु वह अज्ञान से प्रभावित होकर अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। यही बन्धन है। अनादि अज्ञान का आत्यन्तिक अभाव ही मोक्ष है।[2]

6. जैनदर्शन- जैनदर्शन में मोक्ष को बौद्धों की तरह अभावात्मक नहीं माना गया, न ही सांख्यों की तरह मोक्ष को आनन्द रहित माना गया है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक जहाँ मोक्षावस्था में चैतन्य गुणों का अभाव मानते हैं, वहाँ जैनदर्शन में मोक्ष का अर्थ शुद्ध चैतन्य गुणों की प्राप्ति से है; क्योंकि चैतन्य आदि जीव के स्वाभाविक गुण हैं, उनका कभी अभाव नहीं हो सकता। वेदान्त की तरह जैनदर्शन में आत्मा की ब्रह्मलीनता को मोक्ष नहीं कहा गया, बल्कि मोक्ष आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था मानी गयी है तथा मोक्ष दशा में भी प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सुखी सत्ता को जैनदर्शन स्वीकार करता है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन का सारांश यह है कि जैनदर्शन-मान्य मोक्ष आत्म-स्वरूप के लाभ का ही नामान्तर है, जोकि कर्म-मलों के क्षय से प्राप्त होता है। मोक्ष में बौद्धों की तरह आत्मा का अभाव नहीं होता; क्योंकि मोक्ष आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है।[3] ज्ञान और चेतनत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण होने के कारण मोक्ष में आत्मा न्याय-वैशेषिकों की तरह ज्ञान-शून्य और अचेतन भी नहीं होता। मोक्ष आत्मा की परम और पूर्ण अवस्था है।

---

1. भारतीय दर्शन की रूप-रेखा पृ. 22
2. तत्वबोध सूत्र 40
3. मोक्षःस्वात्मोपलब्धिः। **आ. मी. बसु. वृ. 40**

मोक्ष के साधन

- मोक्षमार्ग
- मोक्षमार्ग के भेद
- सम्यक् दर्शन
- सम्यक्त्व का महत्व
- सम्यक्त्व का स्वरूप
- सम्यक् दर्शन के साधन
- सम्यक्दृष्टि की प्रवृत्ति
- देव, शास्त्र और गुरु का स्वरूप
- तीन मूढ़ता
- आठ मद
- सम्यक् दर्शन के अंग
- सम्यक् ज्ञान
- सम्यक् ज्ञान के भेद
- सम्यक् ज्ञान के अंग
- सम्यक् चारित्र

मोक्ष के साधन

मोक्ष के स्वरूप की तरह मोक्ष के साधन के सम्बन्ध में भी विभिन्न दर्शनों में मतभेद है। कोई ज्ञान मात्र को मोक्ष का साधन मानते हैं, तो कुछ दार्शनिक आचरण मात्र को मोक्ष का साधन बताते हैं, कुछ केवल भक्ति को संसार सन्तरण का सेतु समझते हैं। जैन दार्शनिक सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण की एकता और पूर्णता को ही मोक्ष-मार्ग बताते हैं।

''सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।''[1]

यह जैनदर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है, अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की संयुति मोक्ष का मार्ग है। इसके विपरीत, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण संसार की वृद्धि का हेतु है।[2] सम्यक् शब्द समीचीनता का द्योतक है। यह तीनों में अनुगत है। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा है, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहते हैं।[3] वास्तविक बोध सम्यक् ज्ञान है[4] तथा आत्म-कल्याण के लिए किया जाने वाला सदाचरण सम्यक् चारित्र कहलाता है।[5]

मोक्षमार्ग

श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों के योग से मोक्षमार्ग बनता है।[6] लोक में रत्नों की तरह दुर्लभ होने के कारण इन्हें रत्नत्रय भी कहते हैं। ये तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाते हैं। पृथक्-पृथक् तीनों से मोक्षमार्ग नहीं बनता न ही किन्हीं दो के मेल से। यदि कोरी श्रद्धा मात्र से हमारा कार्य होता तो भोजन की श्रद्धा मात्र से पेट भर जाना चाहिए। यदि ज्ञान मात्र से ही दुःख की निवृत्ति होती तो जल के दर्शन

---

1. तत्त्वार्थसूत्र 1/1
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 3
3. पञ्चास्तिकाय गा. 107
4. वही
5. सर्वा.सि. 1/1, पृ. 4
6. वही

मात्र से ही प्यास की तृप्ति हो जानी चाहिए। ये सब बातें प्रत्यक्ष रूप से विरुद्ध हैं। इसी प्रकार कोरा क्रियाकाण्ड भी अन्धे पुरुष के आचरणवत् निरर्थक है। इसीलिए कहा गया है कि ''अकर्मण्यों का ज्ञान प्राणहीन है तथा अविवेकियों की क्रिया निस्सार है। श्रद्धाविहीन बुद्धि और प्रवृत्ति सच्ची सफलता प्रदान नहीं कर सकती।'' आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने उक्त बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की व्यष्टि मोक्ष का साधन नहीं है। रोगी का रोग दवा में विश्वास करने मात्र से दूर न होगा। जब तक उसे दवा का ज्ञान न हो और वह चिकित्सक के अनुसार आचरण न करे, रोग से छुटकारा नहीं मिल सकता। इसी तरह दवा की जानकारी- भर से ही रोग दूर नहीं होता, जब तक कि रोगी उस पर विश्वास न करे और उसका विधिवत् सेवन न करे। इसी प्रकार दवा में रुचि और उसके ज्ञान के बिना उसके सेवन मात्र से भी रोग दूर नहीं हो सकता। रोग तभी दूर हो सकता है जब दवा में श्रद्धा हो, उसकी जानकारी हो और चिकित्सिक के कहे अनुसार उसका सेवन किया जाये। इसी प्रकार सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की समष्टि से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।[1] इसकी तुलना हम लकड़ी के जीने से कर सकते हैं। जिस प्रकार लकड़ी के जीने में उसके दोनों ओर दो पाये लगे रहते हैं तथा बीच में कुछ आड़ी लकड़ियाँ लगी होती हैं, जो दोनों पायों को जोड़े रहती हैं। दोनों ओर के पाये सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के प्रतीक हैं तथा बीच की आड़ी लकड़ी सम्यक् चारित्र की प्रतीक है, जिसके सहारे हम आध्यात्मिक ऊँचाईयों का स्पर्श कर पाते हैं। बीच की लकड़ियों के अभाव में दोनों ओर के पाये कुछ काम नहीं कर पाते तथा दोनों पायों के अभाव में बीच की लकड़ियाँ भी निरर्थक सिद्ध होती हैं। तीनों के योग से ही सीढ़ी तैयार हो सकती है। इस प्रकार सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के योग से ही मोक्ष-मार्ग बनता है।

श्रद्धा, ज्ञान और आचरण क्रमशः हमारे मस्तिष्क, आँख और चरण के प्रतीक हैं। व्यक्ति को चलने के लिए इनका सम्यक् उपयोग करना पड़ता है। पैरों से हम चलते हैं। आँखों से देखते हैं तथा मस्तिष्क से यह निर्णय लेते हैं कि हमें कहाँ पहुँचना है। तभी हम सही चल पाते हैं। यदि हम आँखें बन्द कर चलते रहें तो गर्त में गिरेंगे। आँखें खुली हों, किन्तु पैर काम नहीं दे रहे हों तो हम अपने घर नहीं

---

1. सर्वार्थ सिद्धि प्र.2

पहुँच सकते। पैर भी सही हों, आँखें भी खुली हों, पर हमें यही पता न हो कि हमें पहुँचना कहाँ है, तो निरन्तर गतिशील रहने के बाद भी हम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते? इसी प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों के संयोग से ही हम मोक्षमार्ग पर चल सकते हैं।

मोक्षमार्ग के भेद

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्ष-मार्ग दो प्रकार का हैं।[2] व्यवहार प्रवृत्ति मूलक है तथा निश्चय, निवृत्ति परक। शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा, शुद्धात्मा का ज्ञान और शुद्ध आत्मस्वरूप में लीनता रूप चारित्र की अभिन्न परिणति होने पर निश्चय मोक्ष-मार्ग बनता है। यह परम वीतराग अवस्था में होता है। इससे पूर्व की भूमिका में (सराग दशा में) तत्त्वों के श्रद्धान और ज्ञान पूर्वक होनेवाले आचरण को व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं। निश्चय साध्य है और व्यवहार को उसका साधन कहा गया है। जैसे फूल के अभाव में फल नहीं मिलता, वैसे ही व्यवहार रत्नत्रय के अभाव में निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती। फूल ही विकसित होकर फलों में रूपान्तरित होते हैं। इसलिए प्राथमिक भूमिका में व्यवहार रत्नत्रय का आलम्बन लिया जाता है। यह व्यवहार रत्नत्रय ही आगे चलकर निश्चय में ढल जाता है।

सम्यक् दर्शन

सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र में से सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति साथ-साथ होती है।[1] जैसे दीपक का प्रकाश और प्रताप साथ-साथ होता है; वैसे ही ज्ञान और दर्शन की उत्पत्ति साथ-साथ होती है; क्योंकि ज्ञान हमेशा मान्यता (श्रद्धा) का अनुसरण करता है। हमारी जैसी मान्यता होती है, ज्ञान उसी रूप में ढल जाता है। मान्यता यदि मिथ्या होती है तो ज्ञान भी मिथ्या कहलाता है। मान्यता के सम्यक् होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है। चारित्र के साथ दोनों प्रकार की सम्भावनाएँ हैं। यह सम्यक् दर्शन और ज्ञान के साथ भी हो सकता है तथा कुछ काल बाद भी, किन्तु चारित्र कभी भी ज्ञान और दर्शन के बिना नहीं होता। इसकी उत्पत्ति कभी भी ज्ञान और दर्शन के अभाव में नहीं होती।[3]

---

1. निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गः द्विधा स्थितः।
   तत्राध्यः साध्यरूपः स्यात् द्वितीयस्तु तस्य साधनम्॥ - **त. सार 9/2, तत्त्वानुशासन 28**
2. सर्वा. सि. पृ. 5
3. ता. वा. 1.1.69

सम्यक्त्व का महत्व

यद्यपि सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समष्टि ही मोक्ष-मार्ग है। फिर भी उनमें सम्यक्त्व का विशेष महत्व है। ज्ञान और चारित्र में समीचीनता सम्यक्त्व से ही आती है।[1] सम्यक्त्व की बुनियाद पर ही साधना का महल टिका है। इसे मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी कहा गया है।[2] सम्यक्त्व के डगर पर पैर रखकर ही हम रत्नत्रय के महल में प्रवेश कर सकते हैं। नदी को पार करने में नाव और पतवार से नाविक का महत्व कहीं अधिक है। नाविक ही नाव को सही दिशा में ले जाता है। नाविक के बिना नाव अपने निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती। उसी तरह चारित्र की नाव को ज्ञान की पतवार से सम्यक्त्व खेवटिया बनकर खेता है। इसलिए ज्ञान और चारित्र से सम्यक्त्व की श्रेष्ठता बताते हुए इसे कर्णधार कहा गया है।[3] वस्तुतः जैसे अंक के अभाव में शून्य का कोई महत्व नहीं रहता, वैसे ही सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र का महत्व नहीं रहता।

सम्यक्त्व का स्वरूप

विभिन्न दृष्टियों से सम्यक्दर्शन के विभिन्न लक्षण बताये हैं। यथा-

1. परमार्थभूत, देव, शास्त्र और गुरु पर तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित तथा आठ अंगों से युक्त होकर श्रद्धा करना।[4]
2. तत्त्वों पर श्रद्धा करना[5]
3. स्व पर का श्रद्धान करना[6]
4. आत्मा का श्रद्धान करना।[7]

इन लक्षणों में तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण सभी में दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि जीव की शुद्ध अवस्था ही देव है। सच्चे गुरु तो साक्षात् संवर निर्जरा की प्रतिमूर्ति हैं। शास्त्र रत्नत्रय रूप सच्चे धर्म का अधिष्ठान हैं। सच्चा धर्म अजीव, आस्रव और

---

1. सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होई णियमेण।
   तो रयणत्तय मज्झे सम्मगुणुकिटिठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥ - **र.सा. 47**
2. दर्शन पाहुड़ 21
3. र.क.श्रा. 31
4. र.का.श्रा. 3
5. त.सू. 2/2
6. मोक्षमार्ग प्रकाशक
7. पर द्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।

बन्ध इन तत्त्वों से हटकर जीव के संवर और निर्जरा तत्त्वों की ओर झुकने का नाम है। इसका फल मोक्ष है। अतः सच्चे देव, शास्त्र व गुरु की श्रद्धा व सात तत्त्वों की श्रद्धा एक ही बात है।

जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।[1] जिनमें जीव स्व तत्त्व है। अजीव, आस्रव और बन्ध 'पर' हैं। संवर और निर्जरा स्व के साधन है मोक्ष जीव का स्वाभाविक रूप है। अतः स्व-पर का श्रद्धान रूप लक्षण भी इन सात तत्त्व वाले लक्षण में समाहित हो जाता है। आत्मा का श्रद्धान रूप लक्षण का अर्थ है- आत्मा के समस्त अजीव, आस्रव, बन्ध आदि वैभाविक भावों से रहित अवस्था का श्रद्धान करना। उसमें भी सात तत्त्वों वाला लक्षण गर्भित हो जाता है।

सम्यक् दर्शन के साधन

सम्यक् दर्शन के होते ही ऐसी भेदक दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिससे तत्त्वों की श्रद्धापूर्वक शरीर से आत्मा की पृथक् सत्ता का भान होने लगता है। आत्मसत्ता की आस्था और स्वरूप विषयक दृढ़ निश्चय हो जाने से मैं कौन हूँ? क्या हूँ? इसका प्रतिभास होने लगता है। जड़-चेतन की इसी पारखी दृष्टि को भेद-विज्ञान कहते हैं। जब तक ऐसी दृष्टि प्राप्त नहीं होती तब तक यह जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। अनादि काल से यह जीव मिथ्यात्व से ग्रसित है। शरीर की उत्पत्ति को ही अपनी उत्पत्ति तथा शरीर के विनाश को ही अपना विनाश समझता आ रहा है। इस देहात्म बोध के छूटने पर ही सम्यक्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। आत्मबोध की इस प्रक्रिया को ग्रन्थि भेद कहते हैं, जो सांसारिक प्रवाह में कभी किसी समय पर विविध कारणों के मिलने पर उत्पन्न होता है। किन्हीं जीवों को यह अकस्मात् 'घर्षण घोलन-न्याय' से प्राप्त हो जाता है। (जिस प्रकार प्रवाह पतित पाषाण-खण्डों के परस्पर घिसते रहने से नाना प्रकार के आकार यहाँ तक कि देव मूर्ति बन जाती है।) कुछ जीवों को विशिष्ट निमित्त के मिलने से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। सम्यक् दर्शन प्राप्ति के प्रमुख हेतु इस प्रकार हैं-[2]

1. जातिस्मरण- पूर्व के जन्मों का स्मरण।
2. वेदनानुभव- तीव्र-दुःख-संवेदन।

---

1. जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्। त.सू. 1/4
2. सवार्थसिद्धिः पृ. 26

3. धर्मश्रवण-निर्ग्रन्थ मुनियों एवं सत् शास्त्रों के श्रवण से उत्पन्न तत्त्व-बोध।
4. जिन बिम्ब दर्शन- वीतरागी मुनियों तथा जिनबिम्ब दर्शन।
5. जिनमहिमा दर्शन- धर्म महोत्सवों का दर्शन।

ये सम्यक् दर्शन के बाह्य हेतु हैं। सम्यक्त्व का अन्तरङ्ग हेतु दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम है, जो कि मोह-ग्रन्थि भेद की प्रक्रिया द्वारा सम्पादित होता है।

सम्यक् दृष्टि की प्रवृत्ति

सम्यक् दृष्टि विषय भोगों से निर्लिप्त रहता है। उसकी वृत्ति कमल के समान होती है। जैसे जल के बीच रहने वाला कमल जल से सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि भोग और विषयों के मध्य रहते हुए भी उनके प्रति गहन आसक्ति नहीं रखता। वह संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहता हुआ सच्चे देवशास्त्र और गुरु को अपने जीवन का आदर्श मान, उनके प्रति सच्ची श्रद्धा रखता है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की उपासना से सम्यक्त्व में निर्मलता आती है। इसलिए सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा की बात की जाती हैं। प्रत्येक मुमुक्षु को सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की पहचान कर उन पर सच्ची श्रद्धा रखनी चाहिए। अतः उनके स्वरूप का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

देव-शास्त्र और गुरु का स्वरूप

देव- सच्चे देव की तीन विशेषताएँ हैं। सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशिता।[1] अतः जिनके अन्दर-बाहर, राग-द्वेष और मोह का लेशांश भी न हो वे ही हमारे देव हैं। वीतरागी होने से अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र और अलंकरण से रहित परम शान्त मुद्रा ही सच्चे देव का स्वरूप है। राग-द्वेष मोह का समूलोच्छेद हो जाने के कारण उनके विकारों का सर्वनाश हो जाता है। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं। सर्वज्ञ और वीतरागी होने के कारण वे जो उपदेश देते हैं, वह सबके कल्याण के लिए होता है। उनका उपदेश किसी वर्ग-विशेष के लिए न होकर प्राणिमात्र के लिए होता है। इसलिए उन्हें परम हितोपदेशी कहते हैं। इस प्रकार वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ही सच्चे देव का स्वरूप है। ये ही तीर्थंकर, अरिहन्त और परमात्मा कहलाते हैं।

1. र.क. श्रावकाचार 5

शास्त्र- आज लोक में अनेक प्रकार के शास्त्र प्रचलित हैं। अलग-अलग विषयों के अलग-अलग साहित्य-भण्डार हैं। अब प्रश्न उठता है इस विपुल भण्डार में कौन से शास्त्र हैं, जो हमारे हित के कारण हैं तथा जिन्हें सत्यशास्त्र कहा जा सके? सत्य को उपलब्ध व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र हो सकते हैं। राग-द्वेष और मोह से ग्रसित प्राणी असत्य वाणी का प्रयोग करता है।[1] असत्यवाणी हमारे लिए हितकर नहीं है। अतः राग-द्वेष से रहित व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र की कोटि में आते हैं। इसलिए सम्यक् दृष्टि साधक आप्त-वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित शास्त्रों को ही सत् शास्त्र मानता है। कहा भी गया है। "**वक्तुः प्रामाण्याद् वचन-प्रामाण्यम्**" अर्थात् वक्ता की प्रामाणिकता से वचनों में प्रामाणिकता आती है।[2] क्या बोला जा रहा है? यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि कौन बोल रहा है, यदि वक्ता अप्रामाणिक है तो वह मिश्री में जहर की तरह अपनी मीठी वाणी में अहितकर उपदेश भी दे सकता है। वक्ता के प्रामाणिक होने पर किसी प्रकार का अविश्वास नहीं रहता। इसे निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है-

मान लीजिए आप एक ऐसे जंगल में फँस गये जहाँ कोई मार्ग नहीं सूझता हो। सोचकर निकले किसी गाँव तक पहुँचने का, पर बीच में ही भटक गये। अनेक पगडंडियाँ फूटी हैं। असमंजस की स्थिति में खड़े हैं कि किधर चलें? तभी देखते हैं कि सामने से घुटनों तक मैली-कुचैली धोती पहने, अर्द्धनग्न बदन, बिखरे बालों वाला, काला-कलूटा, भीमकाय व्यक्ति चला आ रहा है। देखते ही मन भयाक्रान्त हो उठता है। फिर भी जैसे-तैसे साहस बटोरकर उससे पूछा भी, तो उसने ऐसा कर्कश उत्तर दिया मानो खाने को ही दौड़ता हो। 'रास्ता भूल गया है..... मार्ग नहीं जानता था तो क्यों आया यहाँ पर.... तेरे बाप का नौकर हूँ क्या? चला जा आप अपनी दायीं ओर....।' आप ही बतायें उसके बताये मार्ग पर आपके कदम कभी भी बढ़ेंगे? रात्रि वहीं बिताने को तैयार हो सकते हैं, मगर उस व्यक्ति के द्वारा इंगित दिशा पर एक कदम भी चलने का साहस नहीं कर सकेंगे।

अब आप सज्जन निराश खड़े हैं। तभी देखते हैं कि सामने से भव्य आकृति वाला मनुष्य चला आ रहा है। धोती दुपट्टा पहने, हाथ में कमण्डल लिये, माथे

1. रागाद्वाद्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्मनृतम्।
   यस्तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥ धवल 1/1/12
2. ध.पु. 1/196

पर चन्दन का तिलक लगाये, मुख से प्रभु के गीत गुनगुनाता, वह दूर से ही कोई भद्र पुरुष प्रतीत हो रहा है। पास आने पर उन्होंने उसे नमस्कार किया, प्रत्युत्तर में उसने भी नमस्कार किया। मार्ग पूछने पर उन्होंने कहा, 'बड़े भाग्यवान् हो पथिक! जो अब तक सुरक्षित बचे हो। यह वन ही ऐसा है। यहाँ अनेक पथिक प्रतिदिन भटक जाते हैं। खैर, घबराने की कोई बात नहीं अभी दिन ढलने में समय शेष है, तुम्हारा गाँव भी ज्यादा दूर नहीं। दांयी ओर जाने वाली इस पगडंडी से निकल जाओ। करीब एक मील आगे जाने पर एक नाला पड़ेगा, उसे पार करके उसके दांयी ओर मुड़ जाना, करीब आधा मील और चलोगें तो तुम्हें खेत दिखाई पड़ने लगेंगे। उन खेतों के बगल से बायीं और एक पगडंडी जाती है, उसे पकड़कर सीधे चले जाना, करीब एक मील चलने पर अपने गाँव पहुँच जाओगे। कल्पना कीजिए क्या इस व्यक्ति की बात पर आपको विश्वास नहीं होगा? सहज ही आप उसकी बात का विश्वास कर लेंगे तथा उसे धन्यवाद ज्ञापित करते हुए आपके कदम अनायास उस दिशा में बढ़ जाएँगे। कही तो दोनों ने एक ही बात थी। पर पहले व्यक्ति के अप्रामाणिक होने से उसके वचनों पर विश्वास नहीं हुआ तथा दूसरे की प्रामाणिकता ने सहज ही उस पर विश्वास उत्पन्न करा दिया। इसलिए कहा गया है कि वक्ता की प्रामाणिकता से वचनों में प्रामाणिकता आती है।

सत्य शास्त्र आप्त प्रणीत होने के साथ-साथ उनमें कुछ और भी विशेषताएँ होती हैं। यथा वह पूर्वापर विरोध से रहित हो। दूसरों की युक्तियों एवं तर्कों से उसका मूलभूत सिद्धान्त अखण्डनीय हो। प्राणि-मात्र का हितकारी हो। प्रयोजन भूत बातों का कथन हो तथा वह उन्मार्ग का नाश करने वाला हो, तभी वह सत्य शास्त्र की कोटि में आ सकता है। इसके विपरीत रागीद्वेषी व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने वाले शास्त्र कुशास्त्र की कोटि में आते हैं।[1]

गुरु- गुरु का मोक्षमार्गमें महत्वपूर्ण स्थान है। गुरु हमारे मार्गदर्शक हैं। देव आज हैं नहीं और शास्त्र मौन है। ऐसी स्थिति में गुरु ही हमारे सहायी होते हैं। गुरु के अभाव में हम शास्त्र के रहस्यों को भी नहीं समझ सकते। जैसे समुद्र का जल खारा होता है। हम उसमें नहा भी नहीं पाते और न ही उससे हमारी प्यास बुझती है, लेकिन वही जल सूर्य के प्रताप से वाष्पीकृत होकर बादल बनकर बरसता है तो

---

1. पूर्वापर विरुद्धार्दे व्यपेतो दोष-संहते।
द्योतकः सर्वभावानां आप्तव्याहृति रागमः ॥ ध.पु. 1/196

वह मीठा और तृप्तिकर बन जाता है। हम आनन्द के साथ उस जल में अवगाहित होते हैं। वैसे ही शास्त्र भी अगम समुद्र की तरह है। हम अपने अल्प-ज्ञान के बल से उसमें अवगाहित नहीं हो पाते। गुरु अपने अनुभव के प्रताप से उसे अवशोषित कर बादल की तरह जब हम पर बरसाते हैं तब हम सहज ही शास्त्रों के मर्म को समझ जाते हैं। महान् तृप्ति और आह्लाद उत्पन्न होता है तथा जो प्रेरणा गुरुओं की कृपा से मिलती है वह शास्त्र और देव से नहीं; क्योंकि गुरु तो जीवित देव होते हैं। शास्त्र और देव-प्रतिमा से लाभ लेने की कला वही सिखाते हैं।

मान लीजिये आपको किसी अपरिचित रास्ते से गुजरना पड़े, तो आप एकदम साहस नहीं जुटा पाते। भय लगता है। पता नहीं आगे यह रास्ता कैसा है? कितनी दुर्गम घाटियाँ हैं? कितने नदी-नाले हैं? कितने मोड़ हैं? कहीं जंगली जानवरों का आतंक तो नहीं? चोर-लुटेरों का दल तो नहीं रहता? बीच में पड़ने वाले गाँवों के लोग पता नहीं कैसे हैं? ऐसी अनेक आशंकाओं से मन भयाक्रान्त हो उठता है। रास्ते का पता लगने के बाद भी पाँव आगे नहीं बढ़ पाते। संयोगतः वहीं कोई आपका चिर-परिचित मित्र मिल जाये और वह आपसे कहे-अरे! यह रास्ता तो बहुत अच्छा है। मैं तो रोज ही यहाँ से आया-जाया करता हूँ। इसके चप्पे-चप्पे से मैं परिचित हूँ। यहाँ कोई कठिनाई नहीं, सड़क अच्छी है। रास्ते में पड़ने वाले गाँव के लोग सभ्य और सरल हैं। आओ मेरे साथ; मुझे भी उधर ही जाना है, तुम्हें अपने साथ ले चलता हूँ। उनकी बात सुनते ही हमारे मन का भय भाग जाता है तथा हमारे कदम सहज ही उस ओर बढ़ जाते हैं।

यही स्थिति गुरु की है। शास्त्र के माध्यम से हम सही मार्ग जान तो लेते हैं, लेकिन अवरोधों के भय से उस पर चल पाने का साहस नहीं जुटा पाते। गुरु कहते हैं ''मार्ग तो बहुत सरल है। मुझे देखो.... मैं भी तो चल रहा हूँ। आओ मेरे साथ।'' उन्हें देखकर सहज ही आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलने लगती है।

लोक में गुरु भी अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। अनेक धर्म हैं और अनेक धर्म-गुरु। इनमें सच्चे गुरु किनको समझा जायें? यह बड़ा ही जटिल प्रश्न है। लौकिक क्षेत्र में तो माता-पिता, अध्यापक आदि गुरु माने जा सकते हैं, किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में किन्हें गुरु माना जाये, हमें यह देखना है। सच्चे गुरु का स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री समन्तभद्र ने कहा है-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तःतपस्वी स प्रशस्यते॥[1]

''विषय कषायों से रहित, आरम्भ परिग्रहों से परिमुक्त होकर ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन साधु ही सच्चे गुरु हैं।''

विषयासक्ति रहितताः यह सच्चे गुरु की पहली विशेषता है। विषयाभिलाषा, रागद्वेष आकुलता की जननी है और पापों में प्रवृत्ति कराने वाली है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों के आधीन व्यक्ति कभी भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। आत्म-कल्याण के पथ पर चलने वाले सच्चे गुरु पञ्चेन्द्रिय विजयी होते हैं। वे पाँचों इन्द्रियों के किसी एक विषय पर भी आसक्त नहीं होते। विषयासक्ति तो साधुत्व पर कलंक है, अतः सच्चे गुरु को पञ्चेन्द्रिय विजयी होना चाहिए।

आरम्भ-रहितता : सच्चे गुरु की यह दूसरी विशेषता है। आरम्भ का मतलब है नौकरी, व्यापार, उद्यम, सेवा, खेती आदि कार्य जो प्राणियों को आसक्ति, तृष्णा, बैर-प्रीति, विषमता और दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्तियाँ हैं। ये कार्य साधारण प्राणियों में भी पाये जाते हैं। मनुष्य इन्हीं के गोरख-धन्धे में फँसकर दुःखी है। अतः इनमें उलझा हुआ व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता। इनका पूर्णतः त्याग करके ही गुरुपद पाया जा सकता है।

परिग्रह-रहितता - यह सच्चे गुरु की तीसरी विशेषता है। ममत्व भाव को परिग्रह कहते हैं, जिनके पास बाह्य या भीतरी पदार्थों के प्रति थोड़ा भी ममत्व हो, वे सच्चे गुरु नहीं कहला सकते; क्योंकि ममत्व तो समस्त विकारों का मूल है। पापों में परिग्रह सबसे बड़ा पाप है, इसके होने पर अन्य पापों में प्रवृत्ति अवश्यंभावी होती है। परिग्रह आकुलता का कारण तथा समता व वीतरागता का विनाशक है। इसलिए सच्चे साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह नहीं रखते। यहाँ तक कि वे अपने शरीर पर वस्त्र का एक छोटा-सा टुकड़ा भी नहीं रखते।

सतत ज्ञानार्जनशीलता : सतत ज्ञानाभ्यास सच्चे गुरु की चौथी विशेषता है। विषय कषायों से दूर होकर जब साधुगण अपने आत्म-ध्यान से बाहर आते हैं तो सांसारिक प्रपञ्चों से दूर हट धर्मशास्त्रों में अपने चित्त को रमाये रखते हैं। यही उनकी सतत ज्ञानार्जनशीलता है। ज्ञानाभ्यास से चित्त में निर्मलता, समता व वीतरागता

1. र.क.श्रा. 10

की सिद्धि व वृद्धि होती रहती है तथा दूसरों को भी ज्ञान का प्रसाद प्राप्त होता है।

प्रगाढ़ ध्यानलीनता और तपस्या - सच्चे गुरु सदा अपनी आत्मा के ध्यान में लीन रहते हैं। वह अपनी साधना की अभिवृद्धि के लिए शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार का तप करते रहते हैं। आत्म-साधक गुरु का तपस्वी होना अनिवार्य है। तप से ही आत्मा में निखार आता है। इसके विपरीत; भोग-विलासों में रत सुविधा-भोगी, नामधारी, गुरु सच्चे गुरु नहीं कहला सकते। तपस्या सच्चे गुरु की छठी कसौटी हे।

तीन मूढ़ताएँ

इस प्रकार सम्यक्‌दृष्टि साधक देव, शास्त्र और गुरु के चरणों में सदा समर्पित रहता है। वह किसी प्रकार की ऐसी अज्ञानपूर्ण प्रवृत्तियाँ नहीं करता जिसका कोई अर्थ न हो तथा जिससे कोई धार्मिक या सामाजिक हानि उठानी पड़ती हो। वह एक वैज्ञानिक की तरह तर्क की कसौटी पर कसकर जो कुछ उसके आत्महित में हो, उसे ही धर्म-बुद्धि से स्वीकार करता है। लोक में चली आ रही अर्थहीन रूढ़ियों को वह धार्मिक मूर्खता समझता है। जैनदर्शन में इन्हें मूढ़ता कहा गया है और वह तीन प्रकार की होती है, लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता और गुरु-मूढ़ता।

1. लोक-मूढ़ता - सम्यक्‌दृष्टि साधक दूसरों की देखा-देखी में अन्धश्रद्धा से ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जिससे आत्मा की विशुद्धि नहीं होती। ''इसमें स्नान करने से जन्म-जन्मान्तरों के पाप नष्ट होते हैं।'' इस बुद्धि से वह कभी नदी या सागर में स्नान नहीं करता, क्योंकि ऐसा होता तो सारे जलचर जीवों को स्वतः मुक्त हो जाना चाहिये था। उन्हें तो अब तक पूर्ण निष्पाप हो जाना चाहिए। धर्म बुद्धि से पर्वत पर चढ़ना-गिरना, अग्नि का ढेर लगाकर उस पर कूदना, (अलाव कूदना), पत्थरों और बालू का ढेर लगाकर पूजना तथा पेड़-पौधों की पूजा आदि लोक-मूढ़ता है। सम्यक्‌दृष्टि ऐसे कार्य नहीं करता। वह इन्हें 'लोक-मूढ़ता' समझता है।

2. देव-मूढ़ता - सम्यक्‌दृष्टि साधक कल्पित, रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को ईश्वर मानकर उनसे कोई वरदान नहीं माँगता। दुःख दूर करने के लिए उनकी प्रार्थना नहीं करता तथा धन, वैभव, राज्य, पुत्र आदि की याचना नहीं करता,

क्योंकि उसका यह दृढ़ विश्वास रहता है कि संसार में दुःख-सुख अपने-अपने पाप और पुण्य के अनुसार मिलते हैं। कोई भी हमें कुछ दे नहीं सकता और न ही हमारा कुछ छीन सकता है। दूसरे हमें कुछ देते हैं इस प्रकार के विश्वास से कल्पित देवी-देवताओं की पूजा करना 'देव-मूढ़ता' है।

3. गुरु-मूढ़ता - सच्चे गुरु की परख हो जाने के कारण वह अन्य वेशधारी परिग्रही, जन-प्रवञ्चक ऐसे गुरु को नहीं मानता तो सत्य, ज्ञान और सदाचार से दूर हैं। लोगों से अपनी पूजा कराते हैं। धन-संग्रह करते हैं तथा आरम्भ परिग्रह से युक्त रहते हैं। झूठे आश्वासन देकर जनता को ठगते हैं एवं मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को गुरु मानकर वह उनकी पूजा प्रशंसादि नहीं करता, अपितु पत्थर की नाव की तरह संसार में डुबाने वाला मानकर उनकी उपासना को गुरु मूढ़ता/मूर्खता समझता है।

आठ मद

सम्यक्दृष्टि साधक मैं बहुत ज्ञानी हूँ, मेरी बहुत प्रतिष्ठा है, मेरा कुल ऊँचा है, मेरी जाति ऊँची है, मैं अतुल पराक्रम का धनी हूँ, मेरे पास विपुल धन है, मैं महान् तपस्वी हूँ तथा मैं बहुत रूपवान् हूँ इत्यादि रूप से अहंकार नहीं करता। ये मद कहलाते हैं।[1] इनके होने पर सम्यक्त्व का दम निकल जाता है। सम्यक्दृष्टि इन उपलब्धियों को क्षणिक समझकर नाशवान् मानता है और अहंकार को साधना की सबसे बड़ी बाधा मानता है। यह सम्यक् दर्शन का खतरनाक शत्रु है।

सम्यक् दर्शन के अंग

इस प्रकार सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु पर, तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित होकर, श्रद्धा करने वाले सम्यक्दृष्टि साधक में स्वाभाविक रूप से आठ गुण प्रकट हो जाते हैं, जिससे उसका आचरण निर्मल बन जाता है। इन्हें सम्यक्त्व के अङ्ग भी कहते हैं। जैसे हमारे शरीर के आठ अङ्ग हैं वैसे ही सम्यक्त्व के आठ अङ्ग हैं- निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़-दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। आइए क्रम से इन पर विचार करें-

निःशङ्कित- शङ्का का अर्थ होता है सन्देह। सम्यक्दृष्टि साधक निःशङ्क होता है। उसे मोक्षमार्ग पर किसी भी प्रकार की शङ्का या सन्देह नहीं रहता। रहे भी

1. र.का.श्रा. 25

कैसे? श्रद्धा और शङ्का भला एक साथ रह कैसे सकते हैं? हम अपने लौकिक जीवन में भी देख सकते हैं, जिसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा रहती है, उसके प्रति कोई सन्देह नहीं रहता। सन्देह उत्पन्न होते ही श्रद्धा टूटने लगती है। सम्यक्दृष्टि जीव को परमार्थभूत देव, गुरु तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य सिद्धान्त, सन्मार्ग और वस्तु तत्त्व पर अविचल श्रद्धा रहती है। वह किसी प्रकार के लौकिक प्रलोभनों से विचलित नहीं होता। यह अविचलित श्रद्धा ही निःशंकित अङ्ग या गुण है।

निःकांक्षित - विषय भोगों भी इच्छा को आकांक्षा कहते हैं। सम्यक्दृष्टि साधक किसी प्रकार की लौकिक व पारलौकिक आकांक्षा नहीं रखता। उसके मन में इन्द्रिय भोगों के प्रति बहुमान नहीं होता। वह बाहरी सुविधाओं को क्षणिक संयोगमात्र मानता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता रहती है कि संसार के सारे संयोग कर्मों के आधीन हैं, साथ ही नाशवान् भी हैं। पापोदय आ जाने से एक ही क्षण में धनवान् से निर्धन, रूपवान् से कुरूप, विद्वान् से पागल, राजा से रङ्क हो सकता है। संसार में किसी का भी सुख शाश्वत नहीं होता। वह संसार के सभी सुखों को विष-मिश्रित मिष्ठान्नवत् अत्यन्त हेय समझता है। यह सब समझकर वह सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहता है। यही उसका निःकांक्षित गुण है।

निर्विचिकित्सा - विचिकित्सा का अर्थ ग्लानि या घृणा होता है। सम्यक् दृष्टि साधक मानव शरीर की बुरी आकृतियों को देखकर घृणा नहीं करता, अपितु हमेशा उनके गुणों का आदर करता है। उसका विश्वास रहता है कि शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है। गुणों द्वारा ही इसमें पवित्रता आती है। वह दीन-दुःखी, दरिद्र, अनाथ और रोगियों के बीमार शरीर को देखकर घृणा नहीं करता, अपितु प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करता है। वह पदार्थ के बाहरी रूप पर दृष्टि न देकर उसके आन्तरिक रूप पर दृष्टि देता है। इस अन्तर्मुखी दृष्टि के कारण वह शरीर के ग्लानिजनक रूप से विमुख हो उसके गुणों में प्रीति रखता है। यही उसका निर्विचिकित्सा गुण है।

अमूढ़ दृष्टि - मूढ़ता 'मूर्खता' को कहते हैं। मूर्खतापूर्ण दृष्टि मूढ़ दृष्टि कहलाती हैं। सम्यक्दृष्टि साधक विवेकी होता है। वह अपने विवेक व बुद्धि से सत्य-असत्य, हेय-उपादेय और हित-अहित का निर्णय कर ही उसे अपनाता है। वह अन्धश्रद्धालु नहीं होता। परमार्थ-भूत देव, शास्त्र और गुरु को वह पूर्ण बहुमान

देता है। इनके अतिरिक्त अन्य कुमार्गगामियों के वैभव को देखकर प्रभावित नहीं होता, न ही उनकी निन्दा या प्रशंसा करता है, अपितु उनके प्रति राग-द्वेष से ऊपर उठकर माध्यस्थ भाव धारण करता है। यही उसका अमूढ़ दृष्टित्व है।

उपगूहन - सम्यक्दृष्टि साधक गुण-ग्राही होता है। सतत अपनी साधना के प्रति जागरूक रहता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थिति, अज्ञान या प्रमाद के कारण किसी व्यक्ति से कोई अपराध हो जाये तो वह उसे सबके बीच प्रकट नहीं करता, अपितु एकान्त में समझाकर उसे दूर करने का प्रयास करता है। जैसे-बाजार में अनेक वस्तुएँ रहते हुए भी हमारी दृष्टि वहीं जाती है जिसकी हमें जरूरत है। वैसे ही सम्यक्दृष्टि को गुण ही गुण दिखाई पड़ते हैं। अपने अन्दर अनेक गुणों के रहने के बाद भी वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता, अपितु अपने दोषों को ही बताता है। दूसरों के दोषों की उपेक्षा करके वह उनके गुणों को प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि वह अपने दोषों को सदा देखता रहता है तथा दूसरे के गुणों को। अपने गुणों को छिपाता है तथा दूसरे के दोषों को। अपनी निन्दा करता है तथा दूसरों की प्रशंसा। दूसरे के दोषों तथा अपने गुणों को छुपाने के कारण इस गुण का नाम 'उपबृंहण' गुण भी है।

स्थितिकरण - सम्यक्दृष्टि साधक कभी किसी को नीचे नहीं गिराता। वह सभी को ऊँचा उठाने की कोशिश करता है। अपने-आपको भी वह हमेशा मोक्षमार्ग में लगाये रखता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थितिवश वह उससे स्खलित होता है तो बार-बार अपने को स्थिर करने में तत्पर रहता है। उसी तरह किसी अन्य धर्मात्मा को किसी कारण से अपने मार्ग से स्खलित होते देखकर उसे बहुत पीड़ा होती है। वह येन केन प्रकारेण उसे सहायता देकर उसकी धार्मिक आस्था को दृढ़ करता है। भले ही इसमें उसे कोई कठिनाई उठानी पड़े। यदि कोई व्यक्ति आर्थिक परेशानियों से अपने मार्ग से च्युत हो रहा है तो उसे आर्थिक सहयोग देकर अथवा किसी काम पर लगाकर उसे पुनः वहाँ स्थित करता है, शारीरिक रोग के कारण विचलित हो रहा है तो औषधि देकर, शारीरिक सेवा करके उसे धर्ममार्ग में लगाता है। यदि कुसंगति या मिथ्या उपदेश के कारण वह अपने धर्म मार्ग से स्खलित होता है, तो योग्य उपदेश देकर उसे पुनः स्थिर करने का प्रयास करता है। अन्य भी कोई कारण आने पर वह यथासम्भव सेवा/सहयोग देकर उसे स्थिर करता है। यही सम्यक्दृष्टि साधक का स्थितिकरण अङ्ग है।

वात्सल्य - वात्सल्य शब्द वत्स से जन्मा है। वत्स का अर्थ होता है बछड़ा। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति निःस्वार्थ निष्कपट तथा सच्चा प्रेम रखती है, उसमें कोई बनावटीपन नहीं होता, उसे देखकर उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता है। उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि साधक अपने, साधर्मी बन्धुओं के प्रति निश्छल, निःस्वार्थ और सच्चा प्रेम रखता है। उसमें कोई दिखावटी या बनावटीपन नहीं रखता। उन्हें देखकर उसे उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी कि किसी आत्मीय मित्र से मिलकर होती है। वह उनके साथ अत्यन्त आत्मीयता का व्यवहार करता है। वह अपने प्रेम और वात्सल्य की डोर से पूरे समाज को बाँधे रहता है। सभी लोग उसके प्रेम-पाश में बँधे रहते हैं। वह सबके प्रति सहयोग और सहानुभूति की भावना रखता है। यह उसका वात्सल्य गुण है।

प्रभावना - सम्यक्दृष्टि साधक की यह भावना रहती है कि जिस प्रकार हमें सही दिशा दृष्टि मिली है, सत्य धर्म का मार्ग मिला है, उसी प्रकार सभी लोगों का अज्ञानरूपी अन्धकार दूर हो, उन्हें भी सही दिशा मिले, वे भी सत्य धर्म का पालन करें। इस प्रकार की जगत् हितकारी भावना से अनुप्राणित होकर वह सदा अपने आचरण को विशुद्ध बनाये रखता है। उसका आचरण ऐसा बन जाता है कि उसे देखकर लोगों का धर्म में आस्था उत्पन्न होने लगती है। व्यक्ति उसका अनुकरण कर उसके आदर्शों पर चलने लगते हैं। वह परोपकार, ज्ञान, संयम आदि के द्वारा विश्व में अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करता है तथा अनके प्रकार के धार्मिक उत्सव भी करता है, जिसमें हजारों लोग एक स्थान पर एकत्र होकर सद्भावनापूर्वक विश्वक्षेम की भावना भाते हैं, यह सब देखकर लोगों की अहिंसा धर्म की महिमा का भान होता है, यही उसका 'प्रभावना' गुण है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के निःशंकित आदि आठ गुण कहे गये हैं इन आठ गुणों का पूरी तरह से पालन करने पर सम्यक् दर्शन रहता है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार किसी विषहारी मन्त्र में यदि एक अक्षर भी कम हो जाता है तो वह मन्त्र प्रभाव हीन हो जाता है, उसी प्रकार एक अङ्ग से भी हीन सम्यक्त्व हमारे संसार की सन्तति को नहीं मिटा पाता। आठों अङ्ग पूर्ण होने पर ही सम्यक्त्व अपना सही कार्य करता है।

सम्यक्त्व के इन आठ अङ्गों की तुलना हम अपने शरीर के आठ अङ्गों से कर सकते हैं। शरीर के भी आठ अङ्ग होते हैं। दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ,

वक्षस्थल और मस्तिष्क। शरीर के इन अङ्गों के प्रति यदि हम थोड़ी बारीकी से विचार करें तो हमें इनमें भी सम्यक्त्व की झलक दिखाई देती है। समझने के लिए जब हम चलते हैं तो चलते वक्त एक बार रास्ता देख लेने के बाद बिना किसी सन्देह के अपना दायाँ पैर बढ़ा लेते हैं। दायाँ पैर बढ़ते ही बिना किसी अपेक्षा के बायाँ पैर स्वयं बढ़ जाता है, यही तो निःशंङ्कित और निःकांक्षित गुण का लक्षण है। अतः दायाँ और बायाँ पैर क्रमशः ''निःशंङ्कित'' और ''निःकांक्षित'' अङ्ग के प्रतीक हैं। तीसरा अङ्ग है ''निर्विचिकित्सा।'' विचिकित्सा घृणा या ग्लानि को कहते हैं। इस गुण के आते ही घृणा या ग्लानि समाप्त हो जाती है। हम अपने बाएँ हाथ को देखें, इस हाथ से हम शरीर के मल-मूत्रादिक को साफ करते हैं। उस समय हम किसी प्रकार की घृणा का अनुभव नहीं करते हैं। यह हाथ 'निर्विचिकित्सा' अङ्ग का प्रतीक है।

जब हमें किसी बात पर जोर देना होता है, जब हम कोई बात पूर्ण आत्मविश्वास से कहते हैं, तब हम अपना दायाँ हाथ उठाकर बताते हैं तथा अन्य किसी की बात पर ध्यान नहीं देते। यह 'अमूढ़ दृष्टि' का प्रतीक है, क्योंकि इस अङ्ग के होने पर वह अपनी श्रद्धा पर अटल रहता है तथा उन्मार्गियों और उन्मार्ग से प्रभावित नहीं होता। शरीर का पाँचवाँ अङ्ग नितम्ब है। इसे सदैव ढाँक कर रखा जाता है। इसे खुला रखने पर लज्जा का अनुभव होता है, यही तो 'उपगूहन' है। क्योंकि इसमें अपने गुण और पर के अवगुण को ढाँका जाता है। नितम्ब उपगूहन अङ्ग का प्रतीक है। सम्यक्त्व का छठा अङ्ग है 'स्थितिकरण'। पीठ सीधी हो तभी व्यक्ति दृढ़ता का अनुभव करता है। जब हमें किसी वजनदार वस्तु को उठाना होता है तो उसे अपनी पीठ पर लाद लेते हैं। इससे हमें चलने में सुविधा हो जाती है। पीठ 'स्थितिकरण' अङ्ग का प्रतीक है, क्योंकि गिरते हुए को सहारा देना ही तो 'स्थितिकरण' है।

हृदय शरीर का सातवाँ अङ्ग है। जब हम आत्मीयता और प्रेम से भर जाते हैं तब अपने आत्मीय को हृदय से लगा देते हैं। हृदय वात्सल्य अङ्ग का प्रतीक है। वात्सल्य का अभाव होने पर सम्यक्त्व भी निष्प्राण ही सिद्ध होता है। मस्तिष्क शरीर का आठवाँ अङ्ग है। इस अङ्ग से हम सोच-विचार का काम लेते हैं। यह मान-मर्यादा का प्रतीक है। इसे सदैव ऊँचा रखा जाता है। इसी तरह अपने आचार-व्यवहार से जैन धर्म की गौरव-गरिमा को बनाए रखना, इसकी महिमा

को सर्वत्र फैलाना प्रभावना अङ्ग है। इस प्रकार इन आठ अङ्गों के पूर्ण होने पर ही हमारा सम्यक्त्व सही रह पाता है, अन्यथा वह तो विकलाङ्ग की तरह अक्षम रहता है। यदि हम अपने शरीर के अङ्गों की गतिविधियों की तरह सम्यक्त्व के अङ्गों की सार सम्हाल करते रहें तो फिर हमारा सम्यक्त्व स्थिर रहेगा।

सम्यक् ज्ञान

वस्तुओं को यथारीति जैसा का तैसा जानना सम्यक् ज्ञान है। दृढ़ आत्मविश्वास के अनन्तर ज्ञान में सम्यक्पना आता है। यों तो संसार के पदार्थों का ज्ञान हीनाधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को होता है। पर उस ज्ञान का आत्मविकास के लिए उपयोग करना बहुत कम लोग ही जानते हैं। सम्यक्दर्शन के पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकास का कारण होता है। स्व और पर का भेद विज्ञान यथार्थतः सम्यक् ज्ञान है। हेय-उपादेय का विवेक कराना इसका मूल कार्य है।

सम्यक् ज्ञान के अङ्ग

सम्यक् दर्शन की तरह सम्यक्ज्ञान के आठ अङ्ग निरूपित किये गये हैं।

1. **शब्दाचार** - मूलग्रन्थ के शब्दों, स्वर, व्यञ्जन और मात्राओं को शुद्ध उच्चारणपूर्वक पढ़ना।

2. **अर्थाचार** - शास्त्र की आवृत्ति मात्र न करके उसका अर्थ समझकर पढ़ना।

3. **तदुभयाचार** - अर्थ समझते हुए शुद्ध उच्चारण सहित पढ़ना।

4. **कालाचार** - शास्त्र पढ़ने योग्य काल में ही पढ़ना, अयोग्य काल में नहीं। दिग्दाह, उल्कापात, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, सन्ध्याकाल आदि में शास्त्र नही पढ़ना चाहिये।

5. **विनयाचार** - द्रव्य-क्षेत्र आदि की शुद्धि के साथ विनयपूर्वक शास्त्र अभ्यास करना।

6. **उपधानाचार** - शास्त्र के मूल एवं अर्थ का बार-बार स्मरण करना, उसे विस्मरण नहीं होने देना उपधानाचार है।

7. **बहुमानाचार** - ज्ञान के उपकरण एवं गुरुजनों की विनय करना।

8. **अनिह्नवाचार** - जिस शास्त्र या गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है उसका नाम न छिपाना। उक्त आठ अङ्गों के पालन से सम्यक्ज्ञान पुष्ट और परिष्कृत होता है।

सम्यक् ज्ञान के भेद

सम्यक्ज्ञान के पाँच भेद हैं। मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान।[1]

मतिज्ञान - इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। इसके चार भेद हैं-अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयी के सन्निपात/सम्पर्क के अन्तर ''प्रथमतः कुछ है'' इस प्रकार के अर्थबोध को 'अवग्रह' कहते हैं। अवग्रह के द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में और स्पष्ट जानने की इच्छा को 'ईहा' कहते हैं। ईहा में निर्णय की ओर झुकाव होता है। ईहा के बाद एक निर्णय पर पहुँचना 'अवाय' है। अवाय द्वारा गृहीत अर्थ को संस्कार के रूप में धारण कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति रह सके, 'धारणा' है। पदार्थ ज्ञान का यही क्रम है। ज्ञात वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बड़ी द्रुतगति से चलता है।

पूर्वोक्त अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का होता है। ''अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह''। व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त अथवा अस्पष्ट पदार्थों का ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है। यह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के द्वारा ही होता। व्यक्त अथवा स्पष्ट शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने वाला ज्ञान अर्थावग्रह कहलाता है। यह पाँचों इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होता है। जैसे मिट्टी के नये घड़े पर पानी की बूँदें डालने पर वह गीला नहीं होता, परन्तु लगातार जल-बिन्दुओं को डालते रहने पर वह गीला हो जाता है। उसी प्रकार व्यक्त ग्रहण के पहले अव्यक्त ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है और व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह है।

बहु, बहुविध आदि पदार्थों की अपेक्षा मतिज्ञान बारह प्रकार का होता है। विस्तार से इन्हीं भेदों की संख्या 336 हो जाती है।

श्रुतज्ञान- मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन-मनन द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। मतिज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में या उसके सम्बन्ध से अन्य वस्तु के विषय में जो विशेष चिन्तन आरम्भ होता है, यह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के लिए शब्द, श्रवण या संकेत आवश्यक है। अमुक शब्द का अमुक अर्थ में संकेत है, यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। शब्द, श्रवण, संकेत मतिज्ञान है। उसके बाद शब्द और अर्थ के

---

1. त.सू. 1/9

वाच्य-वाचक सम्बन्ध के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है।

प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो श्रुत अर्थात् शास्त्र से सम्बद्ध हो। आप्त/वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित आगम या शास्त्रों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं। इस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- अङ्ग प्रविष्ट और अङ्ग बाह्य। अङ्ग प्रविष्ट के बारह भेद हैं तथा अङ्ग बाह्य अनेक भेद वाला है।

अवधिज्ञान - इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है- भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय। देवों और नारकियों को यहज्ञान जन्म के क्षणों में ही स्वभावतः प्राप्त हो जाता है। अतएव वह भव-प्रत्यय है। मनुष्यों और पशुओं में यह ज्ञान सम्यक्दर्शन आदि विशेष गुणों के प्रभाव से ही उत्पन्न होता है इसलिए इसे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। इसके छह भेद हैं- 1. अनुगामी, 2. अननुगामी, 3. वर्धमान, 4. हीयमान, 5. अवस्थित, 6. अनवस्थित।

1. अनुगामी अवधिज्ञान ज्ञाता का अनुसरण करता हुआ छाया की तरह उसके साथ-साथ जाता है। 2. अननुगामी अवधिज्ञान क्षेत्र विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। 3. वर्धमान अवधिज्ञान शुक्लपक्ष की चन्द्रकलाओं की तरह उत्पत्ति के बाद निरन्तर बढ़ता रहता है। 4. हीयमान अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष की चन्द्र कलाओं की तरह निरन्तर घटता रहता है। 5. अवस्थित अवधिज्ञान एक-सी स्थिति में रहता है। तथा 6. अनवस्थित अवधिज्ञान अक्रम से घटता-बढ़ता रहता है। ये छह भेद स्वामी की अपेक्षा हैं। विषय-क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान के तीन भेद हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनके विषय-क्षेत्र और पदार्थों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार और विशुद्धि पायी जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इस कारण वह प्रतिपाती है। पर परमावधि और सर्वावधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त कभी नहीं छूटते। ये दोनों तद्भव-मोक्षगामी मुनियों के ही होते हैं।

मनः पर्यय ज्ञान - दूसरों के मनोगत अर्थ को जानने वाला ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान है। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जैसा सोचता है मन में उसके अनुरूप पुद्गल द्रव्यों की आकृतियाँ/पर्यायें बन जाती हैं। वस्तुतः मनःपर्यय का अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान।

मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं "ऋजुमति और विपुलमति"। ऋजुमति सरल मन, वचन, काय से विचार किये गये पदार्थ को जानता है। पर, विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सरल और कुटिल दोनों तरह से विचार किये गये पदार्थों को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है, किन्तु विपुलमति ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है। इसलिए इसे अप्रतिपाती कहते हैं। दोनों प्रकार का मनःपर्ययज्ञान ऋद्धिधारी मुनियों को ही होता है।

अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अन्तर है। अवधिज्ञान के द्वारा ज्ञात किये गये पदार्थ के अनन्तवें भाग को मनः पर्ययज्ञान जानता है।

केवलज्ञान - त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञानी को सर्वज्ञ कहते हैं। केवलज्ञानी केवलज्ञान होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है। केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो केवलज्ञान का विषय न हो। समस्त ज्ञानावरण कर्म के समूल विनष्ट होने पर यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह पूर्ण रूप से निरावरण और निर्मल ज्ञान है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। केवलज्ञान आत्मा की ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकसित रूप है।

सम्यक् चारित्र

साधना का तीसरा चरण चारित्र है। चारित्र के दो रूप माने गये हैं। निश्चय चारित्र और व्यवहार चारित्र। निश्चय चारित्र निवृत्ति मूलक है और व्यवहार चारित्र प्रवृत्ति परक। चारित्र का बाह्य आचारात्मक पक्ष व्यवहार चारित्र है और उसका आन्तरिक पक्ष निश्चय चारित्र है। निश्चय चारित्र का अर्थ है समस्त राग-द्वेषादि वैभाविक भावों से रहित होकर परम साम्य भाव में अवस्थिति। यह आत्मरमण की स्थिति है। जीव के आध्यात्मिक विकास का निश्चय चारित्र ही आधार है। इसे ही समता, वीतरागता या मध्यस्थता भी कहते हैं।

व्यवहार चारित्र का सम्बन्ध आचार नियमों के परिपालन से है। मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों को त्याग कर व्रत, समिति आदि शुभ प्रवृत्तियों में

लीन होना, व्यवहार चारित्र है। इसे देशव्रती और सर्वव्रती इन दो वर्गों में विभाजित किया गया हैं। देशव्रती चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थों से और सर्वव्रती का सम्बन्ध मुनियों से है। गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलगुण, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमा का पालन किया जाता है तथा मुनि आचार के अन्तर्गत महाव्रत, समिति, गुप्ति-धर्म, अनुप्रेक्षा आदि के साथ अट्ठाईस मूलगुणों का पालन किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन-दर्शन में मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्म, तर्कसंगत और वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मोक्ष आत्म-विकास की परम और पूर्ण अवस्था है।

आत्मविकास के क्रमिक सोपान

- गुणस्थान का अर्थ
- गुणस्थान के भेद
- त्रिविध आत्माएँ
- दो श्रेणियाँ
- जीवन–मुक्ति और देह–मुक्ति में अन्तर
- गुणस्थानों में आरोह–अवरोह का क्रम

आत्मविकास के क्रमिक सोपान

जीवन विकासशील है। जीवन के विभिन्न पक्षों के विकास का आकलन विभिन्न माध्यमों से किया जाता है। शरीर सम्बन्धी विकास को शारीरिक विकास कहते हैं तथा मन सम्बन्धी विकास मानसिक विकास कहलाता है। इसी प्रकार, आत्मा सम्बन्धी विकास आत्मिक या आध्यात्मिक विकास कहलाता है। जैसे बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं में क्रम होता है; हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतुओं में क्रम होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विकास का भी अपना एक क्रम होता है- प्रथम भूमिका, द्वितीय भूमिका, तृतीय भूमिका आदि। जैनदर्शन के अनुसार साधक ज्यों-ज्यों अपनी साधना की ऊँचाइयों का स्पर्श करता है, त्यों-त्यों उसकी आत्मा का विकास होता जाता है। इस क्रम का परिज्ञान होने से आत्मा की उन्नत और अवनत अवस्थाओं का पता चलता है तथा इससे आत्मविकास की साधना में भी बहुत सहायता मिलती है। इसीलिए जैनागम में आत्मा की विकास-यात्रा को गुणस्थानों द्वारा अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से विवेचित किया गया है, जो कि न केवल साधक की विकास-यात्रा की विभिन्न मनोभूमियों का चित्रण करता है, अपितु आत्मा की विकास-यात्रा की पूर्व भूमिका से लेकर गन्तव्य आदर्श तक की समुचित व्याख्या भी प्रस्तुत करता है।

गुण-स्थान का अर्थ

मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के निमित्त से उत्पन्न जीव के अन्तरङ्ग परिणामों की तरतमता को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का द्योतक है। जीव के परिणाम सदा एक से नहीं रहते। मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरङ्ग परिणामों में प्रतिक्षण उतार-चढ़ाव होता रहता है। गुणस्थान आत्म-परिणामों में होने वाले इन उतार-चढ़ावों का बोध कराता है। साधक कितना चल चुका है तथा कितना आगे

और चलना है? गुणस्थान इसे बताने वाला मार्ग-सूचक पट्ट है। गुणस्थान जीव के मोह और निर्मोह दशा की भी व्यख्या करता है। यह संसार और मोक्ष के अन्तर को स्पष्ट करता है। गुणस्थानों के आधार पर जीवों के बन्ध और अबन्ध का भी पता चलता है। गुणस्थान आत्म-विकास का दिग्दर्शक है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति स्वरूपी है, किन्तु अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण उसकी वे शक्तियाँ प्रकट नहीं हो पातीं। कर्मों का आवरण उसके मूल रूप को आवृत या विकृत कर लेता है। जितनी-जितनी कर्म आवरण की घटाएँ सघन होती जाती हैं, उतनी-उतनी जीव शक्तियों का प्रकाश कम होता जाता है तथा इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्म-पटल विरल होते हैं; वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति प्रकट होती जाती है। जीव के परिणामों के उतार-चढ़ाव के अनुसार आत्मिक शक्तियों का विकास और ह्रास होता रहता है। यूँ तो परिणामों के उतार-चढ़ाव की अपेक्षा आत्मिक विकास के आरोहण और अवरोहण के अनन्त विकल्प सम्भव हैं फिर भी परिणामों की उत्कृष्टता और जघन्यता की अपेक्षा, उन्हें चौदह भूमिकाओं में विभक्त किया गया है, जो निम्नलिखित हैं-

गुण-स्थान के भेद

1. मिथ्यादृष्टि,
2. सासादन,
3. सम्यक्-मिथ्यादृष्टि,
4. असंयत सम्यक्दृष्टि,
5. संयतासंयत,
6. प्रमत्त-संयत,
7. अप्रमत्त-संयत,
8. अपूर्वकरण,
9. अनिवृत्तिकरण,
10. सूक्ष्म-साम्पराय,
11. उपशान्तमोह,
12. क्षीणमोह-वीतराग छद्मस्थ
13. सयोग-केवली,
14. अयोग-केवली।[1]

यहाँ सम्यक् दृष्टि के साथ लगा असंयत विशेषण अपने से नीचे के सभी गुण-स्थानों में असंयतत्व व्यक्त करता है; क्योंकि वह अन्त दीपक है। इससे ऊपर के गुणस्थानों से संयम की यात्रा का सूत्रपात होता है। सम्यक्-दृष्टि पद ऊपर के

1. ष. खं. 1. 1. सूत्र 9-22

सभी गुणस्थानों में नदी-प्रवाह की तरह अनुवृत्ति को प्राप्त है अर्थात् आगे के समस्त गुणस्थान में सम्यक्-दर्शन पाया जाता है। छठे गुणस्थान में प्रयुक्त 'प्रमत्त' विशेषण अपने साथ नीचे के सभी गुणस्थानों में प्रमाद के अस्तित्व का द्योतन करता है तथा उसके आगे जुड़े 'संयत' शब्द से यह सूचित होता है कि ऊपर के सभी गुणस्थान संयतों के ही होते हैं। बारहवें गुण-स्थान के साथ जुड़ा 'छद्मस्थ' शब्द भी अन्त-दीपक है, क्योंकि आवरण कर्मों के अभाव हो जाने से उससे आगे की भूमिकाओं में छद्मस्थता नहीं रहती।

त्रिविध आत्मा - उपर्युक्त चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों में प्रथम से तृतीय गुण स्थान तक के जीव बहिरात्मा, चतुर्थ से बारहवें गुणस्थानवर्ती अन्तरात्मा तथा तेरहवें और चौदहवें गुण-स्थानवर्ती जीव परमात्मा कहे जाते हैं।

बहिरात्मा जीव - बहिरात्मा अवस्था में जीव देह और आत्मा को एक मानकर बाह्य ऐन्द्रिक विषयों में अनुरक्त रहते हैं। शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति तथा शरीर के विनाश को अपना विनाश समझते हैं। इस प्रकार देह में ही आत्मा की भ्रान्ति बनाये रखने के कारण भव भ्रमण करते रहते हैं। मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य बहिरात्मा हैं, क्योंकि, बहिरात्मता का कारण मिथ्याभाव क्रमशः क्षीण होता जाता है।

अन्तरात्मा - अन्तरात्मा अवस्था में जीव आत्मा और देह की पृथक्ता को समझकर अन्तर्मुखी/निरासक्त जीवन जीता हुआ भव-बन्धन को काटने में जुट जाता है। अविरत सम्यक्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है तथा निर्विकल्प ध्यान में स्थित क्षीण-मोही साधक उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं। इससे बीच की अवस्था वाले सभी साधक मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

परमात्मा - परमात्मा जीव की परम विशुद्ध दशा है। समस्त मोह आदि विकारों को नष्ट कर अपने स्वाभाविक/आत्मिक गुणों को प्रकट कर लेने पर जीव को यह अवस्था प्राप्त होती है। परमात्मा जीवन- मुक्त और देह-मुक्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुण स्थानवर्ती 'अर्हन्त' जीवन-मुक्त कहलाते हैं तथा देह-मुक्त अवस्था को प्राप्त परमात्मा 'सिद्ध' कहलाते हैं। सशरीरी और अशरीरी होने के कारण क्रमशः इन्हें सकल परमात्मा और विकल परमात्मा कहते हैं।

उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में प्रथम भूमिका जीव की निकृष्टतम दशा है। सभी संसारी जीव अनादिकाल से इसी दशा में हैं। इस भूमिका में आत्मिक शक्तियों का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है तथा बढ़ते-बढ़ते चौदहवें गुणस्थान में पहुँचकर आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर लेता है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा के गुणों को आवृत करने वाले कर्मों में 'मोह' ही प्रधान है। इसकी तीव्रता और मन्दता पर ही अन्य आवरणों की तीव्रता-मन्दता होती है। इसी कारण से मोहनीय कर्मों की तीव्रता-मन्दता के आधार पर ही गुणस्थानों का विवेचन किया गया है।

मोह मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है- दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय आत्मा को यथार्थता, सम्यक्त्व और विवेकशीलता से वञ्चित रखता है तथा चारित्र-मोहनीय आत्मा को विवेकयुक्त आचरण नहीं करने देता। दर्शन मोहनीय के कारण व्यक्ति की भावना, विचार-दृष्टि, चिन्तन अथवा श्रद्धा समीचीन नहीं हो पाती, जबकि चारित्र मोहनीय समीचीन-दृष्टि हो जाने पर भी आचरण में पवित्रता नहीं आने देता। इस प्रकार, यह मोह की शक्ति ऐसी है जो कि न तो सम्यक्विचार बनने देती है और न ही सम्यक् आचार। मोहनीय कर्म के प्रभावों की तरतमता से ही गुण-स्थानों का विवेचन किया गया है। आइए अब हम क्रमपूर्वक उक्त गुणस्थानों के स्वरूप पर विचार करें।

1. मिथ्यादृष्टि - यह आत्मा की अधस्तम अवस्था है। इस अवस्था वाले जीव की दृष्टि मिथ्या अर्थात् असत्य होती है।[1] अतः इन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। ये अज्ञान में जीते हैं। इनमें सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता। ऐसे जीव देह, स्त्री, पुत्र आदि बाह्य पदार्थों में अनुरक्त रहते हैं। अर्थ को ही जीवन का वास्तविक आधार मानते हैं। विषय-कषायों में लिप्त रहते हैं। तथा अपने आत्म-स्वभाव से दूर रहते हैं।[2] इनका मन अन्धविश्वासों से भरा रहता है। धर्म के क्षेत्र में प्रायः रूढ़िवादी दृष्टिकोण बनाये रखते हैं। जिस प्रकार पित्त ज्वर से ग्रसित रोगी को मधुर औषधि भी रुचिकर नहीं लगती, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीवों को तत्त्व के प्रति रुचि नहीं होती।[3] इस मिथ्यादर्शन के कारण आत्मा उन्मार्ग की ओर जाता है तथा गलत दिशा ग्रहण कर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है। इसका

1. ध.पु. 1/162　　2. रयणसार गाथा 106　　3. पं.सं.प्रा. 1/6

बन्धन अत्यन्त दृढ़ होता है। इस मिथ्यात्व रूप मोह-ग्रन्थि का भेद होने पर ही आत्म-विकास की यात्रा प्रारम्भ होती है। इसीलिए मिथ्यात्व को सबसे बड़ा शत्रु बताकर महापाप निरूपित किया गया है।[1] चैतन्य-यात्रा में यह सबसे बड़ा अवरोधक है। संसार के अधिकांश जीव इसी मिथ्यात्व से ग्रसित होने के कारण इसी भूमिका में जन्म-मरण करते रहते हैं।

2. सासादन - सम्यक्त्व से नीचे गिरने वाला मिथ्यात्वाभिमुख जीव का नाम सासादन सम्यक्दृष्टि है।[2] यह आत्म-विकास की दूसरी भूमिका है। इसका काल अति अल्प है। जब कोई सम्यक्दृष्टि अनन्तानुबन्धी कषायों के उद्वेग आ जाने से अपने सम्यक्त्व से स्खलित होता है, तब यह अवस्था बनती है।[3] सासादन का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही है। स+आसादन, जो आसादन अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना से युक्त है, वह सासादन है। जैसे-मिठाई खाने के बाद वमन करते वक्त उसका कुछ-कुछ, आस्वाद बना रहता है, वैसे ही सम्यकत्व के छूट जाने पर भी इस अवस्था में उसका किञ्चित् आस्वाद बना रहता है इसलिए इन्हें सासादन सम्यक् दृष्टि कहते हैं।[4]

यद्यपि प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा यह गुणस्थान विकासात्मक है, परन्तु यथार्थ में यह आत्मा की पतनोन्मुख दशा का द्योतक है। कोई भी जीव प्रथम गुण-स्थान से विकास कर इस गुणस्थान में नहीं आता, अपितु ऊपर के विकासात्मक गुणस्थानों से पतित होकर पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त होने के पूर्व बीच की स्थिति में इस गुण-स्थान को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान से जीव उत्कर्ष नहीं कर पाता, क्षण मात्र में पतन करके प्रथम गुणस्थान में जाना ही उसकी नियति होती है।

3. सम्यक् मिथ्यादृष्टि - तृतीय गुणस्थान आत्मा की वह मिश्रित अवस्था है, जिसमें न केवल सम्यक्दृष्टि रहती है, न मिथ्यादृष्टि। इसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की मिश्रित दशा रहती है;[5] जिसके कारण आत्मा में तत्त्व व अतत्त्व को समझने की क्षमता नहीं रहती। यह एक दुविधात्मक अवस्था हैं। इसमें जीव सत्य और असत्य के मध्य ही झूलता रहता है। न वह सत्य की ओर उन्मुख हो पाता है और न ही असत्य को स्वीकार कर पाता है। वह सत्य को सत्य समझने के साथ-साथ असत्य को भी सत्य रूप स्वीकार करने लगता है। इस अवस्था वाले साधक

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 34
2. पं.सं.प्रा. 1/9
3. त.वा. 9/1/13
4. ध.पु. 1/163
5. ध.पु. 1/166-67

समयक्त्व से लगाव होने के साथ-साथ मिथ्यात्व की ओर झुकाव बनाये रखते हैं। जैसे एक बहुत बड़े हाल में छोटा-सा टिमटिमाता दीपक रख देने पर वहाँ प्रकाश और अँधेरे का धुँधलापन दिखाई पड़ता है। न तो वहाँ इतना प्रकाश है कि हम पुस्तक को पढ़ सकें, न ही इतना अँधेरा रहता है कि पुस्तक दिखाई ही न दे। वहाँ पुस्तक तो दिखाई देती है पर अक्षर नहीं दीखते। न वहाँ इतना अँधेरा है कि चलते में ठोकर खाकर गिर पड़े, न इतना प्रकाश है कि सुई में डोरा डाल सकें। प्रकाश और अँधेरे की ऐसी ही मिश्रित अवस्था को जहाँ सम्यक्त्व का प्रकाश होने के साथ-साथ मिथ्यात्व का अँधेरा भी है, जैनागम में सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

इस गुणस्थान में जीव की विवेकशक्ति पूर्ण विकसित नहीं हो पाती। यह अवस्था अधिक काल तक नहीं चलती। उसकी अनिश्चयात्मक अवस्था के समाप्त होने पर यदि मिथ्यात्वभिमुख हो जाता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है, तथा सम्यक् बोध प्राप्त कर लेने पर सम्यक् दृष्टि हो जाता है।[1] श्रद्धान और अश्रद्धानात्मक अवस्था होने से इसे मिश्र-गुणस्थान भी कहते हैं।[2] जैनागम में इस गुणस्थान की निम्नाङ्कित विशेषताएँ बतायी गयी हैं-

1. इसमें श्रद्धान और अश्रद्धान युगपत् विद्यमान रहते हैं।

2. इस गुणस्थान वाले जीव न तो ''सकल संयम'' प्राप्त कर सकते हैं और न ही ''देश संयम।''

3. इस गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती। सम्यक्त्व या मिथ्यात्व परिणामों के होने पर पहला या चौथा गुणस्थान प्राप्त करके ही मृत्यु होती है।

4. इसमें आयु कर्म का बन्ध और मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता।[3]

4. अविरत सम्यक् दृष्टि - यह विकास की चतुर्थ भूमिका है। मिथ्यादृष्टि को सम्यक् बोध प्राप्त होने पर इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है। सम्यक् बोध प्राप्त हो जाने के बाद भी जीव अपनी कमजोरी वश या पर्यायगत अपात्रता के कारण संयम अङ्गीकार नहीं कर पाते, इसीलिए असंयत सम्यक् दृष्टि कहलाते हैं।[4] अनुकूल संयोगों के जुटने पर जीव अपने पुरुषार्थ से मोह-ग्रन्थि को भेदकर जब

---

1. ध.पु. 4/343
2. गोम्मटसार जीवकाण्ड 22
3. ण य मरेइ णेव संजमुवेई तह देस संजमं वापि।
   सम्मामिच्छादिट्ठि ण मरणंत समुग्घादो 11/33 **ध.पु. 4/ 349 से उद्धृत**
4. पं.सं.प्रा. 1/11

मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करता है, तब यह अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में मोह की शिथिलता के कारण सम्यक् श्रद्धा अर्थात् सद्विवेक तो प्राप्त हो जाता है, परन्तु सम्यक्चारित्र का अभाव रहता है। इस अवस्था में विचार-शुद्धि का सद्भाव रहते हुए भी आचार शुद्धि का असद्भाव रहता है।

यद्यपि चारित्र मोहनीय के उदय से असयंत सम्यक्दृष्टि संयम ग्रहण नहीं कर पाता, फिर भी दृष्टि में समीचीनता आ जाने से, उसमें कुछ विशिष्ट गुण प्रकट हो जाते हैं- प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य।[1]

सम्यक्दृष्टि हो जाने के बाद उसके क्रोधादिक का अतिशय उद्रेक नहीं आता। वह अपने सद्विवेक से अपनी भाव-धारा को सँभाले रहता है, यही उसका 'प्रशम' गुण है। विवेक की वृद्धि हो जाने से तथा निरन्तर संसार से भयभीत रहने के कारण उसमें विषयों से विरक्ति का भाव जगने लगता है। यह उसका 'संवेग' गुण कहलाता है। उसका मन दया से भींगा हुआ रहता है, वह दीन-दुःखियों की पीड़ा को देखकर स्वयं काँप उठता है तथा यथासम्भव उनकी सेवा करता है, यही उसके अनुकम्पा गुण का लक्षण है तथा वह तत्त्वों की श्रद्धापूर्वक सबके अस्तित्व को स्वीकार कर सह-अस्तित्व का जीवन जीने लगता है, यह उसके 'आस्तिक्य' गुण का उदाहरण है। इस गुणस्थान वाले जीव में निम्नाङ्कित अन्य विशेषताएँ भी उपलब्ध रहती हैं-

1. निरीह, और निरपराध जीवों की हिंसा नहीं करता।

2. अपने दोषों की निन्दा तथा गर्हा करता है।

3. गुण-ग्राही दृष्टि रखता है।

4. सच्चे देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा रखता है। उनके प्रति पूर्णरूप से समर्पित रहता है।

5. पुत्र, स्त्री, धन, वैभव आदि बाह्य पदार्थ को अशाश्वत मानकर उन पर गर्व नहीं करता है।

6. संवेगादिक गुणों से युक्त होने के कारण वह विषयों में अधिक अनुरागी नहीं होता, अपितु उनकी ओर हेय दृष्टि बनाये रखता है।

---

1. प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। सर्वार्थसिद्धिः पृ.7

5. संयतासंयत - यह पाँचवीं भूमिका है। इसे विरताविरत अथवा देश-संयम भी कहते हैं। इसमें व्यक्ति की आत्मिक शक्ति कुछ और विकसित हो जाती है। यह असंयत सम्यक् दृष्टि से एक कदम आगे बढ़ जाता है तथा वह पूर्वोक्त सम्यक्-दृष्टि के गुणों के साथ-साथ कुछ अंशों में संयम का भी पालन करने लगता है। वह पूर्ण रूप से तो संयम अंगीकार नहीं कर पाता, किन्तु आंशिक रूप से संयम का पालन अवश्य करता है। इस अवस्था में स्थित साधक को जैन-शास्त्रों में 'उपासक' अथवा 'श्रावक' भी कहा गया है। आंशिक रूप से व्रतों के पालन करने के कारण ही इस गुणस्थान को देश-संयम कहते हैं।[1] चूँकि इस अवस्था के जीव स्थूल पापों से विरक्त रहते हैं, अतः संयत अथवा विरत हैं तथा सूक्ष्म पापों का त्याग न कर पाने के कारण वे असंयत अथवा अविरत कहलाते हैं। इसी अपेक्षा से इस गुणस्थान में संयतासंयत अथवा विरताविरत रूप परिणाम युगपत् पाये जाते हैं।[2] नैतिक जीवन का वास्तविक विकास इसी गुणस्थान से प्रारम्भ हो पाता है।

6. प्रमत्त विरत - छठे गुणस्थान में साधक की आत्म-शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह देश-विरति अर्थात् अंश-विरति से सर्वविरति अर्थात् पूर्ण विरति की ओर जाता है। अब वह अणुव्रती या उपासक न कहलाकर महाव्रती साधक अथवा श्रमण कहलाने लगता है। इस भूमिका में उसके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का पूर्ण रूप से परित्याग हो जाता है। इस अवस्था को नग्न दिगम्बर मुनि ही प्राप्त कर पाते हैं। सम्यक्चारित्र प्रकट हो जाने से यहाँ पूर्ण मोक्षमार्ग बन जाता है। वस्तुतः मुक्ति-यात्रा का वास्तविक शुभारम्भ यहीं से होता है।

इतना कुछ होते हुए भी, प्रमाद युक्त होने के कारण, उनके आचरण में कुछ शिथिलता बनी रहती है, इसलिए इन्हें चित्रलाचरणी भी कहा गया है।[3] साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थितियों के अनुसार इस भूमिका से ऊपर भी उठ सकता है तथा नीचे भी गिर सकता है।

7. अप्रमत्त-विरत - यह आत्मध्यान की भूमिका है। इस भूमिका में कदम रखते ही साधक सब प्रकार के प्रमादों पर विजय पा लेते हैं। यह एक आत्मलीन जागरूक निष्क्रियता की स्थिति है। इस दशा में स्थित साधक सतत अप्रमत्त रहते

---

1. गो.जी.का. 30
2. पं.सं.प्र.गा. 134-35
3. गो.जी.का. 33

हैं अर्थात् आत्म-जागृति बनाये रखते हैं। अपनी इसी जागरूकता के कारण निरन्तर प्रगति पथ पर बढ़ते जाते हैं। आत्मानुभूति का स्वर्णिम प्रभात यहीं से फूटता है। प्रमाद से रहित हो जाने के कारण इन्हें अप्रमत्त-संयत कहते हैं।[1]

यद्यपि उक्त साधक सतत अप्रमत्त रहना चाहते हैं, फिर भी प्रमाद जनित संस्कार इन्हें एकदम नहीं छोड़ देते। वे बीच-बीच में उन्हें परेशान करते रहते हैं। परिणामतः वे पुनः प्रमाद अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। प्रमादावस्था को प्राप्त करने पर तुरन्त ही अपने आत्मध्यान के बल से अप्रमादावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार तरङ्गयित जल पर पड़ा लकड़ी का टुकड़ा लहरों के उतार-चढ़ाव के कारण ऊपर-नीचे होता रहता है, उसी प्रकार इनकी नैया प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था के बीच डोलती रहती है। ये स्वस्थान अप्रमत्त कहलाते हैं।[2] प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही स्थितियाँ इस भूमिका में सम्भव हैं।

अनेक बार प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्थाओं का स्पर्श करने के बाद कुछ अप्रमत्त संयत अपनी आत्म-साधना के बल से चेतना का ऊर्ध्वारोहण कर आठवें गुणस्थान के अभिमुख हो जाते हैं, उन्हें सातिश्य अप्रमत्त कहा जाता है।[3] वे अपने परिणामों की अतिशयता से प्रमादजन्य संस्कारों को पूर्ण रूप से पराजित कर समस्त मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए कमर कस लेते हैं, इस तरह यह गुणस्थान दो प्रकार का हो जाता है।

दो श्रेणियाँ

इससे आगे बढ़कर साधक अपने विजय अभियान को और तेज कर देता है। अब वह अपने प्रगति-पथ पर आरूढ़ हो, आत्मविकास की गति को और तेज कर देता है। इसे जैनदर्शन में 'श्रेणी' शब्द से जाना जाता है। श्रेणी का अर्थ है चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम के लिए किया जाने वाला आरोहण। श्रेणी-सीढ़ी का प्रतीक है, जिस पर आरूढ़ हो साधक, कर्म-विनाश का विशेष उपक्रम प्रारम्भ करता है। श्रेणी दो प्रकार की होती है- उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी।

उपशम श्रेणी - उपशम श्रेणी में साधक मोहनीय कर्म का समूल नाश नहीं कर पाता, अपितु उसे दमित करता हुआ अर्थात् दबाता हुआ आगे बढ़ता जाता है।[4] जिस प्रकार शत्रु सेना को खदेड़कर की गयी विजय-यात्रा, राज्य के लिए अहितकर

1. ध.पु. 1/178
2. गो.जी.का. 46
3. ल.सा.गा. 205
4. तत्त्वार्थवार्तिक 9/1/18

होती है, क्योंकि वह कभी भी समय पाकर राज्य पर पुनः आक्रमण कर सकता है। उसी प्रकार इस विधि से प्रशमावस्था को प्राप्त कर्मशक्ति कभी भी समय पाकर आत्मा का अहित कर सकती है। जिस प्रकार गँदले जल में फिटकरी आदि कोई केमिकल डाल देने पर उसकी गँदगी नीचे बैठ जाती है तथा जल अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल हो जाता है, लेकिन बर्तन में थोड़ा भी हलन-चलन होते ही वह गँदगी पुनः उभरकर आ जाती है। उसी प्रकार कर्मों के उपशम जन्य अल्पकालिक विशुद्धि के कारण आत्मा में स्वच्छता तो आ जाती है; लेकिन मोह के उदय हो जाने के कारण अपनी उपरिम भूमिका से फिसलकर जीव नीचे गिर जाता है। उपशम श्रेणी वाले जीव अपने कर्मोन्मूलन के पुरुषार्थ को पूर्ण कर अन्तिम सोपान तक नहीं ले जा सकते। ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर कर्मों के पुनः प्रकट हो जाने से अनिवार्यतः उनका पुनः पतन हो जाता है।[1]

क्षपक श्रेणी - जो साधक अपनी विशुद्धि के बल पर चारित्र मोहनीय कर्म का समूल विच्छेद करते हुए आगे बढ़ते हैं, वे क्षपक श्रेणी वाले कहलाते हैं।[2] इसमें कर्म शत्रुओं का उपशम नहीं होता, अपितु समूल विध्वंस कर दिया जाता है। इसी कारण यह पुनः जागृत नहीं हो पाते। इस श्रेणी वाले साधकों का अधःपतन नहीं होता। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले साधक अपना आत्मिक विकास करते हुए समस्त कर्मों का समूल नाश कर अन्तिम सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों ही श्रेणियाँ आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होती हैं। उपशम श्रेणी में आरूढ़ साधक ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर नीचे गिर जाते हैं, जबकि क्षपक श्रेणी में आरूढ़ साधक दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हुए मुक्ति की यात्रा को पूर्ण करते हैं।

8. अपूर्वकरण - यह आठवीं भूमिका है। जब साधक अपने चरित्र बल को विशेष रूप से बढ़ा लेते हैं और प्रमाद-अप्रमाद अवस्था के इस संघर्ष में विजयी बनकर स्थायी अप्रमत्त अवस्था (सातिशय अप्रमत्त) को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जिससे रहे-सहे मोह बल को नष्ट या उपशमित किया जा सके।

इस अवस्था में पहुँचते ही साधक असीम आनन्द के सरोवर में निमग्न हो

1. धवला 1/37
2. तत्त्वार्थवार्तिक 9/1/18

जाता है। उसके बाहर के सारे सम्बन्ध छूट जाते हैं। इस भूमिका से वापसी की कोई सम्भावना नहीं रहती। वह प्रतिक्षण आगे ही बढ़ता चलता है। उसके साधना के नये-नये द्वार खुलते जाते हैं। उसमें अपूर्व वीर्योल्लास जगता है तथा असाधारण सामर्थ्य प्रकट होती जाती है। वह प्रतिक्षण पूर्व में अननुभूत आत्मशुद्धि का अनुभव करने लगता है। उसे हर क्षण नयी-नयी अनुभूतियाँ होने लगती हैं। इसीलिए इस गुणस्थान को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं।

परिणामों की इस विशुद्धि के बल से साधक के अन्दर एक अपूर्व शक्ति जागृत होती है तथा कषायों के विरुद्ध भावी संघर्ष-यात्रा का शुभारम्भ होता है, जो कि दसवें गुणस्थान तक जारी रहता है।

9. अनिवृत्तिकरण - अष्टम गुणस्थान को पार कर साधक इस नवमें गुणस्थान में आता है और चारित्र मोहनीय के शेष अङ्गों को उपशमन करने अथवा क्षीण करने के कार्य को विशेष गति देता है। इस भूमिका में आने के बाद इतनी समता आ जाती है कि शरीरगत भेद होते हुए भी समान काल में प्रविष्ट होने वाले विभिन्न साधकों के परिणाम भी सदृश हो जाते हैं। परिणामों गत निवृत्ति अर्थात् भेद न होने के कारण ही इस गुणस्थान को अनिवृत्तिकरण कहते हैं।[1]

पूर्व में की गयी समस्त साधनाओं का फल यहाँ स्पष्ट दिखने लगता है। इस गुणस्थान में आकर साधक अपने प्रबल साधना के प्रभाव से मोह सेना को नष्ट या उपशमित कर स्थूल कषायों को नष्ट व उपशान्त कर देता है तथा सूक्ष्म कामवासनाएँ भी यहीं विनष्ट हो जाती हैं। इसीलिए इसको बादर-साम्पराय गुणस्थान भी कहा जाता है।

10. सूक्ष्म-साम्पराय - अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में समस्त स्थूल-कषायों को उपशान्त अथवा क्षीण कर एक मात्र सञ्वलन लोभ (वह भी अत्यन्त सूक्ष्म) के साथ साधक इस दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है।[2] इसीलिए इसे सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। जैसे-गुफा से शेर के चले जाने के बाद भी गुफा में शेर की गन्ध बनी रहती है अथवा पानी की धार सूख जाने के बाद भी उसके निशान बने रहते हैं। ऐसी ही स्थिति यहाँ बनती है। कषायों की धार तो पूर्व में ही सूख चुकी अब उसकी निशान भर बची है। वह इतनी सूक्ष्म होती है कि दिखाई नहीं पड़ती पर आत्मा को प्रभावित करती रहती है।

1. ध.पु. 1/183
2. त.वा. 9/1/21

इस गुणस्थान के अन्त समय में उक्त सूक्ष्म-लोभ को भी उपशमित अथवा क्षीण कर ग्यारहवें अथवा बारहवें गुण-स्थान में प्रवेश किया जाता है।

11. उपशान्त मोह - समस्त मोहनीय कर्म को उपशमित करने वाले साधक इस ग्यारहवीं भूमिका में प्रवेश करते हैं।[1] चूँकि यहाँ कषायें पूर्ण रूप से उपशान्त रहती हैं, अतः साधक को कुछ क्षण के लिए यहाँ वीतरागता का अनुभव तो होता है, लेकिन भस्माच्छादित अग्नि की तरह भीतर कषायों के दबे रहने के कारण वे कुछ क्षणों में पुनः उदय को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे साधक पुनः नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। इस गुणस्थान से पतन करने वाला साधक प्रथम 'मिथ्यात्व' गुणस्थान तक भी आ सकता है, लेकिन पुनः अपने प्रयास के द्वारा ऊपर उठकर कषायों को प्रशमित अथवा विनष्ट कर प्रगति भी कर सकता है। साधना के क्रम में ऐसा फिसलना-सम्हलना अनेक बार हो सकता है।

12. क्षीण-मोह - दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का क्षय करने वाले साधक इस गुणस्थान में आते हैं। समस्त मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने के कारण इसका 'क्षीण-मोह' यह सार्थक नाम है।[2] समस्त कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान है। जिस प्रकार संग्राम में सेनानायक के आहत होते ही समस्त सेना स्वतः ही समर्पित हो जाती है। उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने से साधक इस भूमिका में प्रवेश कर शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय संज्ञक घातिया कर्मों का भी नाश कर देता है। इस गुणस्थानवर्ती साधकों का कभी पतन नहीं होता।

कषाय के क्षीण हो जाने से इनमें पूर्ण वीतरागता आ जाती है, किन्तु अभी इनकी छद्मस्थावस्था दूर नहीं होती। छद्म अर्थात् लेश मात्र भी अज्ञान जिनमें हो, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। अतः इस गुणस्थान को 'क्षीण-कषाय वीतराग-छद्मस्थ' भी कहते हैं।

13. सयोग केवली - यह साधक की परमात्म दशा की उपलब्धि का आरोहण है। इस अवस्था में आते ही साधक परमात्म दशा को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें भगवत्ता की उपलब्धि हो जाती है। ये ही अरिहन्त या अरहन्त कहलाते हैं। बारहवें गुणस्थान में घातिया कर्मों का क्षय हो जाने के कारण इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही उन्हें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की सहज उपलब्धि हो जाती है। यही पूर्ण ज्ञानी कहलाते हैं। भूत, भविष्य और

1. त.वा. 9/1/22
2. द्र.सं.टी.गा.13

वर्तमान के समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के कारण इन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भी कहते हैं। ये जन्म और मरण रूप संसार के परिभ्रमण से मुक्त हो जाते हैं। अन्य दर्शनों में इन्हें जीवन-मुक्त कहा जाता है। इसे ही भाव-मुक्ति भी कहते हैं। ये परम वीतरागी होते हैं।

योग सहित होने के कारण ये 'सयोगी' तथा केवलज्ञान होने के कारण 'केवली' कहलाते हैं। कर्मों को जीतकर ही यह अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए इस गुणस्थान को 'सयोग केवली' कहते हैं।[1]

जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति में अन्तर

जीवन-मुक्त होते ही वे मुक्ति का अनुभव करने लगते हैं, वे पूर्ण स्वतन्त्र हो जाते हैं। जैसे कोई अपराधी वर्षों तक कारागृह में कैद रहने के बाद मुक्त किया जाता है, तब वह अपने बैरक से निकलते ही स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है, क्योंकि अब वह कैदी नहीं रहा। उसकी बेड़ियाँ अलग कर दी गयी हैं। जेल की ड्रेस/परिधान भी छूट गयी है, वह सजा से मुक्त हो चुका है। यद्यपि वह कारागृह में ही है, फिर भी जेलर के अनुशासन से वह मुक्त हो चुका है, अब वह जेल से निकलने को है; पर चौकीदार अभी चाबी लेकर द्वार पर नहीं पहुँचा है। जब तक दरवाजा नहीं खुलता तब तक वह कारागृह से बाहर नहीं निकल पाता। फिर भी रहता तो स्वतन्त्र ही है। द्वार खुलते ही वह बाहर आ जाता है। जीवन-मुक्ति देह के कारागृह से मुक्ति की घोषणा है। आयु कर्म के द्वार खोलने की प्रतीक्षा है। जब तक आयु-कर्म देह-मुक्ति की चाबी लेकर नहीं आ जाता, तब तक देह के कारागृह से बाहर नहीं निकला जा सकता। जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति में यही अन्तर है।

14. अयोग केवली - आत्मिक विकास का यह अन्तिम चरण है जीवन-भर की साधना का यह चरम पड़ाव है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती 'सयोग-केवली-जिन' अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में देह से मुक्ति पाने के लिए विशुद्ध-ध्यान के बल से योगों का पूर्ण रूप से निग्रह कर लेते हैं। तब वह आत्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं। योगातीत हो जाने के कारण इस गुणस्थानवर्ती साधक को 'अयोग-केवली' कहते हैं।[2] इस अवस्था में साधक आत्मा अपने उत्कृष्टतम शुक्ल ध्यान के द्वारा पर्वत की तरह निष्प्रकम्प अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। अन्त में

1. गो. सा. जी. का. 64
2. ध.पु. 1/92

देहत्याग पूर्वक सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। कर्मों का आत्यन्तिक क्षय इसी अवस्था में होता है। कर्मों का क्षय होते ही वे संसार के बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाते हैं। इस दशा में आत्मा पूर्ण विकसित और कृतकृत्य हो जाता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक विकास के इस क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव अपने आत्म-विकास की इन सीढ़ियों पर आरूढ़ होकर स्वयं परमात्म दशा को प्राप्त कर सकता है। जैन दर्शन में अनादि सिद्ध परमात्मा को नहीं स्वीकारा गया है।

गुण-स्थानों से आरोह-अवरोह का क्रम

इस प्रकार इन चौदह गुण-स्थानों से होता हुआ जीव अपनी आत्मविकास की यात्रा को पूर्ण करता है। आत्मिक परिणति से जुड़े होने के कारण गुणस्थान अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। हम अपनी बुद्धि से इन गुणस्थानों को पहचान नहीं सकते। इन्हें तो अपने अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। इतना अवश्य है कि इन गुणस्थानों के प्राप्त होने पर कथित गुण हमारे आचरण में अवश्य आ जाते हैं। उन आचरणों के आधार पर ही गुणस्थानों का अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे भावों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप इनमें क्षण-क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं। इनमें आरोहण एवं अवरोहण का भी एक निश्चित क्रम है। आइए एक दृष्टि हम उन पर भी डालें-

क्रं.	गुणस्थानों के नाम	आरोहण	अवरोहण
1	मिथ्यात्व	3,4,5,7,	-
2	सासादन	-	1
3	सम्यक् मिथ्या-दृष्टि	4	1
4	अविरत सम्यक्-दृष्टि	5,7	3,2,1
5	संयतासंयत	7	4,3,2,1
6	प्रमत्त-संयत	7	5,4,3,2,1
7	अप्रमत्त-संयम	8	6,4 (मरण की अपेक्षा)
8	अपूर्वकरण	9	7,4 (मरण की अपेक्षा)
9	अनिवृत्तिकरण	10	8,4 (मरण की अपेक्षा)

10	सूक्ष्म साम्पराय	11 (उपशम श्रेणी)	9,4 (मरण की अपेक्षा)
		11 (उपशम श्रेणी)	
11	उपशान्त-मोह	-	10,4 (मरण की अपेक्षा)
12	क्षीण-मोह	13	-
13	सयोग-केवली	14	-
14	अयोग-केवली	मोक्ष	-

इस प्रकार जैन दृष्टि से आत्मविकास के क्रम का यह सामान्य दिग्दर्शन है। इसके विशेष परिज्ञान के लिए जैन कर्म साहित्य पढ़ना चाहिये।

जैनाचार

- अहिंसा
- श्रावकाचार
- मुनि आचार
- सल्लेखना

अहिंसा

- अहिंसा
- हिंसा के भेद
- पाँच व्रत

जैनाचार

आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्ति वाले दो पक्ष हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। विचारों के आधार पर ही हमारा आचरण फलता है तथा आचरण से ही विचारों में स्थिरता आती है। इन दोनों पक्षों के सन्तुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है। इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का विकास कह सकते हैं, जो दुःख मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

आचार और विचार की एक दूसरे पर इसी निर्भरता को दृष्टिगत रखते हुए, भारतीय तत्त्व-चिन्तकों ने धर्म और दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया है। उन्होंने एक ओर जहाँ तत्त्वज्ञान की प्ररूपणा कर दर्शन की प्रस्थापना की है, वहीं दूसरी ओर आचार-शास्त्रों का निरूपण कर साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय परम्परा में आचार को धर्म तथा विचार को दर्शन कहा गया है। जब मानव-विचारों के गर्भ में प्रवेश करता है, तब दर्शन जन्म लेता है तथा जब विचारों को आचरण में ढालता है, तब धर्म प्रकट होता है। धर्म तथा दर्शन परस्पर पूरक हैं। एक के बिना दूसरा एकांगी और अपूर्ण है। दर्शन रहित आचरण अन्धा है। जिस आचरण में विवेक की जगमगाती ज्योति नहीं है, वह सही और गलत की अन्ध गलियों में भटकता रहेगा। आचार का मार्गदर्शक विचार है। विचार ही आचार को सन्मार्ग पर चलाता है। दूसरी ओर आचार रहित विचार पंगु है। मुक्ति के साधना-पथ पर आचार रहित साधक आगे नहीं बढ़ सकता। दीपक की चर्चा से प्रकाश प्रकट नहीं होता, प्रकाश तो दीप जलाने की क्रिया आचरण से ही प्रकट होता है। इस तरह आचार रहित विचार और विचार रहित आचार दोनों ही निरर्थक हैं। दोनों का समन्वय ही सच्ची धर्म साधना है जिसके द्वारा मुक्ति की मञ्जिल प्राप्त की जा सकती है।

जैन-परम्परा में आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है। अहिंसा

मूलक आचार और अनेकान्त मूलक विचार का प्रतिपादन जैन-परम्परा की प्रमुख विशेषता है।

अहिंसा

अहिंसा जैनाचार का प्राण तत्त्व है। इसे ही परमब्रह्म और परमधर्म कहा गया है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन और आचरण जैन-परम्परा में मिलता है, उतना किसी अन्य परम्परा में नहीं। अहिंसा का मूलाधार आत्म-साम्य है। प्रत्येक आत्मा चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, स्थावर हो या त्रस, तात्त्विक दृष्टि से समान है। सभी जीवों में एक-सी ही आत्मा का वास है। सुख-दुःख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है। जीवन-मरण की प्रतीति सब करते हैं। जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है मरण अप्रिय, सुख प्रिय है दुःख अप्रिय, अनुकूलता प्रिय है प्रतिकूलता अप्रिय, लाभ प्रिय है हानि अप्रिय, स्वतन्त्रता प्रिय है परतन्त्रता अप्रिय, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी जीवन आदि प्रिय है तथा मरण आदि अप्रिय, इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी प्राणी के वध आदि की बात न सोचें। शरीर से किसी को कष्ट पहुँचाना तो पाप है ही, वचन से भी इस प्रकार की प्रवृत्ति करना पाप है। मन, वचन और काय से किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचाने से बचाये रखना ही सच्ची अहिंसा है। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय प्राणी से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन-परम्परा की प्रमुख विशेषता है। इसे अहिंसक आचार का परमोत्कर्ष भी कहा गया है। आचार का यह अहिंसक विकास जैन-संस्कृति की अनमोल निधि है।

अहिंसा अव्यवहार्य नहीं

जैनधर्म में प्रतिपादित अहिंसा के मर्म को न समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे कायरता की जननी समझते हैं तथा कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सिद्धान्ततः इसे श्रेष्ठ समझते हुए भी उसे अव्यवहार्य मानते हैं। उनका यह मानना है कि अहिंसा अच्छी चीज होते हुए भी उसे पाला नहीं जा सकता, इसलिए वह अव्यवहार्य है। यह नासमझी का ही परिणाम है। न तो अहिंसा कायरता है और न ही वह ऐसी है कि उसको पाला ही न जा सके, जिससे उसे अव्यवहार्य कहा जा सके। हिंसा और अहिंसा के स्वरूप पर गहराई से विचार करने पर उक्त आशंका को स्थान ही नहीं मिलता।

किसी जीव को मारना मात्र हिंसा नहीं है। हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध तो हमारे भावों, परिणामों, विचारों से है। इसे हमें व्यापक अर्थों में समझना चाहिए। यूँ तो संसार में सर्वत्र जीव भरे हैं तथा वे प्रति समय अपने-अपने निमित्तों से मरते रहते हैं। इतने मात्र से कोई हिंसक नहीं हो सकता। जैनधर्म के अनुसार हिंसा रूप परिणाम होने पर ही किसी को हिंसक कहा जा सकता है। हिंसा की परिभाषा बताते हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि-

''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।''[1]

''जब कोई प्रमादी बनकर, जान-बूझकर, असावधानी अथवा लापरवाही से किसी भी जीव का घात करता है अथवा कष्ट पहुँचाता है तभी उसे हिंसक कहा जा सकता है।'' आशय यह है कि हिंसा तीन परिस्थितियों में होती है। पहली जान बूझकर-अभिप्रायपूर्वक, दूसरी असावधानी या लापरवाही जन्य तथा तीसरी हिंसा न चाहते हुए भी, पूर्ण सावधानी बरतने पर भी, अचानक/अनायास किसी जीव का वध हो जाने पर। जब कोई स्वार्थ-प्रेरित व्यक्ति कषाय के वशीभूत हो किसी पर वार करता है तो यह हिंसा कषाय प्रेरित हिंसा कहलाती है तथा जब हमारी असावधानी या लापरवाही से किसी का घात होता है अथवा किसी को कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा असावधानीकृत हिंसा कही जाती है, लेकिन पर को कष्ट पहुँचाने की भावना से शून्य पूरी तरह से सावधान व्यक्ति द्वारा यदि अनायास किसी प्राणी का घात हो जाता है तो उक्त परिस्थिति में उसे हिंसक नहीं कहा जा सकता। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

''उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आबाधेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥ 1॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बन्धो सुहुमोवि देसिदो समये।''[2]

''यदि कोई मनुष्य सावधानीपूर्वक जीवों को बचाते हुए देखभाल कर चल रहा है, फिर भी यदि कदाचित् कोई जीव उसके पैरों के नीचे आकर मर भी जाये तो उसे तज्जन्य हिंसा सम्बन्धी सूक्ष्म पाप भी नहीं लगता, क्योंकि उसके मन में हिंसा के भाव नहीं हैं तथा वह सावधान है।''

---

1. त.सू. 7/13
2. सवार्थ सिद्धि 7/13

इसके विपरीत, यदि कोई मनुष्य ''मेरी इस प्रवृत्ति से किसी का घात हो रहा है या नहीं, किसी को कष्ट पहुँच रहा है या नहीं'' इस बात का विचार किये बिना एकदम लापरवाही और असावधानी से चल रहा है तो उसे हिंसानिमित्तक पाप अवश्य लगेगा, भले ही जीव का वध हो या न हो।

''मरदु व जीवदु व जीवा अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मित्तेण समिदस्स॥''[1]

''यदि कोई असावधानीपूर्वक अयत्नाचारी बनकर अपनी प्रवृत्ति कर रहा है तो जीव मरे या न मरे, उसे तज्जन्य पाप से कोई बचा नहीं सकता तथा सावधानी से प्रयत्नपूर्वक चलने वाले मनुष्य द्वारा हिंसा हो जाने पर भी वह पाप का भागीदार नहीं होता।''

अतः यह स्पष्ट है कि जैन-धर्म में मान्य हिंसा और अहिंसा जीवों के वधावध पर निर्भर न होकर जीव के भावों पर आधारित है। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा की उक्त व्याख्या को हम लोक प्रचलित इस उदाहरण से सहज ही समझ सकते हैं।

मान लीजिये - किसी शहर में एक साथ तीन घटनाएँ घट जाती हैं। पहली में एक डाकू एक व्यक्ति को मारकर उसका धन लूट लेता है, दूसरी में एक वाहन दुर्घटना में एक व्यक्ति की जान जाती है और तीसरी में ऑपरेशन टेबल पर एक व्यक्ति का जीवन समाप्त हो जाता है।

तीनों घटनाओं में एक-एक व्यक्ति के निमित्त से एक-एक व्यक्ति का जीवन समाप्त हुआ है। स्थूल दृष्टि से देखने पर तीनों का परिणाम प्रतिफल भी एक ही है, लेकिन तीनों की मानसिकता में बहुत अन्तर है। यही कारण है कि पुलिस भी डाकू, ड्राइवर और डॉक्टर तीनों पर अलग-अलग जुर्म कायम करती है तथा अदालत में भी तीनों को अलग-अलग निर्णय सुनाया जाता है।

पहली घटना में डाकू को हत्या के आरोप में आजीवन कारावास अथवा मृत्युदण्ड भी दिया जाता है। उसके प्रहार से यदि समाने वाला बच भी जाये तो भी हत्या के प्रयास के कारण उसे कड़ी सजा भोगनी पड़ती है, क्योंकि यह हिंसा स्वार्थ से प्रेरित अभिप्रायपूर्वक हुई है।

1. सवार्थ सिद्धि 7/13

ड्राइवर को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, उसे घटना के तथ्यों के अनुरूप या तो आरोग्य वाहन चलाने अथवा असावधानी से वाहन चलाने का दोषी मानकर हल्का दण्ड दिया जाता है। यह असावधानीकृत हिंसा है। यदि ड्राइवर सावधान होता तो उक्त घटना टाली जा सकती थी।

तीसरी ओर डॉक्टर को कोई अपराधी नहीं कहता, अपितु ''डॉक्टर साहब तो अन्तिम क्षणों तक बचाने की कोशिश में लगे रहे'', यह कहकर उनकी सराहना की जाती है। पुलिस और अदालत भी उसका कुछ नहीं करते। रोगी के सम्बन्धी भी यही कहते हैं कि ''डॉक्टर साहब ने तो बहुत प्रयत्न किया, लेकिन क्या करें, हमारा तो भाग्य ही ऐसा था।''

हिंसा और अहिंसा की उक्त धारणा से स्पष्ट है कि हिंसा और अहिंसा हमारे भावों पर ही निर्भर है। द्रव्य हिंसा ही हिंसा नहीं, वस्तुतः भाव हिंसा ही वास्तविक हिंसा है। आशय यह है कि किसी को कष्ट पहुँचाने या घात होने पर भी कोई व्यक्ति तब तक हिंसक नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसका वैसा अभिप्राय नहीं हो अथवा असावधानी न हो। इसके विपरीत यदि किसी का अभिप्राय किसी के घात करने का हो तथा बहुत कोशिश करने पर भी वह उसका कुछ अनिष्ट न कर सका हो तो वह जीव हिंसक ही माना जायेगा। दूसरों का अहित चाहने वाला सबसे पहले अपना अहित करता है। कहा भी हैं-

स्वयमेवात्मात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद् स्याद् न वा वधः॥[1]

इसीलिये जैनधर्म में हिंसा को द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के भेद से दो भागों में विभाजित किया गया है। जब किसी का घात हो जाता है तब वह द्रव्य हिंसा कहलाती है तथा किसी को मारने या सताने के अभिप्राय अथवा असावधानी के भाव को भाव हिंसा कहते हैं। वस्तुतः भाव हिंसा ही हिंसा है। भाव हिंसा से सम्बन्ध होने पर ही द्रव्य हिंसा, हिंसा कहलाती है, किन्तु द्रव्य हिंसा के होने पर भाव हिंसा अनिवार्य नहीं। अतः हमारे भावों के अनुसार ही हिंसा और अहिंसा का समीकरण बनता है।

भावों पर आधारित हिंसा और अहिंसा की उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि पूर्ण

1. सर्वा. सि. पृ. 272

सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले, हिंसा की भावना से रहित मनुष्य के द्वारा यदि किसी जीव का घात हो जाता है तो वह उसके पाप का भागीदार नहीं है। अतः अहिंसा को अव्यवहार्य नहीं कहा जा सकता। हमारा तो यही कर्त्तव्य है कि हम अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी को कष्ट पहुँचाने का कभी भाव न करें, तथा हमारी प्रवृत्ति से जीवों का कम से कम घात हो, इस बात को ध्यान रखकर अपने जीवन का निर्वाह करें। हमारी प्रवृत्ति में जितनी सावधानी होगी हम उतने ही अहिंसक होंगे।

हिंसा के भेद

अहिंसा का व्यावहारिक रूप से पालन हो सके, इसलिए हिंसा के चार भेद किये गये हैं- 1. संकल्पी हिंसा, 2. आरम्भी हिंसा, 3. उद्योगी हिंसा, 4. विरोधी हिंसा।[1]

1. संकल्पी हिंसा - संकल्पपूर्वक किसी जीव का घात करना अथवा उसे कष्ट पहुँचाना संकल्पी हिंसा है। कसाइयों द्वारा प्रतिदिन असंख्य पशुओं को मौत के घाट उतारा जाना इसी संकल्पी हिंसा का परिणाम है। आतंकवादी, जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक दंगों एवं अपने मनोरंजन अथवा माँसाहार के लिए शिकार आदि करना या कराना इसी संकल्पी हिंसा की पर्याय है। इसके अतिरिक्त, धर्म के नाम पर की जाने वाली पशुओं की बलि भी इसी संकल्पी हिंसा की कोटि में आती है।

2. आरम्भी हिंसा - घरेलू काम-काजों में दैनिक कार्यों के निमित्त से जो हिंसा होती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है। इसके अन्तर्गत भोजन बनाना, झाड़ना-बुहारना, नहाना-धोना आदि क्रियाएँ आती हैं।

3. औद्योगिक हिंसा - गृहस्थ को अपने जीवन निर्वाह के लिए अर्थोपार्जन अनिवार्य है। उसके लिए खेतीबाड़ी, नौकरी, व्यवसाय अथवा उद्योग आदि करना पड़ते हैं। इनमें होने वाली हिंसा, औद्योगिक हिंसा कहलाती है।

4. विरोधी हिंसा - अपने तथा अपने कुटुम्बियों के जान-माल की रक्षा के लिए अथवा धर्म, धर्मातयन, तीर्थ, मन्दिर एवं सन्तों पर आने वाली बाधाओं के निराकरण के लिए तथा अपने राष्ट्र की अस्तित्व की रक्षा करेन के लिए,

1. जै.सि.को. 4/532

आततताइयों अथवा आक्रमणकारियों से मुकाबला करते हुए जो हिंसा करनी पड़ती है; वह विरोधी हिंसा है।

साधक गृहस्थ को चारों प्रकार की हिंसा का त्याग कर पाना सम्भव नहीं है। उसको अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आरम्भी व उद्योगी हिंसा करनी ही पड़ती है। अतः उक्त दोनों प्रकार की हिंसा उसके लिए अपरिहार्य है। इतना होने पर भी वह यद्वा-तद्वा कोई भी कार्य नहीं करता है। वह अपनी प्रत्येक क्रियाओं में पूर्ण सावधानी रखता हुआ यत्नाचारी प्रवृत्ति करता है। अपने व्यवसाय में भी वह इसका ध्यान रखता है। उस प्रकार के व्यवसाय को वह भूलकर भी नहीं अपनाता जिसमें जीवों की अधिक हिंसा होती हो, साथ ही बहुजीव-वधकारी उद्योग भी वह नहीं खोलता है।

इसी तरह विरोधी हिंसा से भी वह नहीं बच पाता। यद्यपि वह स्वयं किसी से भी अकारण बैर/विरोध नहीं लेता, किन्तु यदि कोई उस पर आक्रमण करे तो वह उससे बचने के लिए डटकर मुकाबला करता है। आक्रमणकारी आततायी, अत्याचारी का सामना कर उसे सबक सिखाना ही गृहस्थ की विरोधी हिंसा का अभिप्रेत अर्थ है। वह उसके लिए क्षम्य है। उसके बिना समाज में अराजकता बढ़ जायेगी। यदि कोई देश पर आक्रमण कर हमारे अस्तित्व को चुनौती देता है तो इस भावना से कि इससे व्यर्थ में खून बहेगा, डरकर मुँह छुपाना अहिंसा नहीं कायरता है। अहिंसा कायरता नहीं, वह तो वीरों का भूषण है, क्षत्रियों का धर्म है।

जैनधर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय वंशी थे। उन्होंने राष्ट्र की रक्षा एवं स्वेच्छाचारी राजाओं के कुशासन को कुचलने के लिए अपने जीवन में अनेक बार दिग्विजय यात्राएँ करके समस्त राष्ट्र को एकसूत्र में बाँधा था। मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त, मेघवाहन, सम्राट् खारवेल एवं वीर सेनापति चामुण्डराय जैसे अनेक जैन वीर योद्धा हुए, जिन्होंने अपने रण-कौशल से राष्ट्र की रक्षा कर भारतीय इतिहास को गौरवान्वित किया है। वस्तुतः जैन-धर्म उन क्षत्रियों का धर्म था, जो युद्ध-स्थल में दुश्मन का तलवार से सत्कार/सामना करना जानते थे और क्षमा करना भी जानते थे। जैन-धर्म के अनुसार अपने अस्तित्व और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अस्त्र उठाना अपराध नहीं, धर्म है। उनकी लड़ाई न्याय के लिए न्यायपूर्वक होती थी। जैन राजनीति के व्याख्याता आचार्य सोमदेव सूरि ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''रणाङ्गण में अस्त्र-शास्त्रों से सुसज्जित शत्रु तथा देशद्रोही व्यक्ति पर ही

राजागण अपने शस्त्र का प्रहार करते हैं न कि कमजोर, निहत्थे, कायरों और सदाशयी निरपराध पुरुषों पर।''

य: शस्त्र-सहितो समरे रिपुः स्यात्
य: कण्टको वा निजमण्डलस्य॥
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति।
न दीनकानीन- शुभाशयेषु॥[1]

अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर रणाङ्गण में जो शत्रु बनकर आया हो या अपने देश का दुश्मन बनकर आया हो, राजागण उसी पर अपने अस्त्र का प्रहार करते हैं। जैन राजनीति का यही आधार है। इस न्यायपूर्ण युद्ध में भी इसकी अहिंसा खण्डित नहीं होती।

हिंसक भी शत्रु से युद्ध करता है और अहिंसक भी, दोनों के द्वारा युद्ध में भीषण नरसंहार होता है। फिर भी हिंसक निर्दयी और अहिंसक दयालु ही बना रहता है, क्योंकि वह अपने इस कृत्य पर प्रसन्न नहीं होता। वह सिर्फ हिंसा के लिए हिंसा का रास्ता नहीं अपनाता, अपितु परिस्थितियों के कारण उसे हिंसा करनी पड़ती है। हिंसक और अहिंसक की मानसिकता में महान् अन्तर होता है। हिंसक के अन्दर है आक्रमण, अहिंसक के अन्दर है केवल रक्षा, हिंसक के हृदय में रहता है द्वेष और अहिंसक के हृदय में रहती है क्षमा। हिंसक को अपने द्वारा किये गये नरसंहार को देखकर हर्ष होता है तो अहिंसक को होता है पश्चात्ताप। अपनी इसी मनःस्थिति के कारण गृहस्थ अपनी छोटी-मोटी अपरिहार्य हिंसाओं के होने पर भी अहिंसक बना रहता है। वस्तुतः वह हिंसक नहीं है। हिंसा वह करना नहीं चाहता, उसे करनी पड़ती है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा कायरता नहीं है। जीवन से पलायन भी अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। अहिंसा तो व्यावहारिक जीवन को सन्तुलित बनाकर स्व और पर के घात से बचने का उपाय है। अहिंसा कायरता नहीं, अपितु मानव में मानवता को प्रतिष्ठित करने का अनुष्ठान है।

पाँच व्रत

जैनाचार में अहिंसा के अनुपालनार्थ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

1. यशस्तिलक चम्पू, पृ. 96

व्रत रूप पञ्चसूत्रीय आचार की प्ररूपणा की गयी है। उक्त पाँचों व्रतों का मुख्य उद्देश्य अहिंसा का अनुपालन ही हैं। जैसे खेत की फसल की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर बाड़ लगाई जाती है, वैसे ही सत्य आदि अहिंसा की रक्षा के लिए लगाये जाने वाले बाड़ की तरह है। आत्मविकास में बाधक कर्मों को रोकने तथा उन्हें नष्ट करने के लिए अहिंसा एवं तदाधारित सत्य आदि व्रतों का परिपालन अनिवार्य है। इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित निहित है। वैयक्तिक उत्थान एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिए असत्य का त्याग, अनधिकृत वस्तु के ग्रहण से परहेज तथा संयम का परिपालन अनिवार्य है। इनके अभाव में अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। परिणामतः आत्मविकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है। इन सबके साथ अपरिग्रह का व्रत भी आवश्यक है। परिग्रह आत्मविकास का प्रबल शत्रु है। जहाँ परिग्रह होता है वहाँ आत्मविकास के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, परिग्रह आत्मा के अधःपतन का बहुत बड़ा कारण बनता है। परिग्रह का अर्थ ही है पाप का संग्रह। यह आसक्ति से बढ़ता है तथा आसक्ति को बढ़ाता है। इसी का नाम मूर्च्छा है। ज्यों-ज्यों परिग्रह अधिक बढ़ता है, त्यों-त्यों आसक्ति बढ़ती जाती है। जितनी अधिक आसक्ति बढ़ती है, उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ती है। यही हिंसा मानव-समाज में वैषम्य उत्पन्न करती है। इसी से मनुष्य का आत्मपतन भी होता है। अपरिग्रह-वृत्ति अहिंसामूलक सम्यक् आचार के परिपालन के लिए अनिवार्य है।

मुख्य रूप से समाज में बैर-विरोध बढ़ने वाली वृत्तियों के नियन्त्रण के लिए ही उक्त व्रतों की व्यवस्था दी गयी हैं। हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, कुशील मत करो तथा परिग्रह का सञ्चय मत करो। इन निषेधात्मक नियमों से ही मनुष्य के आचरण का परिष्कर सरलतम रीति से किया जा सकता है। हिंसादिक पाँच पाप सामाजिक पाप हैं। मनुष्य की इन्हीं प्रवृत्तियों से आज मानव-समाज प्रदूषित हो रहा है। जो व्यक्ति जितने अंशों में इनका परित्याग करता है, वह उतना ही सभ्य और समाज-हितैषी माना जाता है। जितने अधिक व्यक्ति इसका पालन करेंगे, समाज उतना ही अधिक समृद्ध, सुखी और प्रगतिशील बनेगा।

जैन-शास्त्रों में उक्त व्रतों पर बहुत जोर दिया गया है। जैन साधना का मूलाधार उक्त व्रत ही हैं। इस पर ही जैन साधना का भवन टिका है। इसके अभाव में साधना की शुरुआत ही नहीं हो सकती।

उक्त पाँच व्रतों के परिपालन के लिए व्रतों के दो स्तर स्थपित किये गये हैं। प्रथम है साधु मार्ग और द्वितीय श्रावक मार्ग या गृहस्थ मार्ग। इन्हें क्रमशः साधु धर्म और श्रावक धर्म भी कहते हैं। साधु मार्ग निवृत्तिमूलक है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूपी पाँचों पापों के परिपूर्ण त्याग से यह प्रारम्भ होता है। साधना का राजमार्ग यही है, क्योंकि उक्त पाँचों पाप ही हमारे आत्मविकास के सबसे बड़े अवरोधक हैं। इनसे विमुख हुए बिना आध्यात्मिक आनन्द आ ही नहीं सकता। श्रावक-मार्ग या गृहस्थ-मार्ग का निर्वाह उक्त पापों के आंशिक त्याग से होता है। इसका पालन समाज में रहने वाले मनुष्य अपनी क्षमता के अनुरूप करते हैं। गृहस्थ-मार्ग त्याग और भोग के बीच सन्तुलित जीवन जीने की पद्धति है। साधु जीवन में जहाँ आध्यात्मिक जीवन का चरमोत्कर्ष है, तो श्रावक जीवन भी नैतिक और आध्यात्मिक जीवन मूल्यों के क्रमिक विकास के साथ-साथ मानवीय गुणों का संचार करता है। साधु धर्म व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बनाकर पूर्ण निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है और श्रावक धर्म मानव मात्र में नैतिक और धार्मिक गुणों का आरोपण कर एक श्रेष्ठ इंसान बनाता है। इस तरह हम साधु धर्म को व्यक्ति धर्म तथा श्रावक धर्म को समाज धर्म भी कह सकते हैं। समस्त जैनाचार, श्रावकाचार या गृहस्थाचार तथा श्रमणाचार या साध्वाचार के रूप में विभाजित है। अगले अध्यायों में क्रमशः इनके स्वरूप पर पूर्ण विचार करेंगे।

श्रावकाचार

- श्रावक का अर्थ
- श्रावक के भेद
- पाक्षिक श्रावक
- अष्ट मूल-गुण
- नैष्ठिक श्रावक
- ग्यारह प्रतिमाएँ
- साधक श्रावक

श्रावकाचार

श्रावक का अर्थ

श्रावकाचार का तात्पर्य है-गृहस्थ का धर्म। श्रावक शब्द का सामान्य अर्थ है- सुनने वाला। 'जो गुरुओं के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनता है, वह श्रावक है। श्रावक शब्द तीन अक्षरों के योग से बना है- श्र, व और क इसमें 'श्र' श्रद्धा का, 'व' विवेक का तथा 'क' कर्त्तव्य का प्रतीक है। इस प्रकार श्रावक का अर्थ करते हुए कहा गया है कि जो श्रद्धालु और विवेकी होने के साथ-साथ कर्त्तव्यनिष्ठ हो, वह श्रावक है। श्रावक के अर्थ में उपासक, सागार, देश-विरत, अणुव्रती आदि अनेक शब्द आते हैं। गुरुओं की उपासना करने वाला होने से उसे उपासक आगार/घर सहित होने से सागार, गृही या गृहस्थ तथा अणुव्रतधारी होने से अणुव्रती, देशव्रती या देशसंयत कहा जाता है।

श्रावक के भेद - व्रतों के परिपालन क्रमानुसार श्रावक के तीन भेद किये गये हैं- पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।[1]

पाक्षिक श्रावक

पाक्षिक का अर्थ है जो जिनेन्द्र भगवान् के पक्ष को ग्रहण कर चुका है। पाक्षिक श्रावक की श्रेणी में वे सभी श्रावक आ जाते हैं जो जिनेन्द्र भगवान् के पक्ष को ग्रहण करते हैं तथा जैन कुल क्रमानुसार अपना आचरण रखते हैं। यह गृहस्थ की प्राथमिक भूमिका है। इस भूमिका वाले श्रावक में सभी आवश्यक नैतिक गुण आ जाते हैं।[2]

जैन-आचार शास्त्रानुसार एक आदर्श गृहस्थ वही है, जो न्यायपूर्वक आजीविका

1. सा. ध. 1/20
2. जै.सि.को. 4/46

उपार्जन करता है। गुणी पुरुषों एवं गुणों का सम्मान करता है। हितकारी और सत्य वाणी बोलता है। धर्म, अर्थ और काम रूप तीन पुरुषार्थों का परस्पर अविरोध सेवन करता है। इन पुरुषार्थों के योग्य स्त्री भवन आदि को धारण करता है। लज्जाशील होता है, अनुकूल आहार-विहार करने वाला होता है। सदाचार को अपने जीवन की निधि मानने वाले सत्पुरुषों की सेवा में सदा तत्पर रहता है। हिताहित विचार में दक्ष, जितेन्द्रिय और कृतज्ञ होता है। धर्म की विधि को सदा सुनता है, उसका मन दया से द्रवीभूत रहता है तथा पाप-भीरु होता है। उक्त चौदह विशेषताओं से भूषित व्यक्ति ही एक आदर्श गृहस्थ की श्रेणी में समाविष्ट होता है।[1]

अष्ट मूलगुण

देव, गुरु और धर्म के प्रति समर्पित पाक्षिक श्रावक गृहस्थ को मद्य, माँस, मधु, रात्रि-भोजन, पीपल, ऊमर, बड़, कठूमर/अञ्जीर, पाकर सदृश पञ्च उदुम्बर फलों का त्याग, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक पञ्च परमेष्ठियों की स्तुति, जीव दया तथा पानी को वस्त्र द्वारा अच्छी तरह छानकर पीना यह आठ मूल गुण हैं।[2] ये जैनों के मूल चिह्न हैं। जिस प्रकार मूल/जड़ के शुद्ध और पुष्ट होने पर वृक्ष भी सबल और सरस होता है, उसी प्रकार मूलभूत उपर्युक्त नियमों से जीवन के पवित्र होने पर साधक मुक्ति-पथ पर प्रगतिशील हो जाता है।

उपर्युक्त आठों बातें अहिंसा की दृष्टि से कही गयी हैं, अर्थात् एक जैन श्रावक को इतने नियमों का पालन तो अवश्य ही करना चाहिए। इसके बिना वह नाम का जैनी भी नहीं कहला सकता। जैन होने के ये मूल चिह्न हैं। मद्य, माँस एवं मधु तो स्पष्ट हिंसा के कारण होने से त्याज्य ही हैं, क्योंकि इनके सेवन में संकल्पी हिंसा है तथा इस प्रकार का आहार मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध भी है। कुछ लोग तथाकथित अहिंसक शहद को जो मधुमक्खियों के उड़ने/उड़ाने के बाद निकाली जाती है खाने की सलाह देते हैं। उनकी यह दलील है कि उसमें मधुमक्खियों का

---

1. न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज- न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी-स्थानालयो ह्रीमयः।
   युक्ताहार-विहार-आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी, श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥ 1 ॥
   - सागार धर्मामृत- पण्डित आशाधरः

2. मद्य पल मधु निशाशन पञ्चफलीविरति पञ्चकाप्तनुति।
   जीव-दया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूल गुणाः ॥ **सा.ध. 2। 18**

घात नहीं होता, अतः उसके खाने में कोई दोष नहीं है, लेकिन उनकी उक्त मान्यता ठीक नहीं है। शहद का सेवन किसी भी अर्थ में निर्दोष नहीं है, क्योंकि शहद तो मधुमक्खियों की उगाल-थूक है। किसी भी प्राणी के उच्छिष्ट पदार्थ का सेवन शिष्टजन नहीं करते तथा उस शहद में अन्य भी छोटे-छोटे त्रस जीव पाये जाते हैं। अतः एक गृहस्थ के लिए तो यह त्याज्य ही है। बड़, पीपल, पाकर, ऊमर (गूलर), कठूमर (अंजीर) इन पाँचों फलों से दूध निकलने के कारण ये क्षीर फल भी कहलाते हैं। इनके अन्दर बहुसंख्या में त्रस जीव पाये जाते हैं। अतः इनका भी त्याग करना चाहिए।

जल गालन

जल में अनेक त्रस जीव पाये जाते हैं। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि दिखाई नहीं पड़ते। आधुनिक वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों की सहायता से देखकर एक बूँद जल में 36450 जलचर जीव बताये हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार उक्त जीवों की संख्या काफी अधिक है। ऐसा कहा जाता है कि एक जल-बिन्दु में इतने जीव पाये जाते हैं कि वे यदि कबूतर की तरह उड़ें तो पूरे जम्बूद्वीप को व्याप्त कर लें।[1] उक्त जीवों के बचाव के लिए पानी को वस्त्र से छानकर पीना चाहिए। मनुस्मृति में भी ''दृष्टिपूतम् न्यसेत् पादम् वस्त्रपूतम् पिबेत् जलम्[2]'' कहकर जल छानकर पीने का परामर्श दिया गया है। अनछना पानी पीने से हिंसा की सम्भावना तो रहती ही है, अनेक प्रकार के रोगों का शिकार भी होना पड़ता है। आजकल तो चिकित्सक भी छना जल पीने की ही सलाह देते हैं। वस्त्र द्वारा पानी छानने का प्रमुख उद्देश्य करुणा है, उसके साथ-साथ अनेक रोगों से भी बचाव हो जाता है। अभी कुछ दिन पहले भारत के राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने एक धर्मसभा को सम्बोधित करते हुए इन्दौर की एक घटना सुनाकर पानी छानकर पीने का महत्त्व बताते हुए कहा था कि ''कुछ दिन पूर्व इन्दौर के एक मुहल्ले में एक विशेष प्रकार का रोग फैला, जिसमें पूरा-का-पूरा परिवार बिस्तर पकड़ लेता था। एक सीमित क्षेत्र में ही रोग के प्रभावी होने से चिकित्सक चिन्तित थे। उस समय यह भी देखा गया कि उस मोहल्ले के जैन परिवार में इस रोग का लक्षण नहीं दिखा। डॉक्टर इससे

1. (अ) एक विन्दूद्भवा जीवाः परावत समा यदि।
भुत्वा चरन्ति चेज्जम्बुद्वीपोऽपि पूर्यते यतः ॥ व्रत विधान संग्रह-31
(ब) एगम्मि उदग विंदुमि जे जीवा जिणवरेहिं पण्णत्ता।
ते तई सरसिमित्ता जम्बूदीवे ण मायंति ॥ प्रवचनसारोद्धार

2. मनुस्मृति 6/46

चकित थे। बाद में खोज करने पर मालूम हआ कि वॉटर टैंक जिससे कि पूरे मोहल्ले में पानी वितरित होता था, कई दिनों से उसमें एक चिड़िया मरी पड़ी थी। उसके पूरे शरीर में कीड़े पड़े थे। इसी कारण पूरा पानी विकृत हो गया था, वह विषाक्त पानी ही रोगों का कारण बना था।'' जैन परिवारों मे इस रोग का प्रभाव न होने का कारण छने जल का उपयोग ही था।

आजकल जो नल का पानी आता है कई बार उसमें नाली का पानी भी आ जाता है। कभी-कभी नल के पानी में केंचुएँ भी देखे गये हैं, ऐसी घटनाएँ आये दिन समाचार-पत्रों में छपती रहती हैं। अतः पानी को छानकर ही पीना चाहिए।

पानी छानने को विधि

जिससे सूर्य का बिम्ब न दिख सके, ऐसे अत्यन्त गाढ़े वस्त्र को दोहरा करके जल छानना चाहिए। छन्ने की लम्बाई उसकी चौड़ाई से डेढ़ गुनी होनी चाहिए।[1] ऐसा करने से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है तथा त्रस जीव उस वस्त्र में ही रह जाते हैं, जिससे छना हुआ जल त्रस जीवरहित हो जाता है। त्रस जीवों का रक्षण होने से माँस-भक्षण के दोषों से बचा जाता है। जल छानने के बाद छन्ने में बचे जल को एक-दूसरे पात्र में रखकर उसके ऊपर छने जल की धार छोड़नी चाहिए उसके बाद उसे मूल स्रोत में पहुँचा देना चाहिए। इसके लिए कड़ीदार बाल्टी रखी जाती है, जिसे जल की सतह पर ले जाकर उड़ेला जाता है, ऐसा करने से उनको धक्का नहीं लगता तथा करुणा भी पूरी तरह पलती है। उक्त क्रिया को जीवाणी कहते हैं।[2] छना हुआ जल एक मुहूर्त्त तक, सामान्य गर्म जल छः घण्टे तक तथा पूर्णतः उबला जल चौबीस घण्टे तक उपयोग करना चाहिए।[3] इसके बाद उसमें त्रस जीवों की पुनरुत्पत्ति की सम्भावना रहने से उनकी हिंसा का डर रहता है।*

---

1. वस्त्रेणातिसूपीनने गालितं तत्पिबेज्जलम्
   अहिंसा व्रत रक्षार्थं माँसदोषापनोदने।
   अम्बुगालितशेषं तन्निक्षेपत् क्वचिदन्यतः,
   तथा कूप-जलं नद्यां तज्जलंकूप वारिणि॥ ध. सं. श्रावकाचार अ. 6
2. मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहर द्वंयम्।
   उष्णोदक महोरात्रं ततः समूर्च्छिनः भवेत् ॥ व्रत विधान संग्रह, पृ. 31॥
3. जैनेतर ग्रन्थों में भी जल छीनकर पीने का प्रावधान किया गया है लिंग-पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि एक मछली मारने वाला वर्ष भर में जितना पाप अर्जित करता है, उतना पाप बिना छने जल का उपयोग करने वाला एक दिन में कर लेता है।
   संवत्सरेण यत्पाप कुरुते मत्स्यवेधकः।
   एकाहेन तदाप्नोति अपूत-जल-संग्रही॥ (लिंग पुराण 202)

रात्रि भोजन का त्याग

रात्रि-भोजन का भी प्रत्येक गृहस्थ को त्याग करना चाहिए। रात्रि में भोजन करने से त्रस हिंसा का दोष लगता है। भले ही बल्ब आदि के प्रकाश में आप अपने भोजन को देखते हैं, किन्तु उसमें पड़ने वाले जीवों को नहीं बचा सकते। कुछ कीट-पतंग तो उनके प्रकाश में ही आते हैं, और भोज्य-सामग्री पर गिरते रहते हैं। अतः रात्रि में भोजन करने से त्रस हिंसा से बचा नहीं जा सकता। दिन में सूर्य-प्रकाश होने के कारण उनका सद्भाव नहीं पाया जाता। इसका कारण सूर्य-प्रकाश में पायी जाने वाली अल्ट्रावायलेट (Ultravoilet) और इन्फ्रारेड (Infrared) नाम की अदृश्य किरणें हैं। सूर्य के प्रकाश में उक्त दोनों नाम वाली, अदृश्य और गर्म किरणें निकलती रहती हैं। उसके प्रभाव से सूक्ष्म जीव दिन में यहाँ कहीं छिप जाते हैं तथा नये जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। रात्रि होते ही वे निकलने लगते हैं। सूर्य-प्रकाश के अतिरिक्त प्रकाश के किसी अन्य स्रोत में उक्त किरणें नहीं पायी जातीं। इसलिए रात्रि होते ही ये निकलने लगते हैं यही कारण है कि बरसात की ऋतु में दिन में बल्ब जलाने पर भी कीड़े नहीं आते अतः त्रस हिंसा से बचने के लिए रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है।*

उत्तर मीमांसा में तो जल छानने की विधि भी जैन-परम्परा के अनुरूप बतायी है,

त्रिंशदंगुलप्रमाणं विंशत्यंगुलमायतं। तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य गालयेच्चोदकं पिबेत्।

तस्मिन् वस्त्रे स्थिता जीवा स्थापयेज्जलमध्यतः।

एवं कृत्वा पिवेत्तोयं स याति परमां गतिम्॥ (उत्तर-मीमांसा 203)

अर्थात् तीस अंगुल लंबे और बीस अंगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करके उससे छानकर जल पियें तथा उस वस्त्र में जो जीव हैं उनको उसी जलाशय में (जहाँ से वह जल आया है, वही पर) स्थापित कर देना चाहिए। इस प्रकार से जो मनुष्य जल पीता है वह उत्तम गति को प्राप्त करता है।

संयम प्रकाश उत्तरार्द्ध 1/102 पर उद्धृत

* रात्रि-भोजन-त्याग के महत्त्व को अन्य धर्मों और सम्प्रदायों में भी बताया गया है। महाभारत में नरक के चार द्वारों में रात्रि-भोजन को प्रथम द्वार बातते हुए युधिष्ठिर से रात्रि में जल भी न पीने की बात कहते हुए कहा गया है-

नरकद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रि-भोजनं। परस्त्रीगमनं चैव सन्धानानन्त कायिके॥

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः। तेषां पक्षोपवासय फलं मासेन जायते॥

नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर! तपस्विनां विशषेण गृहिणां च विवेकिना॥

(महाभारत)

अर्थात् रात्रि भोजन करना, परस्त्री गमन करना, मुरब्बा आदि का सेवन करना तथा कन्दमूल आदि अनन्तकाय पदार्थ खाना ये चार नरक के द्वार हैं। उनमें पहला रात्रि भोजन करना है। जो रात्रि में सब प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं उन्हें एक माह में एक पक्ष के उपवास का फल मिलता है। हे युधिष्ठिर! रात्रि में तो जल भी नहीं पीना चाहिए, विशेषकर तपस्वियों एवं ज्ञान-सम्पन्न गृहस्थों को तो रात्रि में जल भी नहीं पीना चाहिए।

अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते। अन्नं माँस-समं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा।

सूर्य के अस्त हो जाने पर मार्कण्डेय महर्षि ने जल को खून तथा अन्न भक्षण को माँस के समान कहा है। अतः रात्रि को भोजन त्याग करना चाहिए।

रात्रि भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकर है। चिकित्सा शास्त्रियों का अभिमत है कि कम से कम सोने के तीन घण्टे पूर्व तक भोजन कर लेना चाहिए।

जो लोग रात्रि भोजन करते हैं वे भोजन के तुरन्त बाद सो जाते हैं जिससे अनेक रोगों का जन्म होता है। दूसरी बात यह कि सूर्य-प्रकाश में केवल प्रकाश ही नहीं होता, अपितु जीवनदायिनी शक्ति भी होती है। सूर्य प्रकाश से हमारे पाचन-तन्त्र का गहरा सम्बन्ध है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पाकर कमलदल खिल जाते हैं तथा उसके अस्त होते ही सिकुड़ जाते हैं, उसी प्रकार जब तक सूर्य प्रकाश रहता है तब तक उसमें रहने वाली गर्म किरणों के प्रभाव से हमारा पाचन-तन्त्र ठीक काम करता है। उसके अस्त होते ही उसकी गतिविधि मन्द पड़ जाती है, जिससे अनेक रोगों की सम्भावना बढ़ जाती है। अतः रात्रि में भोजन का त्याग करना ही चाहिए। पाक्षिक श्रावक यदि रात्रि भोजन का पूरी तरह से त्याग नहीं कर पाता तो कम से कम पान, दवा, जल, दूध आदि की छूट रखकर अन्य स्थूल आहार का त्याग तो करना ही चाहिए।[1] इसी तरह पाक्षिक श्रावक को पञ्च परमेष्ठि की पूजा/स्तुति एवं प्राणियों पर जीव-दया का भाव भी रखना चाहिए।

नैष्ठिक श्रावक

व्रतधारी श्रावक नैष्ठिक कहलाते हैं।[2] ''नैष्ठिक'' शब्द निष्ठा से निष्पन्न है। व्रतों का पूरी निष्ठा से पालन करने वाला श्रावक नैष्ठिक है। पाक्षिक श्रावक अपने व्रतों को कुलाचार के रूप में पालन करता है, उसमें कदाचित् अतिचार भी लग सकते हैं, किन्तु नैष्ठिक श्रावक निरतिचार रूप से व्रतों का पलान करते हैं।[3]

नैष्ठिक श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं। यहाँ प्रतिमा का अर्थ श्रावकाचार की क्रमोन्नत श्रेणियों से है। साधक अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ निचली दशा से क्रमपूर्वक उठता चला जाता है, वे हैं दर्शन, व्रत, सामयिक, प्रोषधोपवास, सचित्त-विरत, दिवा-मैथुन-त्याग, पूर्ण ब्रह्मचर्य, आरम्भ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति-त्याग तथा उद्दिष्ठ-त्याग।[4]

---

1. (अ) सागार धर्मामृत - 2/76 (ब) लाटी संहिता 2/92
2. जै. सि. को. 3/46
3. दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदत्सुकः।
   स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ॥ **सा. ध. 3/4**
4. का. अनु. 305-6

वैराग्य की प्रकर्षता के अनुसार इन्हें इस क्रम में रखा गया है कि धीरे-धीरे क्रमशः इन पर कोई भी आरूढ़ हो, जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। ये ग्यारह श्रेणियाँ उत्तरोत्तर विकास को लिये हैं। साधक पूर्व-पूर्व की भूमिकाओं से उत्तरोत्तर भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है। जैसे ग्यारहवीं कक्षा में प्रवेश करने वाले में दसवीं कक्षा की योग्यता होनी चाहिए, वैसे ही उत्तर-उत्तर की प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व के गुण समाविष्ट रहते हैं।[1]

ग्यारह प्रतिमाएँ

1. दर्शन प्रतिमा - पूर्वकथित पाक्षिक श्रावक की समस्त क्रियाओं का पालन करने वाला व्यक्ति दार्शनिक श्रावक कहलाता है। वह श्रावक के आठों मूल गुणों का निरतिचार रूप से पालन करता हुआ आगे के व्रतों के पालन करने में उत्सुक रहता है। अब वह संसार, शरीर और भोगों के प्रति विरक्त चित्त रहता हुआ पञ्च परमेष्ठ के चरणों में पूरी तरह समर्पित रहता है।[2] भोगों के प्रति उदासीनता आ जाने के कारण वह अचार-मुरब्बा आदि पदार्थ तथा जिसमें फुई/फफूँद लगी हो, जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड़ गया हो ऐसी वस्तु भी नहीं खाता। वह मद्य, माँस, मधु आदि का सेवन तो करता ही नहीं, इस प्रकार के निन्द्य व्यवसाय का भी त्याग कर नीति और न्यायपूर्वक ही अपने परिवार का भरण-पोषण करता है।[2]

2. व्रत-प्रतिमा - यह श्रावक की दूसरी श्रेणी है। इस श्रेणी वाले श्रावक पूर्वोक्त मूल गुणों के साथ पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करते हैं। तथा पञ्चाणुव्रतों के साथ-साथ तीन गुणव्रत और चार ''शिक्षाव्रत'' पाले जाते हैं। इस प्रकार व्रती श्रावक 5 + 3 + 4 कुल बारह व्रतों का निःशल्य होकर निरतिचार पालन करता है।[3]

अहिंसा अणुव्रत

अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राग-द्वेषपूर्वक किसी जीव को मन, वचन, काय से पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इस हिंसा के स्थूल त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं।[4] जैन-दर्शन में त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के जीव बतलाये गये हैं, ''वनस्पति आदि स्थावरों एवं त्रसों की पूर्व कथित चतुर्विध हिंसा में से आरम्भी,

---

1. र. क. श्रा. 136
2. र. क. श्रा. 137
3. का. अनु. 328
4. र. क. श्रा. 53

उद्योगी और विरोधी हिंसा तो गृहस्थ के लिए अपरिहार्य है।'' वह सिर्फ संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, अर्थात् वह संकल्पपूर्वक मन, वचन और काय से किसी भी त्रस प्राणी का घात अपने मनोरञ्जन एवं स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं करता है तथा शेष तीन प्रकार की हिंसा को अपने विवेकपूर्वक कम करता है।

अतिचार

सावधानीपूर्वक व्रतों का पालन करते रहने पर भी अज्ञान अथवा प्रमादवश कुछ ऐसी भूलें हो जाती हैं जो व्रतों को मलिन कर देती हैं। इस प्रकार की भूलों को अतिचार कहते हैं। अतिचार से आशय उन प्रवृत्तियों से है, जो व्रतों को दूषित करती हैं। साधक को इस प्रकार के अतिचारों से बचना चाहिए।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं- छेदन, बन्धन, पीड़न, अतिभारारोपण, आहार-वारणा या अन्नपान-निरोध।[1]

छेदन - दुर्भावनापूर्वक पालतू पशु-पक्षियों के नाक-कान आदि छेदना, नकेल लगाना, नाथ देना आदि 'छेदन' है।

बन्धन - पालतू पशु-पक्षियों को इस तरह बाँधना कि वे हिल-डुल भी न सकें तथा विपत्ति के समय प्राण की रक्षा के लिए भाग भी न सकें 'बन्धन' कहलाता है।

पीड़न - डण्डा, बेंत, चाबुक आदि से घात करना, अपने पालतू पशुओं तथा परिजनों को पीड़ा पहुँचाना तथ कठोर एवं आपमानजनक शब्दों का प्रयोग कर किसी को पीड़ा पहुँचाना 'पीड़न' नाम का अतिचार है।

अतिभारारोपण - क्षमता से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। दुर्भावनावश अपने आश्रित कर्मियों एवं पशुओं पर उनकी क्षमता से अधिक भार लादना, उनसे अधिक काम लेना आदि सब 'अतिभारारोपण' की पर्याय है।

आहार-वारणा/अन्नपान-निरोध - दुर्भावनावश अपने आश्रितों के अन्नपान का निरोध करना, उन्हें जानबूझकर भूखा रखना, समय पर उनके लिए भोजन-पानी की व्यवस्था न करना आहार-वारणा है इसे अन्नपान-निरोध भी कहते हैं।

---

1. र. क. श्रा. 54

सत्य अणुव्रत

अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की उपासना अनिवार्य है। झूठा व्यक्ति सही अर्थों में अहिंसक आचरण कर ही नहीं सकता तथा सच्चा अहिंसक कभी असत्य आचरण नहीं कर सकता। सत्य और अहिंसा में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक के अभाव में दूसरे का पालन हो ही नहीं सकता। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

गृहस्थ के लिए झूठ का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है। इसलिए उसे स्थूल झूठ का ही त्याग कराया जाता है।[1] जिस झूठ से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, प्रामाणिकता खण्डित होती हो, लोगों में अविश्वास उत्पन्न होता हो तथा राजदण्ड का भागी बनना पड़े, इस प्रकार के झूठ को स्थूल झूठ कहते हैं। सत्याणुव्रती श्रावक इस प्रकार के स्थूल झूठ का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करता है, साथ ही वह कभी ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जिससे किसी पर आपत्ति आती हो। वह अपनी अहिंसक भावना की सुरक्षा के लिए हित-मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करता है।

अतिचार

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं- परिवाद, रहोभ्याख्यान, कूटलेख-क्रिया, न्यासापहार और पैशून्य।[2]

1. किसी की निन्दा करना अथवा किसी के साथ गाली-गलौच करना परिवाद कहलाता है।

2. दूसरों के गुप्त रहस्यों को उजागर कर देना रहोभ्याख्यान है

3. झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे लेख लिखना, झूठी गवाही देना, किसी के जाली हस्ताक्षर बनाना अथवा झूठा अँगूठा लगाना, किसी पर झूठे आरोप लगाना यह सब कूटलेख क्रिया है।

4. पैशून्य का अर्थ है चुगली करना।

5. दूसरों की धरोहर को हड़प लेना न्यासापहार है। भवन-भूमि आदि का अवैध कब्जा भी इसी के अन्तर्गत आता है।

---

1. र. क. श्रा. 55
2. र. क. श्रा. 56

अचौर्य अणुव्रत

चोरी हिंसा का एक रूप है। अहिंसा के सम्यक् परिपालन के लिए चोरी का त्याग भी आवश्यक है। जब किसी की कोई चीज चोरी हो जाती है अथवा वह किसी प्रकार से ठगा जाता है तो उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है। उस मानसिक पीड़ा के परिणामस्वरूप कभी-कभी हृदयाघात (हार्ट अटेक) भी हो जाता है। अतः चोरी करने से अहिंसा नहीं पल सकती तथा चोरी करने वाला सत्य का पालन नहीं कर सकता, क्योंकि सत्य और चोरी दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते ।

जिस पर अपना स्वामित्व नहीं है, ऐसी किसी भी पराई वस्तु को बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है। वह जल और मिट्टी के सिवा बिना अनुमति के किसी के भी स्वामित्व की वस्तु का उपयोग नहीं करता। वह मार्ग में पड़ी हुई, रखी हुई या किसी की भूली हुई, अल्प या अधिक मूल्य वाली किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता।[1]

अचौर्याणुव्रती उक्त प्रकार की समस्त चोरियों का त्याग कर देता है, जिसके करने से राजदण्ड भोगना पड़ता है। समाज में अविश्वास बढ़ता है तथा प्रामाणिकता खण्डित होती है। प्रतिष्ठा को धक्का लगता है। किसी को ठगना, किसी की जेब काटना, किसी का ताला तोड़ना, किसी को लूटना, डाका डालना, किसी के घर सेंध लगाना, किसी की सम्पत्ति हड़प लेना, किसी का गड़ा धन निकाल लेना आदि सब स्थूल चोरी के उदाहरण हैं।

अतिचार

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं- 1. चौरप्रयोग, 2. चौरार्थ-आदान, 3. विलोप, 4. हीनाधिक-विनिमान और 5. प्रतिरूपक व्यवहार।[2]

1. चौर प्रयोग - तरह-तरह के उपाय बताकर चोरी में सहायक होना, चोरी की योजना बनाना, चोरों को प्रेरणा देना तथा चोरों की प्रशंसा करना, दूसरों से चोरी करवाना तथा चोरी का अनुमोदन करना चौर प्रयोग है।

2. चौरार्थ-आदान - जानबूझकर चोरी का माल खरीदना, उन्हें गिरवी रखना, चोरों से सम्बन्ध बनाये रखना, तस्करी का सामान खरीदना चौरार्थ-आदान कहा जाता है।

---
1. र. क. श्रा. 57
2. र. क. श्रा. 58

3. विलोप - राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, जैसे किसी की सम्पत्ति को छीन लेना या हड़प लेना, भूमि-भवन पर अवैध कब्जा करना, सार्वजनिक अथवा शासकीय भूमि पर अतिक्रमण कर अधिकार जमा लेना आदि क्रियाओं को विलोप कहते हैं।

4. हीनाधिक विनिमान - गैलन, मीटर आदि माप हैं और किलो, तोला, ग्राम आदि तौल। माप-तौल के साधन बाँट आदि में कमती-बढ़ती रखकर व्यापार में अधिक लेने और कम देने की नियत रखना और करना हीनाधिक विनिमान कहलाता है।

5. प्रतिरूपक व्यवहार - मिलावट करना, अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना, शुद्ध वस्तु में अशुद्ध वस्तु मिलाना, नकली वस्तुओं का व्यापार करना आदि सबको प्रतिरूपक व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार पवित्र में अपवित्र वस्तु मिलाकर अनुचित लाभ उठाना श्रावक के लिए वर्जित है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

यौनाचार के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।[1] गृहस्थ अपनी कमजोरीवश पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण नहीं कर पाता। उसके लिए विवाह का मार्ग खुला है। वह विवाह करके कौटुम्बिक जीवन में प्रवेश करता है। उसके विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन करना ही होता है। विवाह के बाद वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री की तरह समझता है तथा पत्नी अपने पति के सिवा अन्य सभी पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र की तरह समझती हुई दोनों एक-दूसरे के साथ ही सन्तुष्ट रहते हैं। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदार- संतोष व्रत कहते हैं।[2]

अतिचार

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं- अन्य विवाहकरण, अनङ्गक्रीड़ा, विटत्व, कामतीव्राभिनिवेश तथा इत्वरिकागमन।[3]

---

1. मैथुनमब्रह्म त. सू. 7/16
2. र. क. श्रा. 59
3. र. क. श्रा. 60

1. अन्य विवाह कारण - दूसरे के विवाह कराने का व्यवसाय करना, दिन-रात उसी चिन्तन में लगे रहना, जिनका विवाह करना अपने गार्हस्थिक कर्त्तव्य में सम्मिलित नहीं है, उनका स्नेह व लोभवश विवाह करना अन्य विवाहकरण है।

2. अनङ्ग क्रीड़ा - विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना, अप्राकृतिक मैथुन करना, अनङ्ग क्रीड़ा है।

3. विटत्व - काम सम्बन्धी कुचेष्टाओं को विटत्व कहते हैं।

4. कामतीव्राभिनिवेश - काम की तीव्र लालसा रखना, निरन्तर उसी के चिन्तन में लगे रहना, कामोत्तेजक निमित्तों का संयोजन करना काम तीव्राभिनिवेश है।

5. इत्वरिकागमन - चरित्रहीन स्त्री-पुरुषों की संगति में रहना, व्यभिचारणी स्त्रियों के साथ उठना-बैठना, उनसे सम्बन्ध बनाये रखना इत्वरिकागमन है।

परिग्रह-परिमाण व्रत

धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहते हैं। मनुष्य के पास जितनी अधिक सम्पत्ति की कामना होती है उसके पास उतना ही अधिक ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति होती है। अपनी इसी आसक्ति के कारण आवश्यकता न होने पर भी वह अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की कोशिश करता है, किन्तु जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता ही जाता है। वह अपने इसी लोभ के कारण अधिकाधिक धन-संग्रह करता है। परिग्रह की होड़ में दिन-रात बेचैन रहता है। यह लोभ और तृष्णा ही हमारे दुःख का मूल कारण है। धन-सम्पत्ति से सुख की कामना करना ईंधन से आग बुझाने का प्रयास करने की तरह है।

यद्यपि मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति थोड़े से प्रयत्न से की जा सकती है, किन्तु आकांक्षाओं के अनन्त होने के कारण मनुष्य में और अधिक जोड़ने की भावना बनी रहती है। इच्छा तो आकाश की तरह अनन्त है। उसकी कभी पूर्ति हो ही नहीं सकती। इच्छाओं का नियन्त्रण ही इच्छा तृप्ति का श्रेष्ठ साधन है। अतः आकांक्षाओं की इस अन्तहीन परम्पराओं को देखते हुए आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें सीमित बनाने का प्रयास करना ही

सच्चा पुरुषार्थ है। इसी से अहिंसा की सही साधना हो सकेगी। इसी दृष्टि से गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों की सीमा बनाकर उतने में ही सन्तोष रखता है। उसके अतिरिक्त पदार्थों के प्रति कोई ममत्व नहीं रखता। इससे सहज ही वह अपनी अन्तहीन इच्छाओं को एक सीमा में बाँध लेता है, इसलिए इसे इच्छा परिमाणव्रत भी कहते हैं।[1]

अतिचार

परिग्रह परिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं- 1. अतिवाहन, 2. अतिसंग्रह 3. अतिविस्मय, 4. अतिलोभ और 5. अतिभार-वहन।[2]

1. अतिवाहन - अधिक लाभ की आकांक्षा से शक्ति से अधिक दौड़-धूप करना, दिन-रात उसी आकुलता में उलझे रहना तथा दूसरों से भी नियम-विरुद्ध अधिक काम लेना ''अतिवाहन'' है।

2. अतिसंग्रह - अधिक लाभ की इच्छा से उपभोग्य वस्तुओं का अधिक मात्रा में अधिक समय तक संग्रह करके रखना अर्थात् अधिक मुनाफाखोरी की भावना रखकर अधिक संग्रह करना ''अतिसंग्रह'' है।

3. अतिविस्मय - अपने अधिक लाभ को देखकर अहंकार में डूब जाना तथा दूसरों के अधिक लाभ में विषाद करना, जलना, कुढ़ना, हाय-हाय करना ''अतिविस्मय'' है।

4. अतिलोभ - मनचाहा लाभ होते हुए भी और अधिक लाभ की आकांक्षा करना, क्रय-विक्रय हो जाने के बाद भाव घट-बढ़ जाने से अधिक लाभ की सम्भावना हो जाने पर इसे अपना घाटा मानकर संक्लेश करना ''अतिलोभ'' है।

5. अतिभारवहन - लोभ के वश होकर किसी पर न्याय-नीति से अधिक भार डालना तथा सामने वाले की सामर्थ्य से बाहर काम लेना आदि ''अतिभार'' वहन है।

गुण-व्रत

जिससे अणुव्रतों में विकास होता है उन्हें गुण-व्रत कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं- दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थ-दण्ड-त्याग।[3]

---

1. र. क. श्रा. 61   2. र. क. श्रा. 62   3. का. अनु. 367-68

दिग्व्रत – जीवन पर्यन्त के लिए दशों दिशाओं में आने–जाने की मर्यादा बना लेना दिग्व्रत है।[1] लोभ के शमन के लिए दिग्व्रत लिया जाता है, क्योंकि इससे मर्यादीकृत क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र में कितना भी बड़ा प्रलोभन हो, वह बाहर जाने का भाव नहीं रखता।[2] तथा अपने सीमित साधनों में ही सन्तुष्ट रहता है। तृष्णा की कमी हो जाने से यह व्यक्तिगत निराकुलता का साधन तो है ही, विदेशी उद्योग का नियमन हो जाने से देश की सम्पत्ति और प्रतिभा भी विदेशों में जाने से बच जाती है।

देशव्रत – दिग्व्रत में ली गयी जीवन भर की मर्यादा के भीतर भी अपनी आवश्यकताओं एवं प्रयोजन के अनुसार आवागमन को सीमित समय के लिए नियन्त्रित रखना देशव्रत कहलाता है। इस व्रत में वह सीमा बाँध लेता है कि मैं अमुक समय तक अमुक स्थान तक ही लेन–देन का सम्बन्ध रखूँगा। उससे बाहर के क्षेत्र से न तो कुछ वह मँगाता है, न ही भेजता है, यही उसका देशव्रत है। इच्छाओं को रोकने का यह श्रेष्ठ साधन है।[3]

अनर्थदण्ड त्याग व्रत : बिना प्रयोजन पाप के कार्य करने को अनर्थदण्ड कहते हैं। इनका त्याग करना अनर्थदण्ड त्याग व्रत है।[4] इस व्रत के पाँच भेद हैं–

(1) पापोपदेश – बिना प्रयोजन खोटे व्यापार आदि पाप क्रियाओं का उपदेश देना।[5]

(2) हिंसादान – अस्त्र–शस्त्रादि हिंसक उपकरणों का आदान–प्रदान करना तथा हिंसक सामग्री का व्यापार करना।[6]

(3) अपध्यान – कोई हार जाए, कोई जीत जाए, अमुक का मरण हो जाए, अमुक को लाभ हो जाए, अमुक को हानि हो जाए, बिना प्रयोजन इस प्रकार के चिन्तन को अपध्यान कहते हैं।[7] इन क्रियाओं में व्यर्थ ही समय नष्ट होता है तथा पाप का संग्रह होता है। अतः व्रती इसका भी त्याग कर देता है।

(4) प्रमाद चर्या – बिना मतलब पृथ्वी खोदना, पानी बहाना, बिजली जलाना, पंखा चलाना, आग जलाना तथा वनस्पति काटना/तोड़ना आदि प्रयोजन रहित और प्रदूषण फैलाने वाली क्रियाओं को प्रमाद चर्या कहते हैं।[8]

---

1. वही, 393
2. वही, 346
3. का. अनु. 367, 368
4. वही 393
5. वही 346
6. वही 367
7. वही र.क.श्रा. 78
8. वही 80

(5) दुःश्रुति - चित्त को कलुषित करने वाला अश्लील साहित्य पढ़ना, सुनना तथा अश्लील गीत, नाटक, टेलीविजन एवं सिनेमा देखना दुःश्रुति है।[1] चित्त में विकृति उत्पन करने वाले होने के कारण व्रती को इनका भी त्याग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरों से व्यर्थ हँसी-मजाक करना, कुत्सित चेष्टाएँ करना, व्यर्थ बकवाद करना तथा जिससे स्वयं को कोई लाभ न हो तथा दूसरों को व्यर्थ में कष्ट उठाना पड़े, इस प्रकार हिताहित का विचार किये बिना कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। साथ ही भोगापभोग के साधनों को आवश्यकता से अधिक संग्रह करना भी एक सद् गृहस्थ के लिए अनुचित हैं। ये सब क्रियाएँ भी अनर्थ दण्ड के अन्तर्गत ही आती हैं।[2]

शिक्षा व्रत-

उक्त तीन गुणव्रतों के साथ वह चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करता है, वे हैं सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथि संविभाग-व्रत।[3] इससे मुनि बनने की शिक्षा/प्रेरणा मिलती है। इसलिए इन्हें शिक्षाव्रत भी कहते हैं।[4] वह इन्हें विशेष रूप से पालता है। साधु अवस्था में जिन कार्यों को विशेष रूप से करना होता है उनका अभ्यास करना ही शिक्षाव्रत का प्रमुख उद्देश्य है।

1. सामायिक - समय आत्मा को कहते हैं। आत्मा के गुणों का चिन्तन कर समता का अभ्यास करना सामायिक है। गृहस्थ प्रतिदिन दोनों सन्ध्याओं में एक स्थान पर बैठकर समस्त पापों से विरत हो आत्म-ध्यान का अभ्यास करता है।[5] सामायिक ध्यान का श्रेष्ठ साधन है। मन की शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। पाँचों व्रतों की पूर्णता सामायिक में हो जाती है।[6]

सामायिक में वह व्रती गृहस्थ, संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का चिन्तन कर अपने मन को उनसे विरक्त करने का अभ्यास करता है। वह विचारता है कि संसार अशरण है, अशुभ है, संसार में दुःख ही दुःख है तथा वह नाशवान् है परन्तु इसके विपरीत मोक्ष सुख शान्ति का आगार और चिरन्तन है।[7] इस प्रकार की भावनाओं द्वारा अपने वैराग्य को दृढ़कर समता में स्थिर होता है। इस अभ्यास में

---

1. वही 346
2. वही 81
3. भग. आ. 2082-83
4. शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं (शिक्षा व्रतम्) सा. ध. टी. 4-4
5. र. क. श्रा. मू. 97
6. वही, 101
7. र. क. श्रा. मू. 104

णमोकार मन्त्र आदि पदों का बार-बार नियत उच्चारण करना सहायक होने से वह भी सामायिक है, परन्तु सामायिक में शब्दोच्चारण की अपेक्षा चिन्तन की ही मुख्यता रहती है।

2. प्रोषधोपवास - प्रोषध का अर्थ होता है एकाशन।[1] दोनों पक्षों की अष्टमी तथा चतुर्दशी को पर्व कहते हैं। पर्व के दिनों में एकाशनपूर्वक उपवास करना प्रोषधोपवास व्रत है।[2]

प्रोषधोपवास की विधि - साधक प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करता है। इसके पूर्व सप्तमी और त्रयोदशी को एकाशन करके जिनालय या गुरुओं के पास जाकर चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा शेष दिन धर्मध्यानपूर्वक बिताता है। इसी प्रकार अष्टमी या चतुर्दशी को भी धर्मध्यानपूर्वक बिताकर नवमीं अथवा पन्द्रस के दिन प्रातः देव-पूजन कर अभ्यागत अतिथि को भोजन कराकर अनासक्त भाव से भोजन ग्रहण करता है। यह प्रोषधोपवास व्रत की उत्तम विधि है। इसमें असमर्थ रहने वाला साधक मात्र जल या नीरस भोजन करता है। उसमें भी असमर्थ रहने वालों के लिए कम से कम अष्टमी और चतुर्दशी को एकाशन करने का विधान है। इस व्रत के माध्यम से पक्ष में कम से कम दो दिन मुनियों की तरह एकाशन करने का अवसर मिल जाता है।

उपवास के दिनों को घर-गृहस्थी और व्यवसाय-धन्धे के समस्त कामों को छोड़कर धर्मध्यानपूर्वक बिताना चाहिए। उपवास का अर्थ मात्र भोजन का त्याग ही नहीं है, अपितु पाँचों इन्द्रियों के विषयों को त्यागकर आत्मा के पास बैठने को उपवास कहते हैं। विषयों से विरक्त हुए बिना उपवास करना निष्फल है। वह तो लंघन की कोटि में आता है।[3]

3. भोगोपभोग परिमाण-व्रत - भोग और उपभोग के साधनों को कुछ समय या जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना भोगोपभोग परिमाण-व्रत कहलाता है।[4] भोजन, माला आदि एक ही बार उपयोग में आने योग्य वस्तु को भोग कहते हैं तथा वस्त्राभूषण आदि बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री उपभोग कहलाती है।[5] यह भोगोपभोग परिमाण-व्रत व्यक्तिगत निराकुलता एवं सामाजिक सद्भाव

---

1. प्रोषधः सकृद् भुक्तिः। र. क. श्रा. 109
2. वही, 106
3. का. अनु. टी. 358-259
4. सर्वा. सि. 7/21, पृ. 280
5. र. क. श्रा. 83

दोनों दृष्टियों से उपयोगी है, क्योंकि इस व्रत के हो जाने पर अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह/संचय और उपभोग बन्द हो जाता है। इससे गृहस्थ अनावश्यक खर्च और आकुलता से बच जाता है तथा एक जगह अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न होने से दूसरों के लिए वह सुलभ हो जाती हैं। अनावश्यक माँग न होने के कारण समाजवाद में यह व्यवस्था बहुत ही उपयोगी है कि व्यक्ति अपने उपयोग की ही वस्तु का संग्रह करे। किसी एक के पास अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह होने से दूसरे उसके उपभोग से वञ्चित हो जाते हैं।

जो मनुष्य भोग और उपभोग के साधनों को कम करके अपनी आवश्यकताओं को कम कर लेता है, उसका खर्च भी कम हो जाता है। खर्च कम हो जाने से वह सीमित साधनों में भी अपने जीवन का सन्तोषपूर्वक निर्वाह कर लेता है। तृष्णा घट जाने से वह न्याय और नीति का विचार करके ही अपना कार्य करता है। अतः इस व्रत के धारी को दूसरों की कष्टदायी आजीविका की भी जरूरत नहीं पड़ती।

भोगोपभोग परिमाणव्रती अपने खान-पान को भी सात्त्विक रखता है। वह मद्य, माँस, मधु का त्याग तो करता ही है, अपने भोजन में मादकता बढ़ाने वाले पदार्थों को भी नहीं लेता है। वह तो शरीर-पोषक-तत्त्वों के साथ सन्तुलित भोजन ही लेता है। इसी प्रकार वह केतकी के फूल, अदरक, गाजर, मूली, आलू आदि जमीकन्दों का भी सेवन नहीं करता, क्योंकि वे अनन्तकाय होते हैं, अर्थात् इनमें एक-एक के आश्रय से अनन्तानन्त निगोदिया जीव निवास करते हैं। इसी प्रकार और भी अशुचि पदार्थ जैसे गोमूत्र आदि उनका भी सेवन नहीं करता।[1] वर्तमान में प्रचलित ऐसी औषधियाँ जिनके निर्माण का ठीक से पता नहीं चलता तथा जिनमें अशुचि पदार्थों के सम्मिश्रण की आशंका रहती है या जो पेय औषधि है, उसका सेवन भी भोगोपभोग परिमाणव्रती को नहीं करना चाहिए।

4. अतिथि संविभाग - जो संयम को पालते हुए भ्रमण करते हैं[2] उनको अतिथि या साधु कहते हैं। ऐसे अतिथियों को अपने लिए बनाये गये भोजन में से विभाग करके भोजन देना अतिथि संविभाग कहलाता है।[3] व्रती, श्रावक प्रतिदिन अपने भोजन से पूर्व उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों की प्रतीक्षा करता है। मुनि उत्तम पात्र है, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका या व्रती श्रावक

---

1. र. क. श्रा. 84
2. सर्वा. सि. 7/21, पृ. 280
3. सर्वा. सि. 7/21, पृ. 280

मध्यम पात्र हैं तथा सामान्य जैन गृहस्थ जघन्य पात्र कहलाते हैं। तीन प्रकार के पात्रों में जो भी पात्र मिलते हैं, उन्हें वह श्रद्धा भक्ति पूर्वक भोजन कराता है।[1]

यदि कोई मुनिराज मिलते हैं तो इसे अपना सौभाग्य समझ, श्रद्धा, भक्ति शक्ति, अलुब्धता, दया, क्षमा और विवेक इन सात गुणों से भूषित होकर नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहार देता है।[2] नवधा भक्ति निम्न है-

(1) प्रतिग्रह (2) उच्चासन (3) पादप्रक्षालन (4) पूजन (5) प्रणाम (6) मनः शुद्धि (7) वचनशुद्धि (8) कायशुद्धि (9) अन्नपान शुद्धि।

जैसे ही वह अपने सामने से किन्हीं मुनिराज को आहार मुद्रा में निकलते देखता है तो बड़े हर्ष के साथ निवेदन करता है कि हे! स्वामी नमोस्तु! नमोस्तु; आइए; ठहरिए, ठहरिए; हमारा आहार जल शुद्ध है। यदि मुनिराज उसकी प्रार्थना सुनकर ठहर जाते हैं तो वह उनकी तीन प्रदक्षिणा देता है, फिर वह अत्यन्त विनय के साथ उन्हें अपने घर में प्रवेश करने का निवेदन करता है, उसकी उक्त क्रिया को प्रतिग्रह या पड़गाहन कहते हैं। गृह-प्रवेश होने के बाद उन्हें उच्चासन पर विराजमान कर सर्वप्रथम प्रासुक जल से उनके चरणों को धोकर अहोभाव से अपने मस्तक पर लगाता है। तत्पश्चात् जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा करता है। उसके बाद उन्हें प्रणाम कर वह निवेदन करता है कि हे स्वामी! हमारा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, शरीर से हम शुद्ध हैं, हमारे द्वारा निर्मित आहार जल भी अत्यन्त शुद्ध है, कृपा कर भोजन ग्रहण कीजिए।[3] उसके इस निवेदन पर मुनिराज जब आहार ग्रहण करते हैं तब वह पूर्वोक्त, श्रद्धादि सातों गुणों से युक्त होता हुआ आहार दान देता है।[4] उक्त नवधा भक्ति और सात गुणों का जोड़ सोलह होता है, इसलिए इसे ''सोला'' कहते हैं। शुद्धि के अर्थ में रूढ़ सोला का अर्थ मात्र वस्त्रादिकों की शुद्धि से न होकर उक्त सोलह शुद्धियों से ही समझना चाहिये।

इसी प्रकार शेष पात्रों को भी यथायोग्य विनय करके वह आहार दान देता है। वह सिर्फ आहार दान ही नहीं देता, बल्कि आवश्यकता के अनुसार औषधि दान भी देता है, समय-समय पर मुनियों को पिच्छि, कमण्डलु एवं शास्त्रादि उपकरण भी देता है। इसी प्रकार मुनियों के रहने योग्य स्थान भी बनवाकर या व्यवस्था कर

1. का. अनु. गा. 360
2. का. अनु. गा. टी., पृ. 263
3. वसु. श्रा. 226-231
3. र. क. श्रा. 113

स्वयं को कृतार्थ करता है। ये सब क्रियाएँ उसकी अतिथि संविभाग व्रत के अन्तर्गत आती हैं।[1] ऐसा कहा गया है कि इस प्रकार अभ्यागत अतिथि की पूजा और सत्कार करने से उसके द्वारा गृह-कार्यों से अर्जित समस्त पाप धुल जाते हैं।[2]

3. सामायिक - यह नैष्ठिक श्रावक की तीसरी श्रेणी है। इसे तीसरी प्रतिमा भी कहते हैं। इस श्रेणी में आते ही वह पूर्वगृहीत सभी व्रतों के साथ, तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करता है। अभी तक वह दिन में दो बार अपनी सुविधा के अनुसार सामायिक करता था, किन्तु इस श्रेणी में आते ही वह तीनों सन्ध्याओं में कम से कम 48 मिनट तक सर्व-संकल्प-विकल्पों को छोड़कर आत्मचिन्तन करता है।[3] पूर्व में वह सामायिक अभ्यास रूप में करता था, अब वह व्रत के साथ करता है। सामायिक व्रत और प्रतिमा में इतना ही अन्तर है।

4. प्रोषधोपवास - इस श्रेणी में आने पर पूर्व की तरह पर्व के दिनों में वह उसी विधि से उपवास करने लगता है। पर्व के दिनों में पहले कही गयी विधि के अनुसार उपवास के अभ्यास हो जाने के उपरान्त जब वह इन्हें व्रत रूप से करने लगता है, तब वह प्रोषधोपवासी श्रावक कहलाता है।[4]

5. सचित विरति - पाँचवीं श्रेणी वाला वह श्रावक सचित्त पदार्थों का त्यागी होता है। वह मूल, फल, साग-सब्जी आदि वनस्पति के किसी भी अंग या अंश को अग्नि से संस्कारित किये बिना नहीं खाता।[5] जैनधर्म एवं वैज्ञानिक दृष्टि से वनस्पतियों में भी जीव पाये जाते हैं, जब तक ये कच्ची अवस्था में रहते हैं तब तक सजीव रहते हैं। अग्नि से संस्कारित हो जाने पर वे अचित्त हो जाते हैं। उससे प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम दोनों पल जाते हैं, क्योंकि कच्चे फलादि वनस्पति अधिक स्वादिष्ट होने से अधिक खाये जाते हैं[6], जबकि उबली वनस्पति स्वाद की लिप्सा घट जाने से कम मात्रा में खाई जाती है। इसी प्रकार वह जल भी उबालकर ही पीता है।

---

1. सर्वा. सि. 7/21, पृ. 280
2. गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
   अतिथीनाम् प्रतिपूजा रुधिर मलं धावते वारि॥ र. क. श्रा. 114
3. चा. पा. टी. गा. 25
4. वसु. श्रा. टी. गा. 378
5. र. क. श्रा. 141
6. का. अनु. 381

6. दिवा-मैथुन-त्यागी/रात्रि-भुक्ति त्यागी - पाँचों प्रतिमाओं का पालन करते हुए साधक जब दिन में मन, वचन, काय से स्त्री मात्र के संसर्ग का त्याग कर देता है, तब वह दिवा-मैथुन-विरत कहलाता है।[1] इस भूमिका में आते ही वह दिन में सब प्रकार के काम-भोग का त्याग कर उन्हें रात्रि तक के लिए ही सीमित कर लेता है। इस प्रतिमा को रात्रि-भुक्ति त्याग भी कहते हैं। वह रात्रि भोजन का मन, वचन, काय से त्यागी हो जाता है।[2] यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि रात्रि भोजन का त्याग तो पाक्षिक श्रावक के मूलगुणों में ही करा दिया जाता है पर वह त्याग व्यक्तिगत होता है। छठी प्रतिमा के धारण के बाद रात्रि भोजन का मन-वचन-काय से त्याग हो जाता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक रात्रि भोजन का अनुमोदन भी नहीं करता।

7. पूर्ण ब्रह्मचर्य - पूर्वोक्त संयम के माध्यम से अपने मन को वश में करता हुआ साधक जब मन, वचन, काय से स्त्री मात्र के संसर्ग का त्याग करता है तब उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। इस भूमिका में आने पर वह शरीर की अशुचिता को समझकर, काम से विरत हो, यौनाचार का सर्वथा परित्याग कर देता है।[3] ब्रह्मचारी बनने के बाद वह अपने खान-पान और रहन-सहन में और अधिक सादगी ले आता है तथा घर-गृहस्थी के कार्यों से प्रायः उदासीन रहता है।

8. आरम्भ-विरत - ब्रह्मचारी बन जाने के बाद उसके अंतस् में संसार के प्रति और भी अधिक उदासी आ जाती है, तब वह सब प्रकार के व्यापार आदि कार्यों का पूर्ण रूप से परित्याग कर देता है। इस प्रतिमा में आरम्भ सम्बन्धी समस्त क्रियाओं का त्याग हो जाता है।[4अ] अतः यहाँ आकर वह आरम्भी हिंसा से भी बचने लगता है।[4ब] यहाँ तक कि अपना भोजन भी वह अपने हाथों से नहीं बनाता, किसी के द्वारा निमन्त्रण मिलने पर भोजन कर लेता है। हाँ, परिस्थिति विशेष में अपना भोजन स्वयं भी बना सकता है। आरंभ-विरत श्रावक खेती-बाड़ी, नौकरी आदि सब छोड़ देता है, और पूर्व में अर्जित अपनी सीमित सम्पत्ति से ही अपने जीवन का निर्वाह करता है।

9. परिग्रह-विरत - पहले की आठ प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक जब अपनी जमीन-जायदाद से अपना स्वत्व छोड़ देता है तब वह परिग्रह-विरत कहा जाता है। आठवीं प्रतिमा में वह अपना उद्योग-धन्धा पुत्रों के सुपुर्द कर देता है,

---

1. वसु. श्रा. 296
3. र. क. श्रा. 147
3. र. क. श्रा. 143
4.अ. र. का. रा. 144
4 ब. का. अनु. 385

किन्तु संपत्ति अपने ही अधिकार में रखता है। जब वह देख लेता है पुत्रों ने भली-भाँति उद्योग/व्यवसाय को सम्भाल लिया है अब यदि इन्हें सौंप दिया जाये तो ये उसका रक्षण कर लेंगे, तब वह अपने पुत्र या दत्तक पुत्र को पञ्चों के सामने बुलाकर सब कुछ सौंप देता है। अपने पास मात्र अपने पहनने के वस्त्र ही परिग्रह के रूप में रखता है।[1]

इस प्रकार वह सब कुछ पुत्रों को सौंपकर गार्हस्थिक दायित्व से मुक्त हो जाता है, किन्तु मुक्त हो जाने पर भी सहसा घर नहीं छोड़ता। वह उदासीन होकर घर में ही रहता है, यदि उसके पुत्र कुछ सलाह माँगते हैं तो वह उन्हें सम्मति भी दे देता है।

10. अनुमति-विरति- इस प्रकार नवमी प्रतिमा में समस्त सम्पत्ति एवं जमीन-जायदाद से अपना ममत्व हटाकर सब कुछ पुत्रों को सौंपने के बाद, जब वह देख लेता है कि अब मेरी सलाह के बिना भी ये अपना काम-काज कर सकते हैं तो वह घर-गृहस्थी एवं व्यापार के कार्यों में किसी भी प्रकार का परामर्श देना भी बन्द कर देता है। अब वह अत्यन्त उदासीन होकर तटस्थ भाव से रहने लगता है। उसे किसी भी प्रकार की लाभ-हानि में कोई रुचि नहीं रहती।[2]

अब वह प्रायः घर में न रहकर मन्दिर, चैत्यालय आदि एकान्त स्थानों में ही रहता है और अपना समय स्वाध्याय, चिन्तन आदि में ही व्यतीत करता है। तथा अपने घर अथवा अन्य किसी साधर्मी बन्धु का निमन्त्रण मिलने पर ही भोजन ग्रहण करता है। इसके बाद घर छोड़ने में समर्थ हो जाने पर वह अगली श्रेणी की ओर कदम बढ़ाता है।

11. उद्दिष्ट-त्याग - यह श्रावक की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। इस भूमिका वाला साधक गृह-त्यागकर मुनियों के पास रहने लगता है तथा भिक्षावृत्ति से अपना जीवन बिताता है। इस प्रतिमा के क्षुल्लक एवं ऐलक दो भेद हैं-

क्षुल्लक - क्षुल्लक का अर्थ होता है छोटा। मुनियों से छोटे साधक को क्षुल्लक कहते हैं। यह घर छोड़कर मुनियों के पास संघ में रहता है। दिन में एक बार भिक्षावृत्ति से भोजन ग्रहण करता है तथा मुनियों की सेवा, सुश्रूषा एवं स्वाध्याय में लगा रहता है।[3] इस क्षुल्लक के भी दो भेद होते हैं- 1. एक गृहभोजी 2. अनेक गृहभोजी।[4]

---

1. का. अनु. 386
2. र. क. श्रा. 146
3. र. क. श्रा. 147
4. जै. सि. को. 2/189

अनेक गृहभोजी भिक्षावृत्ति करके भोजन करता है, वह श्रावकों के घर जाकर ''धर्म-लाभ हो'' ऐसा कहता है, उसके ऐसा कहने पर यदि श्रावक उसे कुछ दे देते हैं तो ले लेता है, अन्यथा बिना किसी विषाद के आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार पाँच-सात घरों में उसे जहाँ अपने योग्य पर्याप्त भोजन मिल जाता है, वहीं बैठकर किसी से पानी माँगकर, सरस-विरस, गर्म-ठण्डे का विकल्प किये बिना भोजन करता है। इसी बीच कोई श्रावक विनयपूर्वक अपने यहाँ ही भोजन करने का निवेदन करता है, तो वह वहीं पर बैठकर भी अपने पात्र में भोजन कर लेता है। भोजन के बाद गुरु के पास जाकर चारों प्रकार के आहार का अगले दिन तक के लिए त्याग (प्रत्याख्यान) कर देता है।

एक गृह-भोजी क्षुल्लक मुनियों के आहार के लिए निकलने के बाद चर्या के लिए निकलता है। श्रावकों के द्वारा विधि के साथ भक्तिपूर्वक आहार दिये जाने पर वह भोजन करता है। दोनों प्रकार के क्षुल्लक अपने तप, संयम और ज्ञानादिक का गर्व किये बिना अपना बर्तन अपने ही हाथों से साफ करते हैं। ऐसा नहीं करने पर महान् असंयम का दोष लगता है।[1] आजकल एक गृहभोजी क्षुल्लक ही मिलते हैं।

ऐलक - ऐलक उद्दिष्ट त्यागी श्रावक का दूसरा भेद है। यह वस्त्र के रूप में मात्र लंगोटी धारण करता है।[2] अपने हाथ में ही अञ्जुलि बनाकर दिन में एक बार भोजन करता है, तथा दो से चार माह के भीतर अपने सिर और दाढ़ी मूँछों के बालों को उखाड़कर केशलोंच करता है।[3]

क्षुल्लक पात्र में भोजन करता है तथा कभी-कभी हाथ में भी कर लेता है, लेकिन ऐलक सदा पाणि-पात्र में ही भोजन ग्रहण करता है। क्षुल्लक प्रायः केशलोंच करता है तथा कभी-कभी कैंची से भी बाल कटवा लेता है, ऐलक हमेशा केशलोंच ही करता है। ऐलक एकमात्र लंगोट धारण करता है, क्षुल्लक लंगोट के साथ एक खंड वस्त्र, जितने वस्त्र खंड से सिर ढकने पर पैर उघड़ा रह जाये तथा पैर ढकने पर सिर उघड़ जाये भी रखता है। ऐलक अपने हाथों में मयूर पंखों की बनी पिच्छिका रखता है, क्षुल्लक के लिए पिच्छिका का नियम नहीं है। क्षुल्लक और ऐलक की शेष क्रियाएँ समान रहती हैं। दोनों ही उद्दिष्ट त्यागी श्रावक कहलाते हैं।

---

1. सा. ध. 7/144 2. वसु. श्रा. 301 3. वसु. श्रा. 311

इस प्रकार दार्शनिक से लेकर उद्दिष्ट त्यागी तक नैष्ठिक श्रावक के ग्यारह भेद हो जाते हैं। स्त्री-पुरुष सभी इन प्रतिमाओं का पालन कर सकते हैं। पुरुष श्रावक कहलाते हैं तथा स्त्रियाँ श्राविका। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी स्त्रियाँ क्षुल्लिका कहलाती हैं। वे अपने पास मात्र एक साड़ी और एक खण्ड वस्त्र रखती हैं, तथा पात्र में ही भोजन करती हैं। पहली से छठवीं प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य, सातवीं से नवमीं तक मध्यम एवं दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। साधक अपनी क्षमताओं को बढ़ाता हुआ ज्यों-ज्यों अपनीसाधना में विकास करता है, त्यों-त्यों ऊपर की श्रेणियों में चढ़ता जाता है।

प्रतिमाओं का उक्त क्रम जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए क्रमशः आगे बढ़ने की दृष्टि से रखा गया है। कोई भी साधक अपने दायित्वों का अच्छी तरह निर्वाह करते हुए क्रमशः इनका पालन कर कल्याण के पथ में अग्रसर हो सकता है।

साधक श्रावक

साधक श्रावक - जीवन के अन्त में मरणकाल सम्मुख उपस्थित होने पर भोजन-पानादि का त्याग कर विशेष प्रकार की साधनाओं द्वारा सल्लेखनापूर्वक देह-त्याग करने वाले श्रावक ''साधक श्रावक'' कहलाते हैं।[1] सल्लेखना में क्रमशः शरीर और कषायों को कृश किया जाता है। इसका स्वरूप आगे बताया जायेगा।

---

1. महा. पु. 149

मुनि आचार

- मुनिव्रत की पात्रता
- कैसे होते हैं जैन-मुनि?
- अट्ठाईस मूल-गुण
- नग्नता अशिष्टता नहीं
- साधु के भेद
- आर्यिका।

मुनि आचार

जैनाचार का प्रमुख उद्देश्य अनादिकालीन राग-द्वेष आदि विकारों का समूल उच्छेद कर आत्मा की शुद्ध-बुद्ध अवस्था को प्रकट करना है। इसलिए श्रावक अपने ''श्रावक-धर्म'' सम्बन्धी नियमों का पालन करता हुआ साधुत्व की ओर कदम बढ़ाता है। आचार्य श्री ''समन्तभद्र'' ने एक जैन साधक को चरित्र की ओर अग्रसर होने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त-संज्ञानः
रागद्वेष-निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥[1]

''मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर साधक जब सत्य दृष्टि और यथार्थ बोध प्राप्त करता है तब वह रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को अंगीकार करता है।'' गृहस्थ देश चारित्र को अंगीकार करता है, जबकि साधु पापों का परिपूर्ण रूप से त्याग कर महाव्रतों को धारण करता है।

जो अपनी आत्मा की उपलब्धि के लिए सतत साधनारत रहता है वह साधु है। जैनदर्शन में साधु को मुनि, ऋषि, यति, अनगार, श्रमण, संयत, महाव्रती, अचेलक, दिगम्बर, भदन्त, जिन-कल्प आदि अनेक नामों से जाना जाता है।[2] जैनधर्म के अनुसार साधु व्रत का पालन करना अत्यन्त दुष्कर है। इसे धारण करना तलवार की धार पर चलने की तरह कठिन माना जाता है। यह हर किसी के वश की बात नहीं है। इसीलिए हरेक व्यक्ति को मुनिव्रत धारण करने की अनुमति नहीं दी गयी है।

मुनिव्रत की पात्रता

जैन-शास्त्रों में मुनि बनने की पात्रता की चर्चा करते हुए कहा गया है ''संसार

1. र. क. श्रा. 47
2. जै. सि. को. 4/403

की असारता को अच्छी तरह समझने वाला, वैराग्यवान्, प्रकृति से शान्त, दृढ़-श्रद्धालु, विनम्र और प्रामाणिक व्यक्ति ही मुनिधर्म अंङ्गीकार करने के अधिकारी हैं।[1] इसके विपरीत; हिंसादिक कार्यों में लिप्त, हत्या आदि का अपराधी, समाज व राष्ट्र के हितों में बाधक, देशद्रोही, कर्जदार, नपुंसक, व्याधिग्रस्त, पागल, मूढ़ और विषय-लोलुपी मनुष्य मुनिव्रत की पात्रता नहीं रखते।'' किसी भी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक विकृति से युक्त तथा जाति और कर्म से दूषित, अतिबाल और अतिवृद्ध मनुष्य को भी मुनिव्रत नहीं दिया जाता।[2]

कैसे होते हैं जैन मुनि?

वैसे तो जैन मुनि का कोई वेश नहीं होता, निर्वेश रहना ही उनका वेश है। किन्तु बाहर से जहाँ कहीं भी जन्म लेने वाले शिशु की तरह यथाजात निर्विकार नग्न मुद्रा दिखाई पड़े, जिनके सिर और दाड़ी-मूँछों के बाल हाथ से उखाड़े गये हों तथा जिनका शरीर किसी प्रकार से संस्कारित/अलंकृत न हो, मात्र हाथ में मयूर से निर्मित सुकोमल पिच्छि और काष्ठ निर्मित कमण्डलु हो इसके अतिरिक्त तिल-तुष मात्र भी परिग्रह न हो, समझ लीजिए वह जैन मुनि है।[3] यह जैन मुनि का बाहरी चिह्न है तथा ममत्व और आरम्भ से रहित योग और उपयोग की शुद्धिपूर्वक सब प्रकार से निरपेक्ष और निरीह होकर अपने ज्ञान-ध्यान और तप में लगे रहना यह जैन साधु की भीतरी पहचान है।[4]

अट्ठाईस मूलगुण

उपर्युक्त चिह्नों से भूषित जैन-मुनि सतत अपनी आत्मा-साधना में प्रवृत्त रहते हैं। उनका साधना क्रम अत्यन्त व्यवस्थित रहता है। इसके लिए जैन मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण बताये गये हैं। वे हैं- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय, निरोध छह आवश्यक, अदन्त धावन, अस्नान, भूमिशयन, एक भुक्ति, स्थिति भोजन (खड़े-खड़े भोजन) केशलुंचन और नग्नता।[5] इन अट्ठाईस मूलगुणों का पालन प्रत्येक जैन मुनि को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। इससे उनकी चर्या व्यवस्थित हो जाती है और वे साधना के मार्ग पर बने रहते हैं। ये मूलगुण मुनिव्रत की मूल अर्थात् जड़ हैं। इनका पालन करने पर ही मुनित्व सुरक्षित रह सकता है। इन मूल गुणों की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है-

1. योगसार अमितगति 8/51
2. (अ) योगसार, 8/52 (ब) आ. सा. 1/11
3. मू. चा. 908
4. प्र. सा. 205-206
5. प्र.सा. 208-209

1. पाँच महाव्रत - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का प्रतिज्ञापूर्वक पूर्ण रूप से परित्याग करना पाँच महाव्रत कहलाता है। अणुव्रतों की अपेक्षा ये व्रत बहुत बड़े हैं। इनका पालन करना अत्यन्त कठिन है। उच्च मनोबल वाले महापुरुष ही इनका पालन कर सकते हैं। इसलिए इन्हें महाव्रत कहा जाता है।[1] इसमें अहिंसा आदि का पालन अत्यन्त सूक्ष्मता से किया जाता है। आध्यात्मिक जीवन-यात्रा के लिए यह अनिवार्य है।

अहिंसा महाव्रत - जैन मुनि अहिंसा महाव्रत के पालन के लिए सूक्ष्म तथा बादर, त्रस एवं स्थावर सभी जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय से त्याग कर देते हैं। इस महाव्रत के धारण करने के बाद स्थावर जीवों में न तो पृथ्वी खोदते हैं, न ही अग्नि सुलगाते और तापते हैं। कच्चे पानी तथा अग्नि को छूते भी नहीं हैं। सुविधा के लिए बिजली के पंखे, कूलर, हीटर आदि का भी उपयोग नहीं करते। फल-फूल, घास-पात आदि किसी भी प्रकार की वनस्पति का छेदन आदि नहीं करते। यहाँ तक कि उनका स्पर्श भी नहीं करते हैं। अहिंसा महाव्रत के पालन के लिए वे हरी घासयुक्त भूमि पर भी नहीं चलते। त्रस जीवों के साथ -साथ सूक्ष्मतम जीवों का भी घात न हो, इसका ध्यान रखते हुए सावधानीपूर्वक उठते-बैठते हैं। उनकी संवेदनशीलता अत्यन्त व्यापक होती है। वे ऐसा कोई भी कार्य नहीं करते जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचता हो।

उक्त अहिंसा महाव्रत के ठीक तरह से पालन के लिए जैन-मुनि सतत अपने मन पर नियन्त्रण बनाये रखते हैं। वाणी पर भी अंकुश रखते हैं। चलने-फिरने, उठने-बैठने की क्रियाओं में पूर्ण सावधानी बरतते हैं तथा प्राकृतिक प्रकाश में दिन में एक बार ही भोजन (आहार) लेते हैं। ये पाँचो अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं।[2]

सत्य महाव्रत - सत्य के बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। असत्य हिंसा का जनक है। अतः जैन-मुनि कभी भी असत्य वचनों का प्रयोग नहीं करते। हमेशा हित, मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करते हैं। वे निष्ठुर और कर्कश वचनों का प्रयोग न कर सदा निर्दोष, अकर्कश और असंदिग्ध वचन ही बोलते हैं। कषायों से प्रेरित होकर, जानबूझकर अथवा अज्ञानवश प्रयोग किये जाने वाले कठोर वचन दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं। इसी प्रकार वे संदिग्ध अथवा अनिश्चिय की दशा में निश्चय वाणी का प्रयोग नहीं करते। पूर्ण रूप से निश्चित

---

1. चारित्र पाहुड़ 30
2. त.सू. 7/4

हो जाने पर निश्चित वाणी बोलते हैं। वे सत्य, मृदु और निर्दोष भाषा में ही बोलते हैं तथा सत्य होने पर भी कभी भी अवज्ञा-सूचक वचनों का प्रयोग नहीं करते, वरन् सम्मान सूचक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। संक्षेप में कहें तो जैन मुनि विचार व विवेकपूर्वक संयमित, सन्तुलित और सत्य भाषा का ही प्रयोग करते हैं। क्रोध के आवेग में, लोभ-लालच में फँसकर, भयवश एवं हँसी-मजाक में, मुख से असत्य वाणी निकलने की सम्भावनाएँ रहती हैं। इसलिए जैन मुनि सत्य महाव्रत की रक्षा के लिए क्रोध, लोभ, भय एवं व्यर्थ की हँसी-मजाक का त्याग करते हैं तथा सोच-समझकर विवेकपूर्ण वचनों का ही प्रयोग करते हैं। ये पाँचों सत्य महाव्रत की भावनाएँ हैं।[1]

अचौर्य महाव्रत - अचौर्य महाव्रत को धारण करने वाले जैन-मुनि बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करते। वे जल, मिट्टी और तिनके जैसी वस्तु भी बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी समझते हैं। किसी की गिरी हुई, भूली हुई या रखी हुई अल्प या अधिक मूल्य वाली वस्तु को छूना तक निषिद्ध मानते हैं। ग्रामानुग्राम में विहार करते हुए गृह-स्वामी की अनुमति के बिना किसी भवन में विश्राम भी नहीं करते। जिस प्रकार बिना दी हुई वस्तु वे स्वयं ग्रहण नहीं करते, उसी प्रकार दूसरों से करवाते भी नहीं है तथा वैसा करने वालों का समर्थन भी नहीं करते।

अचौर्य महाव्रत की स्थिरता और सुरक्षा के लिए वे जिसमें कोई नहीं रहता ऐसे गिरि, गुफा आदि शून्य स्थानों में ही आवास करते हैं। दूसरों के द्वारा छोड़े हुए मकान, जिसका कोई स्वामी न हो अथवा जो मुक्त द्वार हो, वहीं ठहरते हैं। जिस स्थान पर वे ठहरते हैं उसमें निजत्व का भाव नहीं रखते तथा कोई दूसरा आकार उसमें ठहरना चाहे तो रोकते भी नहीं हैं। भिक्षावृत्ति का उचित ध्यान रखकर आहार ग्रहण करते हैं तथा अपने उपकरणों में तेरे-मेरे का भाव न रखकर अन्य साधुओं से विवाद नहीं करते। यह सब अचौर्य व्रत की भावनाएँ हैं।[2]

ब्रह्मचर्य महाव्रत - इस महाव्रत का पालन करने वाले जैन मुनि के लिए यौनाकर्षण से मुक्त होना अनिवार्य है। उसके लिए, मन, वचन व काय से यौन विकारों का सेवन करने, कराने तथा अनमोदन करने का निषेध है। यही नवकोटि ब्रह्मचर्य या नवकोटि शील कहलाता है। यौनाकांक्षा को समस्त अधर्मों का मूल

1. त.सू. 7/5
2. त.सू. 7/6

तथा महादोषों का प्रथम स्थान कहा गया है। इससे अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं। हिंसादिक दोषों एवं कलह संघर्ष का जन्म होता है। यह सब समझकर जैन मुनि यौनाकांक्षा पर पूर्ण विजय कर लेते हैं। वे उन सभी भौतिक एवं मानसिक परिस्थितियों से दूर रहते हैं जिनसे किञ्चित् भी कमोद्दीपन की आशंका हो।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की दृढ़ता एवं सुरक्षा के लिए वे रागपूर्वक स्त्रियों की चर्चा नहीं करते, न ही उनमें राग बढ़ाने वाली कथाओं को सुनते हैं। दुर्भावनापूर्वक उनके अंगोपांगों का अवलोकन भी नहीं करते। इसी प्रकार पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण भी नहीं करते तथा गरिष्ठ, उत्तेजक और कामोद्दीपक भोज्य पदार्थों का सेवन एवं अपने शरीर के संस्कार का भी त्याग करते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए यही पाँच भावनाएँ हैं।[1]

अपरिग्रह महाव्रत - जैन मुनि के लिए परिग्रह का त्याग अनिवार्य है। बाह्य पदार्थों का ममत्व मूलक संग्रह परिग्रह कहलाता है। यह परिग्रह ही हमारे दुःख का मूल कारण है। मनुष्य की सारी दौड़-धूप परिग्रह के अर्जन, रक्षण और संवर्धन के लिए होती है। बाह्य पदार्थों के प्रति होने वाली आसक्ति ही हमारी अशान्ति का मूल कारण है। मनुष्य यदि अपने पास तिलतुष मात्र भी कुछ रखता है तो उसके प्रति आसक्ति से रहित नहीं हो सकता। जिस प्रकार हमारे शरीर में लगी हुई एक छोटी-सी फाँस भी हमारे लिए कष्टकर होती है, उसी तरह एक छोटी-सी लँगोटी की चाहत भी कैसे पूरे संसार की सृष्टि कर देती है इससे हम पूरी तरह परिचित हैं।

इसलिए पूर्ण रूप से निर्द्वन्द्व और अकिञ्चन रहकर विचरण करने वाले जैन मुनि अपने पास तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते। वे अपने शरीर से ममत्व छोड़कर नग्न दिगम्बर रूप धारण करते हैं। मात्र अपने संयम की रक्षा के लिए मयूर पंखों की बनी पिच्छिका तथा काष्ठ का एक कमण्डलु रखते हैं। जरूरत पड़ने पर धर्म ग्रन्थ भी किसी के द्वारा दिये जाने पर रख लेते हैं। इस प्रकार ज्ञान एवं संयम की रक्षा के लिए जो कुछ भी अल्पतम उपकरण वे ग्रहण करते हैं, उन पर भी उनका ममत्व नहीं होता। उनके खो जाने या नष्ट हो जाने पर भी उन्हें शोक नहीं होता। वे अपने शरीर की तरह इन उपकरणों के प्रति भी अनासक्त रहते हैं। मात्र संयम के साधन के रूप में उनका उपयोग करते हैं। आसक्ति ही हमारी

---

1. त.सू. 7/7

आन्तरिक ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि के खुल जाने के कारण जैन मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

संसार में अनेक प्रकार के विषय हैं। उनमें से कुछ मनोज्ञ अर्थात् मन को प्रिय लगने वाले हैं तथा कुछ अमनोज्ञ अर्थात् मन को अरुचिकर लगने वाले पदार्थ हैं। मनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर राग बढ़ता है तथा अमनोज्ञ विषयों के मिलने पर द्वेष बढ़ता है। रागद्वेष के कारण ही उनके सञ्चय और त्याग की भावना आती है। इसलिए जैन-मुनि अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा के लिए मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द रूप पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष का त्याग कर देते हैं जिससे कि उनके ग्रहण और त्याग का विकल्प समाप्त हो जाता है तथा अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा होती रहती है। अपरिग्रह महाव्रत की यही पाँच भावनाएँ हैं।[1]

पाँच समिति - समिति का अर्थ है प्रवृत्तिगत सावधानी। जैन मुनि प्राकृतिक प्रकाश में चार हाथ भूमि को देखकर शुद्ध और निर्जन्तुक भूमि में ही विहार करते हैं। यह उनकी ''ईर्या समिति'' है। वे निन्दा व चापलूसी आदि दूषित भाषाओं को त्यागकर सदैव संयत, नपी-तुली, सत्य, प्रिय और हितकारी वाणी का ही प्रयोग करते हैं। यह उनकी ''भाषा समिति'' कहलाती है। वे दिन में एक बार सदाचारी श्रावक के यहाँ शुद्ध और सात्विक आहार, लोभरहित, भिक्षावृत्ति से छियालीस दोषों को टालकर ग्रहण करते हैं। इसे ''एषणा'' समिति कहते हैं। ज्ञान और संयम की रक्षा के लिए वे जो कुछ भी उपकरण अपने पास रखते हैं उनको-उठाने, रखने में पूर्ण सावधानी रखते हैं, किसी भी वस्तु को उठाने-रखने से पूर्व उस स्थान का निरीक्षण कर कोमल पिच्छिका से परिमार्जन करते हैं। यह उनकी ''आदान निक्षेपण'' समिति कहलाती है। अपने मलमूत्र का त्याग दूर, एकान्त, विस्तृत, सूखे एवं जन्तुरहित ऐसे स्थान पर करते हैं जहाँ किसी को आपत्ति न हो। ''व्युत्सर्ग'' समिति का यही स्वरूप है।

पञ्चेन्द्रिय रोध - जैन मुनि चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हैं तथा इन्द्रिय विषयों की ओर आकृष्ट होकर इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करते। यह पाँच इन्द्रिय-निरोध नामक मूल गुण है।

1. त.सू. 7/9

छह आवश्यक - वे सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग रूप छह आवश्यकों का पालन करते हैं। यह छह कार्य उन्हें अवश्य करने होते हैं। इसलिए इन्हें आवश्यक संज्ञा दी गई है।

सम की आय करना अर्थात् प्राणियों के प्रति समता धारण कर आत्मकेन्द्रित होना ''सामायिक'' कहलाता है। इसे समता भी कहते हैं। जैन मुनि समस्त राग-द्वेष, मोह आदि विकारी भावों से दूर होकर, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, काँच-कञ्चन तथा जीवन-मरण सब में समभाव धारण कर सभी प्रकार की पापात्मक प्रवृत्तियों से दूर हो जाते हैं। यह समता ही साधुत्व का कवच है। चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का बखान करना ''स्तुति'' कहलाती है। अरहन्त, सिद्धों की प्रतिमा को एवं आचार्य आदि को मन, वचन, काय से प्रणाम करना ''वन्दना'' है। स्तुति और वंदना से तीर्थंकरों के गुणों का चिन्तन होता है। इससे आत्म-परिणामों में विशुद्धि आती है। स्वकृत अपराधों का स्वीकृतिपूर्वक शोधन करना ''प्रतिक्रमण'' कहलाता है। प्रतिक्रमण का तात्पर्य है- ''पीछे हटना''। किसी दोष के हो जाने पर जैन मुनि निन्दापूर्वक उस दोष को निःसंकोच स्वीकार कर पुनः विशुद्ध चारित्र धारण कर लेते हैं। भविष्य में लग सकने वाले दोषों से बचने के लिए अयोग्य वस्तुओं के त्याग को ''प्रत्याख्यान'' कहा जाता है। शरीर का ममत्व त्यागकर पञ्चपरमेष्ठियों का स्मरण करना और आत्मस्वरूप में लीन होना ''कायोत्सर्ग'' का लक्षण है।

जैन मुनि प्रतिदिन दोनों समय अर्थात् दिन व रात्रि में इन्हें अवश्य करते हैं। सामायिक आदि जैन मुनि के नित्यकर्म हैं।

अस्नान - शरीर से ममत्व रहित होने के कारण वे स्नान भी नहीं करते हैं, न ही किसी प्रकार से अपने शरीर का संस्कार करते हैं। इतना होने पर भी उनके शरीर से किसी प्रकार की दुर्गन्ध नहीं आती, क्योंकि दिगम्बर मुद्रा होने के कारण वायु और धूप से उनके शरीर की शुद्धि होती रहती है।

अदन्तधावन - जैन मुनि दातौन, मञ्जन आदि से दन्त धावन भी नहीं करते। भोजन करने के समय ही गृहस्थ के यहाँ मुख-शद्धि कर लेते हैं।

भू-शयन - जैन मुनि गद्दे, तकिया अथवा अन्य किसी प्रकार की शय्या पर शयन नहीं करते, अपितु अपने स्वाध्याय, ध्यान एवं पद-विहार-जन्य थकान को दूर करने के लिए भूमि, शिला, लकड़ी के पाटे, सूखे घास एवं चटाई आदि पर ही विश्राम करते हैं।

स्थिति भोजन-एक भुक्ति - जैन मुनि भोजन खड़े होकर लेते हैं, वह भी दिन में एक ही बार। जैन-मुनि शरीर को एक गाड़ी की तरह समझते हैं। उसके सहारे ही वे अपनी संयम-यात्रा को पूर्ण करते हैं। जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए उसमें तेल डालना जरूरी है उसी प्रकार शरीर रूपी गाड़ी को चलाने के लिए वे चौबीस घण्टे में एक बार खड़े-खड़े अपने हाथों को ही पात्र बनाकर गोचरी वृत्ति से आहार करते हैं। गाय जिस प्रकार घास डालने वाले व्यक्ति पर थोड़ी भी नजर न डालकर अपने आहार को लेती है, उसी प्रकार जैन मुनि देवागंनाओं के समान सुन्दरियों के द्वारा भी भक्तिपूर्वक आहार देने पर, निर्मल मनोवृत्ति से भोजन करते हैं। उनकी आहार चर्या को भ्रामरी वृत्ति भी कहा गया है। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों को पीड़ा पहुँचाए बिना उसके रस को ग्रहण करता है, उसी प्रकार वे भी ग्रहस्थ के यहाँ अपने लिए बनाया गया रूखा-सूखा, सरस-विरस, जैसा भी भोजन मिलता है, शान्तभावपूर्वक ग्रहण करते हैं। उससे गृहस्थों को किञ्चित् भी कष्ट नहीं होता, अपितु जैसे भ्रमरों के मधुर गुंजार से फूल और भी अधिक खिल उठते हैं उसी प्रकार घर पर सत् पात्र का आहार होने से गृहस्थ का हृदय-कमल भी खिल उठता है।

श्रावक आहार-दान की इन घड़ियों को अपनी जीवन की सुनहरी घड़ियों में गिनता है, क्योंकि साधु को आहार देने से उसके गृहस्थी के कार्यों से अर्जित समस्त पाप धुल जाते हैं। जैन-मुनि दीनतापूर्वक आहार नहीं लेते। गृहस्थ जब श्रद्धा-भक्ति जैसे गुणों से युक्त होकर पूर्वकथित ''नवधा भक्ति'' पूर्वक उन्हें आहार करने का निवेदन करता है तब वे शुद्ध-सात्विक, अपनी तपश्चर्या में सहायक आहार, खड़े होकर अपने कर-पात्र में ही ग्रहण करते हैं। भोजन के काल में वे किसी भी प्रकार की याचना नहीं करते, बल्कि जिस प्रकार मकान में आग लग जाने पर जिस किसी प्रकार के जल से उसे बुझाने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ द्वारा दी जाने वाली सरस-विरस जिस किसी प्रकार के भोजन को भी समतापूर्वक ग्रहण कर अपने पेट की अग्नि बुझाने का प्रयास करते हैं।

केशलोंच- अपने हाथों से अपने बालों को उखाड़ना केशलोंच कहलाता है। जैन मुनि दो माह से चार माह के भीतर अपने हाथों से सिर और दाढ़ी-मूँछ के बाल उखाड़कर केशलोंच करते हैं। केशलोंच करने का उद्देश्य शरीर के प्रति निर्ममत्व एवं स्वाधीनता की भावना को बल पहुँचाना है। बाल (केश) बढ़ाकर

रखने पर उनमें जुएँ, लीख आदि जन्तु हो जाते हैं। नाई आदि से कटवाने पर दूसरों से याचना करने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए जैन-मुनि अपने ही हाथों से अपने बालों को उखाड़कर अलग कर देते हैं। इस क्रिया में शरीर से निर्ममत्व तो होता ही है, खरे-खोटे साधु की पहचान भी हो जाती है। जो लोग वैराग्य से प्रेरित न होकर अन्य किसी उद्देश्य से मुनिधर्म को अङ्गीकार करते हैं, वे केशलोंच जैसे कठिन कर्म से घबराकर दूर हो जाते हैं। ऐसा करने से पाखण्डियों से साधु संघ का बचाव हो जाता है।

नग्नता अशिष्टता नहीं

जैन-मुनि किसी प्रकार का वस्त्र/आवरण अपने शरीर पर नहीं डालते। वे दिशाओं को ही अपना वस्त्र बना नग्न दिगम्बर रूप धारण करते हैं। कुछ लोग उनकी इस नग्नता को अशिष्टता एवं असभ्यता मानते हैं, लेकिन नग्नता अशिष्टता नहीं है। यह तो मनुष्य की आदर्श स्थिति है। मनुष्य का प्राकृतिक रूप ही दिगम्बर है। वस्त्र तो विकारों को ढाँकने का साधन है। जैसे जन्म लेते समय बालक नग्न रहता है उस क्षण उसके अन्तस् में किसी प्रकार का विकार नहीं रहता तथा उसे देखने वालों के मन में भी कोई वासना या विकार का भाव नहीं आता। जैसे-जैसे उसके अन्दर विकार आने लगते हैं, वह वस्त्र धारण करने लगता है। जैनमुनि अपने वस्त्रों का परित्याग कर अपनी प्राकृतिक अवस्था की ओर लौट आते हैं। उनकी स्थिति यथाजात बालक की तरह निर्विकार रहती है, अतः इसके अशिष्टता या असभ्यता जैसी कोई बात ही नहीं है। वस्तुतः किसी बाह्य रूप या क्रिया की शिष्टता एवं अशिष्टता का निर्णय भीतरी प्रयोजन की निर्मलता या अपवित्रता पर निर्भर करता है। आन्तरिक प्रयोजन के मलिन होने पर ही उसकी प्रेरणा से किया गया कार्य अशिष्टता के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार दिगम्बरत्व तो विकारों पर विजय पाने का वैज्ञानिक साधन है। दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा में गाँधीजी के निम्न वाक्य दृष्टव्य है।[1]

''वास्तव में देखा जाये तो कुदरत ने चर्म के रूप में मनुष्य को योग्य पोशाक पहनाई है। नग्न शरीर कुरूप दिखाई पड़ता है, ऐसा मानना हमारा भ्रम मात्र है। उत्तम से उत्तम सौन्दर्य के चित्र तो नग्नावस्था में ही दिखाई पड़ते हैं। पोषाक से साधारण अङ्गों को ढाँककर मानो हम कुदरत के दोषों को दिखा रहे हैं। जैसे-जैसे

1. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि से उद्धृत, पृ.10

हमारे पास ज्यादा पैसे होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही हम सजावट बढ़ाते जाते हैं। कोई किसी भाँति रूपवान् बनना चाहता है, और बन-ठनकर काँच में मुँह देखकर प्रसन्न होते हैं कि ''वाह मैं कैसा खूबसूरत हूँ।'' बहुत दिनों के ऐसे अभ्यास के कारण हमारी दृष्टि खराब न हो गई हो तो हम तुरन्त ही देख सकेंगे कि मनुष्य का उत्तम से उत्तम रूप उसकी नग्नावस्था में ही है और उसी में उसका आरोग्य है।''

विदेशी विद्वान् श्रीमती स्टीवेन्सन अपनी पुस्तक "The Heart of jainism" के पृष्ठ क्रमांक 35 में दिगम्बरत्व को निश्चिन्तता का साधन बताते हुए लिखती हैं- ''वस्त्रों से विमुक्त रहने के कारण मनुष्य के पास अन्य चिन्ताएँ नहीं रहतीं। उसे कपड़े धोने के लिए पानी की भी जरूरत नहीं पड़ती। निग्रन्थ लोगों ने/दिगम्बर जैन मुनियों ने पाप-पुण्य, भले-बुरे का भेद-भाव मिटा दिया है। वे भला अपनी नग्नता को छुपाने के लिए वस्त्रों को क्यों धारण करें।''[1]

इतिहासातीत काल से आज तक दिगम्बर जैन साधुओं का प्रतिष्ठापूर्वक विहार होता रहा है। यहाँ तक कि मुगलकाल में भी जैन मुनियों ने सम्मानपूर्वक विहार कर अपने अमृतोपदेश से इस धरावासियों को उपकृत किया है।[2] प्रो. आयंगर ने लिखा है कि ''जैन आचार्य अपनी चारित्र सिद्धियों एवं ज्ञान के कारण अलाउद्दीन और औरंगजेब जैसे बादशाहों से भी वन्दित थे।''[3] औरंगजेब के समय में भारत आने वाले डॉ. वर्नियर ने लिखा कि ''मुझे बहुधा देशी रियासतों में दिगम्बर मुनियों का समुदाय मिलता था। मैंने उन्हें बड़े शहरों में पूर्ण रूप से नग्न विहार करते हुए देखा है तथा उनकी ओर स्त्रियों तथा लड़कियों को बिना किसी विकारयुक्त दृष्टिपात करते हुए ही देखा है। उन महिलाओं के अन्तःकरण में वे ही भाव होते थे जो सड़क पर से जाते हुए किसी साधु के देखने पर होते हैं। महिलाएँ भक्तिपूर्वक उनको बहुधा आहार कराती थीं।''[4]

---

1. Being rid of clothes is also rid a lot of other worries. No water is needed in which to wash them. The Nirgranths have forgotton all knowledge of good and evel why should they clothes to hide their nakedness. **- Heart of jainism, Page 35**
2. देखें दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृ. 55-60
3. The jain Acharyas by their charactor attainmets and scholarship commanded the respect of even Muhammadan Sovereigns like Allauddin and Aurangzb Badushah.
   - Iyenger's Studies in South Indian jainsm, Part II, Page 132
   देखें जैन शासन पृ. 126
4. I have often met generally in the terretory of some Raja bands of these naked fakirs. I have seen them walk-stark naked through a large town, women and girls

इतना ही नहीं उस काल में जैन मुनियों का सबसे अधिक सम्मान था। वे सर्वत्र आ-जा सकते थे। इस बात को बताते हुए एक अन्य विद्वान् मेकक्रिण्डल लिखते हैं- ''दिगम्बर विहार करने वाले ये जैन-मुनि कष्टों की परवाह नहीं करते थे। वे सबसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रत्येक धनी व्यक्ति का घर उनके लिए उन्मुक्त था। यहाँ तक कि वे अन्तःपुर में भी जा सकते थे।''[1]

इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर जैन मुनियों को यह सम्मान उनकी निर्विकारता और तपस्विता के प्रभाव से ही मिलता था। यदि यह असभ्यता या अशिष्टता का प्रतीक होता तो उन्हें उस काल में इतना सम्मान मिलना नामुमकिन था।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शरीर का दिगम्बरत्व स्वयं साध्य नहीं साधन है। दिगम्बरत्व के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती है। इस बात को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जहाँ एक ओर कहा है कि-

''णग्गो हि मोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्ग गया सव्वे''[2]

अर्थात् दिगम्बर रूप ही मोक्षमार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं। वहीं यह भी लिखा है कि शारीरिक दिगम्बरत्व के साथ-साथ मानसिक दिगम्बरत्व भी अनिवार्य है। तन नग्न होने के साथ-साथ मन का नग्न होना भी आत्मसाधना के लिए अनिवार्य है। यदि शरीर की नग्नता साधन न होकर स्वयं साध्य होती तो जन्म से ही दिगम्बर रहने वाले पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियों को कभी की मुक्ति मिल गयी होती।[3]

इस प्रकार इन अट्ठाईस मूलगुणों का सम्यक्रूप से पालन करने वाले साधक ही आदर्श जैन मुनि कहलाते हैं। इसके बिना, शरीर मात्र से नग्न, स्वच्छन्द आचरण करने वाले किसी अन्य नामधारी साधु को जैन मुनि नहीं माना जा

---

looking at them without any more emotion then may be created, when a hermit passes through out streets females often bring them alms with much devotion Doubtless believing that they were holy personages more chaste and discreet then other men.

- Bernier Travels in the mugal Empire, Page- 317

- देखें दि. और दि. मुनि, पृ. 156

1. These men (jain Saints) went about naked innate themselves to hardships and were holding highest honour. Every wealthy house is open for them even to the apartments of the women

- Mc. Crindle's Ancient Indian, Page 71-72

देखें जैन शासन पृ. 112

2. सू.पा. 23
3. भा. पा. 67

सकता। उक्त अट्ठाईस मूलगुण ऐसे व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक नियम हैं जो एक व्यक्ति को सच्चा साधु बना देते हैं। ये नियम ही दिगम्बर जैन परम्परा को बाँधे हुए हैं। यदि उक्त वैज्ञानिक नियम प्रवाह जैन-धर्म में न होता तो अन्य नग्न साधुओं की तरह दिगम्बर जैन साधुओं में भी बहुत-सी विकृतियाँ आ गईं होतीं या उनके दर्शन दुर्लभ हो जाते।

उक्त अट्ठाईस मूलगुणों के अतिरिक्त जैन मुनि पूर्वकथित दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह जय, तीन गुप्तियाँ तथा बारह प्रकार के तप आदि संवर और निर्जरा के अङ्गभूत साधनों को भी अपनाते हैं।

साधु के भेद

जैन मुनियों के अलग-अलग कर्त्तव्यों की अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय और साधु के रूप में तीन भेद किये गये हैं। तीनों अपने-अपने पद के अनुरूप मुनिव्रत का पालन करते हैं।

आचार्य - आचार्य का पद जैन-मुनियों में सर्वोच्च पद होता है। वे मुनि धर्म सम्बन्धी आचरण का स्वयं पालन करते हैं तथा अन्य मुनियों से भी वैसा आचरण कराते हैं। वे धर्मोपदेश देकर मुमुक्षुओं का संग्रह करते हैं तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा पूर्ण कराकर उनका अनुग्रह करते हैं। आचार्य जैन मुनियों के गुरु कहलाते हैं। वे मुनिसंघ के नायक होते हैं।

उपाध्याय - उपाध्याय साधुओं के नियम पालते हुए संघ में पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, करवाते हैं।

साधु - जो मात्र उपर्युक्त अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करते हुए ज्ञान-ध्यान और तप में लीन रहते हैं वे साधु कहलाते हैं।

इस प्रकार जैन मुनि स्व और पर का हित करते हुए साधना रत रहते हैं तथा जीवन के अन्त में सल्लेखनापूर्वक देहोत्सर्ग करते हैं।

आर्यिका

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी उत्कृष्ट संयम धारण कर मोक्षमार्ग में अग्रसर हो सकती हैं। उत्कृष्ट संयम धारण करने वाली स्त्रियाँ आर्यिका कहलाती हैं। आर्यिकाओं का समस्त आचार प्रायः मुनियों के समान ही होता है। अन्तर मात्र इतना है कि

पर्यायगत मर्यादा के कारण आर्यिकाएँ मुनियों की तरह निर्वस्त्र नहीं रहतीं, अपितु शरीर पर एक सफेद साड़ी धारण करती हैं। उसी तरह मुनियों की भाँति खड़े होकर आहार करने की अपेक्षा बैठकर ही अपनी अञ्जलि पुटों में आहार करती हैं। आर्यिकाएँ दो-तीन आदि आर्यिकाओं के समूह में रहती हैं। इनकी प्रधान गणनी कहलाती है जिनके निर्देशन में ये अपने संयम का अनुपालन करती हैं। इनके महाव्रतों को औपचारिक महाव्रत कहा जाता है। आर्यिकाएँ क्षुल्लक, ऐलक से उच्च श्रेणी की मानी गयी हैं।

सल्लेखना

- सल्लेखना का उद्देश्य
- सल्लेखना क्या है?
- सल्लेखना आत्मघात नहीं
- सल्लेखना का महत्त्व
- सल्लेखना की विधि
- सल्लेखना के अतिचार

सल्लेखना

सल्लेखना का उद्देश्य

सूरज और चाँद के उदय और अस्त होने की तरह जन्म और मृत्यु प्रकृति के शाश्वत नियम हैं। जन्म लेने वाले का मरण सुनिश्चित है। संसार में कोई व्यक्ति अमर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को मरना पड़ता है। इस मृत्यु से अपरिचय और वर्तमान जीवन के प्रति व्यामोह रहने के कारण व्यक्ति उसके नाम से ही डरते हैं। उससे बचने के अनेक उपाय करते हैं, किन्तु बड़ी-बड़ी औषधि, चिकित्सा, मन्त्र-तन्त्र आदि का प्रयोग करने के बाद भी कोई बच नहीं सकता। बड़े-बड़े महाबली योद्धाओं का बल भी इस कालबली के सामने निरर्थक सिद्ध होता है और एक दिन सभी इस काल के गाल में समाकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता को समझने वाला जैन-साधक मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर भी उनसे घबराता नहीं है, अपितु उसके स्वागत में मृत्यु को भी मृत्यु-महोत्सव में बदल देता है। वह यह सोचता है कि मरने से तो मृत्यु से कोई बच नहीं सकता, चाहे वह राजा हो या रंक, मन्त्री हो या सन्त्री, पण्डित हो या मूर्ख, धनी हो या निर्धन, सभी को मरना है। यदि मैं प्रसन्नतापूर्वक मरता हूँ, तो भी मुझे मरना है और यदि विषादपूर्वक मरता हूँ, तो भी मुझे मरना है। जब सब परिस्थितियों में मरण अनिवार्य और अपरिहार्य है तो मैं ऐसे क्यों न मरूँ कि मेरा सुमरण हो जाये। इस मरण का ही मरण हो जाये। यह सोचकर वह सल्लेखना या समाधिमरण धारण कर लेता है।

सल्लेखना क्या है?

''सल्लेखना'' (सत्-लेखना) अर्थात् अच्छी तरह से काया और कषायों को कृश करने को 'सल्लेखना' कहते हैं।[1] इसे ही समाधिमरण भी कहते हैं। मरणकाल

1. सम्यक् काय कषाय लेखना सल्लेखना। सर्वा. सि. 7/22, पृ. 280

समुपस्थित होने पर सभी प्रकार के विषाद को छोड़कर समतापूर्वक देह-त्याग करना ही समाधिमरण या सल्लेखना है। जैन साधक मानव-शरीर को अपनी साधना का साधन मानते हुए, जीवन पर्यन्त उसका अपेक्षित रक्षण करता है, किन्तु अत्यन्त वृद्धापन इन्द्रियों की शिथिलता, अत्यधिक दुर्बलता अथवा मरण के अन्य कोई कारण उपस्थित होने पर जब शरीर उसके संयम में साधक न होकर बाधक दिखने लगता है, उसे अपना शरीर अपने लिए ही भार भूत-सा प्रतीत होने लगता है, तब वह सोचता है कि यह शरीर तो मैं कई बार प्राप्त कर चुका हूँ। इसके विनष्ट होने पर भी यह पुनः मिल सकता है। शरीर के छूट जाने पर मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होगा, किन्तु जो व्रत, संयम और धर्म मैंने धारण किये हैं ये मेरे जीवन की अमूल्य निधि हैं। बड़ी दुर्लभता से इन्हें मैंने प्राप्त किया है। इनकी मुझे सुरक्षा करनी चाहिए। इन पर किसी प्रकार की आँच न आए ऐसे प्रयास मुझे करना चाहिए, ताकि मुझे बार-बार शरीर धारण न करना पड़े और मैं अपने अभीष्ट सुख को प्राप्त कर सकूँ।[1] यह सोचकर वह बिना किसी विषाद के चित्त की प्रसन्नतापूर्वक आत्मचिन्तन के साथ आहार आदि का क्रमशः परित्याग कर देहोत्सर्ग करने को उत्सुक होता है, इसी का नाम 'सल्लेखना' है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं

देह-त्याग की इस प्रक्रिया को नहीं समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे आत्मघात कहते हैं, किन्तु सल्लेखना आत्मघात नहीं है। जैन-धर्म में आत्मघात को पाप, हिंसा एवं आत्मा का अहितकारी कहा गया है। यह ठीक है कि आत्मघात और सल्लेखना दोनों में प्राणों का विमोचन होता है, पर दोनों की मनोवृत्ति में महान् अन्तर है। आत्मघात जीवन के प्रति अत्यधिक निराशा एवं तीव्र मानसिक असन्तुलन की स्थिति में किया जाता है, जबकि सल्लेखना परम उत्साह से समभाव धारण करके की जाती है। आत्मघात कषायों से प्रेरित होकर किया जाता है, तो सल्लेखना का मूलाधार समता है। आत्मघाती को आत्मा की अविनश्वरता का भान नहीं होता, वह तो दीपक के बुझ जाने की तरह शरीर के विनाश को ही जीवन की मुक्ति समझता है, जबकि सल्लेखना का प्रमुख आधार आत्मा की अमरता को समझकर अपनी परलोक यात्रा को सुधारना है। सल्लेखना जीवन के

---

1. (अ) भ.आ. मू. 71-74 (ब) र. क. श्रावकाचार 122
(स) तत्त्वार्थ वार्तिक 7/21/11

अन्त समय में शरीर की अत्यधिक निर्बलता अनुपयुक्तता, भार-भूतता अथवा मरण के किसी अन्य कारण के आने पर मृत्यु को अपरिहार्य मानकर की जाती है; जबकि आत्मघात जीवन में किसी भी क्षण किया जा सकता है। आत्मघाती के परिणाम में दीनता, भीति और उदासी पायी जाती है; तो सल्लेखना में परम उत्साह, निर्भीकता और वीरता का सद्भाव पाया जाता है। आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है; तो सल्लेखना निर्विकार मानसिकता का फल है। आत्मघात में जहाँ मरने का लक्ष्य है; तो सल्लेखना का ध्येय मरण के योग्य परिस्थिति निर्मित होने पर अपने सद्गुणों की रक्षा का है, अपने जीवन के निर्माण का है। एक का लक्ष्य अपने जीवन को बिगाड़ना है तो दूसरे का लक्ष्य जीवन को सँवारने/सम्भालने का है।

आचार्य श्री पूज्यपाद ''स्वामी'' ने सर्वार्थसिद्धि में एक उदाहरण से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- किसी गृहस्थ के घर में बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हो और कदाचित् भीषण अग्नि से घर जलने लगे तो वह येन-केन-प्रकारेण उसे बुझाने का प्रयास करता है। पर हर सम्भव प्रयास के बाद भी, यदि आग बेकाबू होकर बढ़ती ही जाती है, तो उस विषम परिस्थिति में वह चतुर व्यक्ति अपने मकान का ममत्व छोड़कर बहुमूल्य वस्तुओं को बचाने में लग जाता है। उस गृहस्थ को मकान का विध्वंसक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने तो अपनी ओर से रक्षा करने की पूरी कोशिश की, किन्तु जब रक्षा असम्भव हो गयी तो एक कुशल व्यक्ति के नाते बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना ही उसका कर्त्तव्य बनता है। इसी प्रकार रोगादिकों से आक्रान्त होने पर एकदम से सल्लेखना नहीं ली जाती। वह तो शरीर को अपनी साधना का विशेष साधन समझ यथासम्भव उसका योग्य उपचार/प्रतिकार करता है, किन्तु पूरी कोशिश करने पर भी, जब वह असाध्य दिखता है, और निःप्रतिकार प्रतीत होता है तो उस विषम परिस्थिति में मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर अपने व्रतों की रक्षा में उद्यत होता हुआ, अपने संयम की रक्षा के लिए समता भावपूर्वक मृत्युराज के स्वागत में तत्पर हो जाता है।[1]

सल्लेखना को आत्मघात नहीं कहा जा सकता। यह तो देहोत्सर्ग की तर्कसंगत और वैज्ञानिक पद्धति है, जिससे अमरत्व की उपलब्धि होती है। सल्लेखना की

1. सर्वा. सि. 7/22

इसी युक्तियुक्तता एवं वैज्ञानिकता से प्रभावित होकर बीसवीं शताब्दी के विख्यात सन्त ''आचार्य विनोबा भावे'' ने जैनों की इस साधना को अपनाकर सल्लेखना पूर्वक देहोत्सर्ग किया था।

सल्लेखना का महत्त्व

सल्लेखना को साधना की अन्तिम क्रिया कहा गया है। अन्तिम क्रिया यानि मृत्यु के समय की क्रिया को सुधारना अर्थात् काय और कषाय को कृश करके सन्यास धारण करना, यही जीवन भर के तप का फल है।[1] जिस प्रकार वर्ष भर विद्यालय में जाकर अध्ययन करने वाला विद्यार्थी, यदि परीक्षा में नहीं बैठता, तो उसकी वर्ष भर की पढ़ाई निरर्थक रह जाती है, उसी प्रकार जीवन भर साधना करते रहने के उपरान्त भी यदि सल्लेखनापूर्पक मरण नहीं हो पाता, तो साधना का वास्तविक फल नहीं मिल पाता। इसलिए प्रत्येक साधक को सल्लेखना अवश्य करनी चाहिए। मुनि और श्रावक दोनों के लिए सल्लेखना अनिवार्य है।[2] यथाशक्ति इसके लिए प्रयास करना चाहिए। जिस प्रकार युद्ध का अभ्यासी पुरुष रणाङ्गन में सफलता प्राप्त करता है उसी प्रकार पूर्व में किये गये अभ्यास के बल से ही सल्लेखना सफल हो पाती है।[3] अतः जब तक इस भव का अभाव नहीं होता तब तक हमें प्रति समय ''समतापूर्वक मरण हो'' इस प्रकार का भाव और पुरुषार्थ करना चाहिए। वस्तुतः सल्लेखना के बिना साधना अधूरी है। जिस प्रकार किसी मन्दिर के निर्माण के बाद जब तक उस पर कलशारोहण नहीं होता, तब तक वह शोभास्पद नहीं लगता; उसी प्रकार जीवन भर की साधना, सल्लेखना के बिना अधूरी रह जाती है। सल्लेखना साधना के मण्डप में किया जाने वाला कलशारोहण है।

सल्लेखना की विधि

सल्लेखना या समाधि का अर्थ एक साथ सब प्रकार के खान-पान का त्याग करके बैठ जाना नहीं है, अपितु उसका एक निश्चित क्रम है। उस क्रम का ध्यान रखकर ही सल्लेखना करनी/करानी चाहिए। इसका ध्यान रखे बिना एक साथ ही

1. अन्तः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
   तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ र. क. श्रा. 123
2. मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता। त.सू. 7/22
3. भग. आ. मू. 20-21

सब प्रकार के खान–पान का त्याग करा देने से साधक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। कभी–कभी तो उसे अपने संयम से च्युत भी हो जाना पड़ता है। अतः साधक को किसी भी प्रकार की आकुलता न हो और वह क्रमशः अपनी काया और कषायों को कृश करता हुआ, देहोत्सर्ग की दिशा में आगे बढ़े, इसका ध्यायन रखकर ही सल्लेखना की विधि बनायी गयी है।

सल्लेखना की विधि में कषायों को कृश करने का उपाय बताते हुए कहा गया है कि साधक को सर्वप्रथम अपने कुटुम्बियों, परिजनों एवं मित्रों से मोह, अपने शत्रुओं से बैर तथा सब प्रकार के बाह्य पदार्थों से ममत्व का शुद्ध मन से त्यागकर, मिष्ट वचनों के साथ अपने स्वजनों और परिजनों से क्षमा याचना करनी चाहिए तथा अपनी ओर से भी उन्हें क्षमा करनी चाहिए। उसके बाद किसी योग्य गुरु (निर्यापकाचार्य) के पास जाकर कृत कारित अनुमोदन से किये गये सब प्रकार के पापों का छलरहित आलोचना कर, मरणपर्यन्त के लिए महाव्रतों को धारण करना चाहिए। उसके साथ ही उसे सब प्रकार के शोक, भय, सन्ताप, खेद, विषाद, कालुष्य, अरति आदि अशुभ भावों को त्याग कर अपने बल, वीर्य, साहस और उत्साह को बढ़ाते हुए गुरुओं के द्वारा सुनाई जाने वाली अमृत–वाणी से अपने मन को प्रसन्न रखना चाहिए। कषाय सल्लेखना का यह संक्षिप्त रूप है। इसका विशेष कथन ग्रन्थों से जानना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कषायों को कृश करने के साथ वह अपनी काया को कृश करने हेतु सर्वप्रथम स्थूल/ठोस आहार दाल–भात, रोटी जैसे का त्याग करता है तथा दुग्ध, छाछ आदि पेय पदार्थों पर निर्भर रहने पर अभ्यास बढ़ाता है। धीरे–धीरे जब दूध, छाछ आदि पर रहने का अभ्यास हो जाता है, तब वह उनका भी त्याग कर मात्र गर्म जल ग्रहण करता है। इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक अपने उक्त अभ्यास और शक्ति को बढ़ाकर, धीरजपूर्वक, अन्त में उस जल का भी त्याग कर देता है और अपने व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए 'पञ्च–नमस्कार' मन्त्र का स्मरण करता हुआ शान्तिपूर्वक इस देह का त्यागकार परलोक को प्रयाण करता है।[1]

1. र. क. श्रा. 122–130

सल्लेखना के अतिचार

सल्लेखनाधारी साधक को अपनी, सेवा सुश्रुषा होती देखकर अथवा अपनी इस साधना से बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के लोभ में और अधिक जीने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। ''मैंने आहारादि का त्याग तो कर दिया है, किन्तु मैं अधिक समय तक रहूँ, तो मुझे भूख-प्यास आदि की वेदना भी हो सकती है, इसलिए अब और अधिक न जीकर शीघ्र ही मर जाऊँ तो अच्छा है।'' इस प्रकार मरण की आकांक्षा भी नहीं करनी चाहिए। ''सल्लेखना तो धारण कर ली है, पर ऐसा न हो कि क्षुधा आदि की वेदना बढ़ जाए और मैं उसे सह न पाऊँ।'' इस प्रकार का भय भी मन से निकाल देना चाहिए। ''अब तो मुझे इस संसार से विदा होना ही है, किन्तु एक बार मैं अपने अमुक मित्र से मिल लेता तो बहुत अच्छा होता।'' इस प्रकार का भाव मित्रानुराग है। सल्लेखनाधारी साधक को इससे भी बचना चाहिए। ''मुझे इस साधना के प्रभाव से आगामी जन्म में विशेष भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त हो'', इस प्रकार का विचार करना निदान है। साधक को इससे भी बचना चाहिए। जीने-मरने की चाह, भय, मित्रों से अनुराग और निदान ये पाँचों सल्लेखना को दूषित करने वाले अतिचार हैं।[1] साधक को इनसे बचना चाहिए। जो एक बार अतिचार रहित होकर सल्लेखनापूर्वक मरण प्राप्त करता है, वह अति शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है। जैन-शास्त्रों के अनुसार सल्लेखनापूर्वक मरण करने वाला साधक या तो उसी भव से मुक्त हो जाता है या एक या दो भव के अन्तराल से। ऐसा कहा गया है कि सल्लेखनापूर्वक मरण होने से अधिक से अधिक सात-आठ भवों में तो मुक्ति हो ही जाती है।[2] इसीलिए जैन साधना में सल्लेखना को इतना महत्त्व दिया गया है तथा प्रत्येक साधक ''श्रावक और मुनि दोनों'' को जीवन के अन्त में प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करने का उपदेश दिया गया है।

---

1. र. क. श्रा. 129
2. प्रतिक्रमण सूत्र

अनेकान्त और स्याद्वाद

- **अनेकान्त**
  - अनेकान्त का अर्थ
  - वस्तु अनेकान्तात्मक है
  - विरोध में अविरोध कैसे?
  - अनेकान्त की आवश्यकता
- **स्याद्वाद**-
  - स्याद्वाद का अर्थ
  - स्याद्वाद का अर्थ शायदवाद नहीं
  - नित्य व्यवहार की वस्तु
- **सप्तभङ्गी**-
  - सप्तभङ्गी-का अर्थ
  - भङ्ग सात ही क्यों?
  - अनेकान्त स्याद्ववाद और सप्त भङ्गी-में सम्बन्ध

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त

अनेकान्त जैन-दर्शन का हृदय है। समस्त जैन वाङ्मय अनेकान्त के आधार पर वर्णित हैं, उसके बिना जैन-दर्शन को समझ पाना दुष्कर है। अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तु तत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। जैन-दर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है। उसमें परस्पर विरोधी अनेक गुण धर्म हैं। हम अपनी एकान्त दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर सकते। वस्तु के समग्र बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है। वह अनेकान्त की दृष्टि अपनाने पर ही सम्भव है। अनेकान्त दर्शन बहुत व्यापक है, इसके बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता। समस्त व्यवहार और विचार इसी अनेकान्त की सुदृढ़ भूमि पर ही टिका है। अतः उसके स्वरूप को जान लेना भी जरुरी है।

अनेकान्त

''अनेकान्त'' शब्द अनेक और अन्त इन दो शब्दों के सम्मेल से बना है। ''अनेक का अर्थ होता है एक से अधिक, नाना। अन्त का अर्थ है धर्म।'' यद्यपि अन्त का अर्थ विनाश, छोर आदि भी होता है पर वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्मों का पिण्ड है। वह सत् भी है असत् भी, एक भी है अनेक भी, नित्य भी है अनित्य भी। इस प्रकार परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगल वस्तु में अर्न्तगर्भित है। उसका परिज्ञान हमें एकान्त दृष्टि से नहीं हो सकता, उसके लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि चाहिए।

वस्तु अनेकान्तात्मक है।

प्रत्येक पदार्थ जहाँ अपने स्वरूप की अपेक्षा सत् है वहीं पर रूप की अपेक्षा वह असत् भी है। यथा घट अपने स्वरूप की अपेक्षा ही सत् है, वहीं पर रूप की

अपेक्षा असत् है। इसी तरह वह अपने अखण्ड गुण-धर्मों की अपेक्षा एक है तथा अपने रूप, रस आदि अनेक गुणों की अपेक्षा अनेक है। प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय ''उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक'' परिणमन होता आ रहा है। प्रतिसमय परिणमनशील होने के बाद भी उसकी चिरसन्तति सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती, इसलिए वह नित्य है तथा उसकी पर्याय प्रति समय बदल रही है इस अपेक्षा से वह अनित्य भी है। इस प्रकार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्मों का पिण्ड है। इस दृष्टि से हम कहें कि वस्तु बहुमुखी है, बहुआयामी है। उसके एक पक्ष को ग्रहण करके उसका पूर्ण परिचय नहीं पाया जा सकता। हम अपने एकाङ्गी/एक कोणिक/एकपक्षीय दृष्टि से वस्तु के एकांश को ही जान सकते हैं। वस्तु के विराट् स्वरूप को बहुमुखीन दृष्टि से ही समझा जा सकता है, तभी उसका समग्र बोध होगा। इस प्रकार अनेकान्त का अर्थ हुआ वस्तु का समग्र बोध कराने वाली दृष्टि।

विरोध में अविरोध कैसे?

एक ही वस्तु परस्पर विरोधी धर्म वाली कैसे हो सकती है? यह बात सामान्य व्यक्ति के मन में उठ सकती है; किन्तु हम वस्तु तत्त्व पर गहराई से विचार करें तो जगत् के चराचर सभी पदार्थ परस्पर विरोधी ही दिखाई पड़ेंगे। यह सब अनेकान्तात्मक दृष्टि में ही सम्भव है, क्योंकि वस्तु को हम जैसा देखना चाहें, वस्तु हमें वैसी ही दिखती है। पानी से भरे आधे गिलास को हम यह भी कह सकते हैं कि 'गिलास आधा भरा है' तथा यह भी कहा जा सकता है कि 'गिलास आधा खाली है।' यह सब देखने वाले की दृष्टि पर निर्भर है, क्योंकि गिलास खाली भी है और उसी समय भरा भी है। यदि एकान्त आग्रहपूर्वक 'गिलास आधा भरा ही है' 'गिलास आधा खाली ही है', ऐसा कहते हैं तो यह गिलास के साथ अन्याय होगा। यथार्थतः वह खाली और भरा दोनों है। इसी प्रकार जगत् के प्रत्येक पदार्थ हमें अनेकान्तात्मक दिखते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। एक ही अणु में जहाँ आकर्षण शक्ति विद्यमान है, वहाँ विकर्षण शक्ति भी अपना समान अस्तित्व रखती है। उसमें जहाँ संहारकारी शक्ति विद्यमान है वहीं उसमें स्थित-निर्माणकारी शक्ति भी अपना परिचय दे रही है।

जल हमारे जीवन का प्रमुख आधार है। उसके पीने से हमारी प्राण रक्षा होती है, वहीं जल, तैरते समय गुटका लग जाने से जान लेवा सिद्ध होता है। अग्नि

हमारे लिए बहुत उपकारक है, यह सभी जानते हैं। वह हमारे भोजन आदि के निर्माण में सहायक होती है; किन्तु वही अग्नि जब किसी मकान में लग जाती है, तब वह कितनी संहारक होती है, कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार एक ही अग्नि में पाचकत्व और दाहकत्व जैसे दो विरोधी धर्म हमें दिखते ही हैं। जिस भोजन से हमारी क्षुधा दूर होती है, जो भोजन भूखे का प्राण रक्षक होता है, वही भोजन किसी अजीर्णग्रस्त रोगी के लिए विष साबित होता है। विष जो हमारे प्राणों का घातक है वही वैद्यों द्वारा कभी-कभी औषधि के रूप में दिया जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु अमृत और विष दोनों है।

एकान्तवादियों को यह बात समझ में नहीं आ सकती। वे कहते हैं कि "इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को स्वीकार करने पर विरोध उपस्थित होता है।" लेकिन विरोध देखने वाले की दृष्टि में हो सकता है, विरोध वस्तु में नहीं है। वस्तु तो अनेक विरोधी धर्मों का अविरोधी आश्रय स्थल है। विरोध तो तब होता जब अग्नि को जिस दृष्टि से पाचक कहा जाये उसी दृष्टि से दाहक कहते, किन्तु जब परस्पर विरोधी धर्मों का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सापेक्ष कथन किया जाता है तब विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहती। सब कुछ सापेक्ष ही है।

इसे इस उदाहरण से समझें- शिक्षक ने छात्रों के सामने बोर्ड पर एक रेखा खींची और कहा कि "इस रेखा को बिना मिटाये छोटी करो।" सभी छात्र सोच में पड़ गये कि रेखा को मिटाये बिना उसे छोटी कैसे किया जा सकता है? किन्तु एक बुद्धिमान् छात्र उठा, उसने चॉक उठाया और उस रेखा से नीचे बड़ी रेखा खींच दी। पहली रेखा अपने-आप छोटी हो गयी। सारे छात्र चकित थे। शिक्षक ने पुनः कहा- "अब इस रेखा को छोटी करो।" छात्र पुनः उठा और उसके नीचे एक बड़ी रेखा और खींच दी। वह रेखा भी छोटी हो गयी। इस प्रकार एक ही रेखा किसी अपेक्षा से बड़ी है तो किसी अपेक्षा से छोटी भी है। इस उदाहरण में सिर्फ इतना ही बताना है कि उस रेखा में 'लघुत्व' और 'दीर्घत्व' परस्पर विरुद्ध धर्म स्वरूपतः विद्यमान है और उसके ऊपर खींची गयी बड़ी और छोटी रेखाओं के कारण उसमें छोटेपन और बड़ेपन का व्यवहार हुआ। इससे स्पष्ट है कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म विद्यमान हैं। परस्पर विरोधी धर्मों का सही मूल्यांकन सापेक्ष/ अनेकान्त दृष्टि अपनाने पर ही सम्भव है। यदि हम वस्तु के एक धर्म को पकड़कर उसमें ही पूरी वस्तु का निश्चय कर बैठते हैं तो हमें वस्तु का सही परिज्ञान नहीं हो सकता। हमारा ज्ञान अधूरा रहेगा।

सत्य साधक दृष्टि - यह अनेकान्त दृष्टि हमे एकाङ्गी विचार से बचाकर सर्वांगीण विचार के लिए प्रेरित करती है। इसका परिणाम होता है कि हम सत्य को समझने लगते हैं। सत्य को समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि ही एकमात्र साधन है। जो विचारक वस्तु के अनेकान्त धर्म को अपनी दृष्टि से ओझल कर उसके किसी एक ही धर्म को पकड़कर बैठ जाते हैं, वे सत्य को नहीं पा सकते।

वस्तु के उक्त स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण ही विभिन्न मतवादों की उद्भूति हुई है तथा सब अपने मत को सत्य मानने के साथ-साथ दूसरे के मत को असत्य करार दे रहे हैं। नित्यवादी पदार्थ के नित्य अंश को पकड़कर अनित्यवादियों को भला-बुरा कहता है, तो अनित्यवादी नित्यवादियों को उखाड़ फेकने की कोशिश में है। सभी, वस्तु के एक पक्ष को ग्रहण कर सत्यांश को ही पूर्ण सत्य मानने का दुरभिमान कर बैठे हैं। अनेकान्त दृष्टि कहती है कि ''भाई! वस्तु को समग्रतः जानने के लिए समग्र दृष्टि की जरूरत है। हम अपनी एकान्त दृष्टि से वस्तु के एक अंश को ही जान सकते हैं, सत्यांश कभी भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। वस्तु के विविध संदर्भों पर विचार करने पर ही उसका सम्पूर्ण बोध हो सकता है। वस्तु के एक अंश को जानकर उसे ही पूर्ण वस्तु मान बैठना हमारी भूल है। उसके विभिन्न पहलुओं को मिलाने का प्रयास करो, वस्तु अपने पूर्ण रूप में साकार हो उठेगी।'' इस तथ्य को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं-

मान लीजिए हिमालय पर अनेक पर्वतारोही विभिन्न दिशाओं से चढ़ते हैं, और भिन्न-भिन्न दिशाओं से उसके चित्र खींचते हैं। कोई पूर्व से, कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से, कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि भिन्न-भिन्न दिशाओं से लिये गये चित्र भी एक-दूसरे से भिन्न होंगे। फलतः वह एक-दूसरे से विपरीत दिखाई पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में कोई हिमालय के एक ही दिशा के चित्र को सही बताकर अन्य दिशा के चित्रों को झूठा बताए या उसे हिमालय का चित्र मानने से इंकार कर दे तो उसे हम क्या कहेंगे?

वस्तुतः सभी चित्र एकपक्षीय हैं। हिमालय का एकदेशीय प्रतिबिम्ब ही उनमें अंकित है, किन्तु हम उन्हें असत्य या अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाया जाये तो हिमालय का पूर्ण चित्र अपने-आप हाथ आ जाएगा। खण्ड-खण्ड हिमालय अखण्ड आकृति ले लेगा और इसके साथ ही हिमालय के दृश्यों का खण्डित सौन्दर्य अखण्डित सत्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देगा।

यही बात वस्तुगत सत्य के साथ है। हम वस्तु के एकपक्ष से उसके समग्र रूप को नहीं जान सकते। वस्तु के विभिन्न पक्षों को अपने नाना संदर्भों के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित करने के बाद ही हम वास्तविक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

अनेकान्त की आवश्यकता

वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए अनेकान्त की महती आवश्यकता है। किसी वस्तु/बात को ठीक-ठीक न समझकर उसके ऊपर अपने हठपूर्ण विचार अथवा एकान्त आग्रह लादने पर बड़े अनर्थों की आशंका रहती है। इस विषय में एक पारम्परिक कथा है-

किसी गाँव में पहली बार एक हाथी आया। गाँव वालों ने अब तक हाथी नहीं देखा था। वे हाथी से पूरी तरह अपरिचित थे। उस गाँव में पाँच अँधे भी रहते थे। उन्होंने भी जब सुना कि गाँव में हाथी आया है तो सभी की तरह वे भी हाथी के पास पहुँचे। आँखों के अभाव में पाँचों ने हाथी को छूकर अलग-अलग अनुभव किया। उनमें से एक ने कहा, ''हाथी रस्सी की तरह है,'' उसने पूँछ को छुआ था। दूसरे ने उसके पैर को छुआ और कहा कि ''हाथी तो खम्बे जैसी कोई आकृति है।'' तीसरे ने हाथी की सूँड को छुआ और कहा, ''अरे! यह तो कोई झूलने वाली वस्तु की आकृति का प्राणी है।'' चौथे ने हाथी के पेट/धड़ को छुआ और कहा ''हाथी तो दीवार की तरह है।'' पाँचवें ने उसके कान को स्पर्श किया और कहा, ''हो न हो यह तो सूप की आकृति वाला कोई प्राणी है।'' अलग-अलग अनुभवों के आधार पर पाँचों के अपने-अपने निष्कर्ष थे। पाँचों ने हाथी को अंशों में जाना था। परिणामतः पाँचों एक जगह बैठकर हाथी के विषय में झगड़ने लगे। सब अपनी-अपनी बात पर अड़े थे। इतने में एक समझदार आँख वाला व्यक्ति आया। उसने उनके विवाद का कारण जानकर कहा, ''भाई झगड़ते क्यों हो? तुम सब अँधेरे में हो, तुममें से किसी ने भी हाथी को पूर्ण नहीं जाना है। केवल हाथी के एक अंश को जानकर और उसी को पूर्ण हाथी समझकर आपस में लड़ रहें हो ध्यान से सुनो- मैं तुम्हें हाथी का पूर्ण रूप बताता हूँ। कान, पेट, पैर, सूँड और पूँछ आदि सभी अवयवों को मिलाने पर हाथी का पूर्ण रूप होता है। कान पकड़ने वालों ने समझ लिया कि हाथी इतना ही है और ऐसा ही है। पैर आदि पकड़ने वालों ने भी ऐसी ही समझा है; लेकिन तुम लोगों का ऐसा समझना कूप-मण्डूकता है। कुँए में

रहने वाला मेंढ़क समझता है संसार इतना ही है। हाथी का स्वरूप केवल कान, पैर आदि ही नहीं है, किन्तु कान-पैर आदि अवयवों को मिला देने पर ही हाथी का पूर्ण रूप बनता है।'' अन्धों को बात समझ में आ गयी। उन्हें अपनी-अपनी एकान्त दृष्टि पर पश्चात्ताप हुआ। सभी ने हाथी विषयक पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सन्तोष का अनुभव किया।

समन्वय का श्रेष्ठ साधन - यथार्थ में अनेकान्त पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी। सबसे बुरी बात तो यह है कि 'एकान्त' मिथ्या अभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान बैठता है, और कहता है कि वस्तु इतनी ही है, ऐसी ही है इत्यादि। इसी से नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं। एक मत का दूसरे मत से विरोध हो जाता है; लेकिन अनेकान्त उस विरोध का परिहार करके उनका समन्वय स्थापित करता है।

इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि वस्तु तत्त्व के विभिन्न पक्षों को तत्तत् दृष्टि से स्वीकार कर समन्वय का श्रेष्ठ साधन बनता है। अनेकान्त दृष्टि का अर्थ ही यही है कि प्रत्येक व्यक्ति की बात का सहानुभूति पूर्वक विचार कर परस्पर सौजन्य और सौहार्द स्थापित करें। अपने एकान्त और संङ्कीर्ण विचारधारा के कारण ही आज कलह और कलुषता की स्थिति निर्मित होती जा रही है, किन्तु संङ्कीर्ण दायरों से मुक्त होकर जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की बात का सहानुभूतिपूर्वक विचार कर उसका समुचित आदर किया जाता है वहाँ कलह और कलुषता की कोई गुँजाइश ही नहीं रहती।

आज वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक या जीवन के किसी भी क्षेत्र में हमारे एकान्तिक रुख के कारण ही विसंवाद हो रहे हैं। इस क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि बहुत उपयोगी है, क्योंकि अनेकान्त दृष्टि सिर्फ अपनी ही बात नहीं करती, अपितु सामने वाले की बात को भी धैर्यपूर्वक सुनती है। जहाँ सिर्फ अपनी ही बात का आग्रह होता है सत्य हमसे दूर हो जाता है। परन्तु जहाँ अपनी बात के साथ-साथ दूसरों की बात की भी सहज स्वीकृति रहती है, सत्य का सुन्दर फूल वहीं खिलता है। एकान्त 'ही' का प्रतीक है तो अनेकान्त 'भी' का। जहाँ 'ही' का आग्रह होता है वहाँ संघर्ष जन्म लेता है तथा जहाँ 'भी' की अनुगूँज होती है, वहाँ समन्वय की सुरभि फैलती है। 'ही' में कलह है 'भी' में समन्वय, 'ही' में

आग्रह है 'भी' में अपेक्षा। कहा गया है कि 'आग्रहशील व्यक्ति युक्तियों को खींचतान कर वहीं ले जाता है, जहाँ पहले से ही उसकी बुद्धि जमी होती है'।[1] किन्तु पक्षपात से रहित मध्यस्थ व्यक्ति अपनी बुद्धि को वहीं ले जाता है जहाँ उसे युक्तियाँ ले जाती हैं।

अनेकान्त दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तु स्वरूप को ही शुद्ध दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए, बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकान्त के प्रति आग्रहशील है और दूसरों के सत्यांश को स्वीकारने के लिए तत्पर नहीं है, वह तत्त्वरूपी नवनीत को प्राप्त नहीं कर सकता। गोपी नवनीत तभी पाती है, जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला छोड़ती है। अगर वह एक ही छोर खींचे और दूसरे को ढीला न छोड़े तो नवनीत नहीं निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से प्रकाशित किया जाता है, तभी सत्य का नवनीत हाथ लगता है। अतएव एकान्त के गँदले पोखर से निकलकर अनेकान्त के शीतल सरोवर में अवगाहित होना ही श्रेयस्कर है।[2]

---

1. आग्रहीवत् निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
   पक्षपातरहितस्य तु युक्तिः यत्र मतिरेति निवेशम्॥ अध्यात्म उपनिषद् उपाध्याय यशोविजय - 225
2. एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
   अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥ **पुरुषार्थ सिद्धि उपाय 225**

स्याद्वाद

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तात्मक है तो उसके प्ररूपण के लिए किसी भाषा-शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी भाषा-शैली का नाम है जिससे अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्ररूपण होता है। प्रायः अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है किन्तु दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। अनेकान्त ज्ञानात्मक है और स्याद्वाद वचनात्मक। अनेकान्त और स्याद्वाद में वाच्य वाचक सम्बन्ध है। अनेकान्त वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक, अनेकान्त प्रतिपाद्य है तो स्याद्वाद प्रतिपादक। अतः अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। हाँ! अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पर्यायवाची कहा जा सकता है।[1] वस्तुतः 'स्याद्वाद' अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को अभिव्यक्त करने की प्रणाली है।[2]

स्याद्वाद का अर्थ

'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। प्राकृत में स्यात् शब्द अव्यय निपात है। क्रिया या प्रश्नादि रूप नहीं। इसका अर्थ है कथञ्चित् किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि विशेष से। 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन, वचन अथवा प्रतिपादन। जो 'स्यात्' का कथन अथवा प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है।[3] इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ- विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से अनेकान्तात्मक वस्तु का परस्पर सापेक्ष कथन करने की पद्धति। इसे कथञ्चित्वाद, अपेक्षावाद और सापेक्षवाद भी कहा जा सकता है।

स्याद्वाद वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए परस्पर

---

1. स्यादिति अव्ययमनेकान्तता द्योतकं ततः स्याद्वादः अनेकान्तवाद इति यावत्॥ **स्याद्वादमंजरी।**
2. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।
3. सयमसार स्याद्वाद अधिकार तात्पर्य वृतिः पृ. 381

मुख्यता गौणता के साथ अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है। हम यह जान चुके हैं कि वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है। उसे हम अपने ज्ञान के द्वारा जान तो सकते हैं किन्तु वाणी द्वारा उसका एक साथ प्रतिपादन सम्भव नहीं है। भाषा की एक सीमा होती है। वह एक बार में वस्तु के किसी एक धर्म का ही कथन कर सकता है, क्योंकि 'सकृदुच्चारितः शब्दः एकमेवार्थं गमयति' इस नियम के अनुसार एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। वक्ता अपने अभिप्राय को यदि एक ही वस्तु धर्म के साथ प्रकट करता है तो उससे वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो सकता, किन्तु स्यात् पूर्वक अपने अभिप्राय को प्रकट करने से वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन होता है, 'स्यात्' पूर्वक बोला गया वचन अपने अर्थ को कहता हुआ भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता, बल्कि उनकी मौन स्वीकृति बनाये रखता है। हाँ जिसे वह कहता है वह प्रधान हो जाता है और शेष गौण, क्योंकि जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है, और अविवक्षित गौण। इस प्रकार स्याद्वाद वचन में अनेकान्त सुव्यवस्थित रहता है।

स्याद्वाद का अर्थ शायदवाद नहीं

स्याद्वाद के अर्थ को समझने में भारतीय दार्शनिकों ने भयानक भूल की है। शंकराचार्य का अनुकरण करते हुए आज भी डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे कतिपय विद्वान् उसी भ्रान्त परम्परा का अनुसरण करते चले आ रहे हैं। वे 'स्यात्वाद' में 'स्यात्' पद का अर्थ फारसी के शब्द 'शायद' से जोड़कर स्याद्वाद को शायदवाद, सन्देहवादक, सम्भावानावाद अथवा कदाचित्वाद मानते हैं। खेद की बात तो यह है कि जैन ग्रन्थों में इस पद का रहस्य समझाने वाले अनेक उल्लेखों के होने पर भी यह भ्रान्त परम्परा अभी तक चली आ रही है।

'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अभिप्रेत अर्थ शायद, सम्भावना, संशय या कदाचित् आदि कदापि नहीं है, जिससे कि इसे शायदवाद, संशयवाद अथवा सम्भावनावाद कहा जा सके। जैन ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का वाची शब्द है जो एक निश्चित दृष्टिकोण को प्रकट करता है।[1] वस्तुतः मूल जैन ग्रन्थों को नहीं देख पाने के कारण ही स्याद्वाद के विषय में इस

---

1. (अ) वाक्येषु अनेकान्त द्योती गम्यं प्रति विशेषकम् स्यात निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि।
आ. मी. 103

(ब) सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तता द्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः। **पंचा./त.प्र./14**

(स) स्याद्वाद सवर्थैकांतत्यागात् किंवृतचिद्विधि। **आ. मी. 104**

प्रकार की गलत धारणा बनी है। वर्षों से चली आ रही इस प्रकार की भ्रान्त धारणा का उन्मूलन करते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष रह चुके स्वर्गीय प्रो. फणिभूषण अधिकारी ने बड़ी मार्मिक बात कही है। वे कहते हैं– ''जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना अन्य किसी सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के साथ अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों को पढ़ने की परवाह नहीं की।''

इसी प्रकार प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति महामहोपाध्याय स्व. डॉ. गङ्गनाथ झा लिखते हैं, ''जब से मैंने शंकराचार्यजी द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि उस सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा। और जो कुछ मैं जैनधर्म को अब तक जान सका हूँ उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे इस धर्म के मूल ग्रन्थों को पढ़ने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन-धर्म का विरोध करने की कोई बात ही नहीं मिलती।''[1]

'स्यात्' शब्द सुनिश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इस धर्म वाली ही नहीं है, उसमें उसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। वाणी के द्वारा वस्तु का एक साथ प्रतिपादन सम्भव नहीं है इसलिए जिस या जिन धर्मों का कथन किया जाता है वे प्रधान हो जाते हैं और शेष गौण। 'स्यात्' शब्द अन्य अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा करता है। जैसे यह कलम लम्बी है, गोल है, मोटी है, स्पर्श रूप आदि अनेक गुण-धर्म उसके अन्दर विद्यमान हैं। यदि कोई कहे कि 'स्यात्' यह कलम लम्बी है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शायद कलम लम्बी है। लम्बाई की दृष्टि से तो कलम लम्बी ही है लेकिन कोई कलम लम्बी है, ऐसा सुनकर कलम को लम्बी ही न मान बैठे, इसलिए स्यात् लगाया गया है। 'स्यात्' शब्द का तो सिर्फ इतना ही उद्देश्य है कि वस्तु के विवक्षित किसी एक धर्म को ही पूर्ण वस्तु न मान लिया जाए। वह वस्तु के विवक्षित धर्मवाची शब्द को वस्तु पर

1. जैन दर्शन स्याद्वाद अंक पृ. 182

पूर्णाधिकार जमाने से रोकता है। 'स्यात्' शब्द कहता है कि "वस्तु का अस्तित्व बहुत विराट् है। भाई! कलम! यह सत्य है कि तुम लम्बी हो पर तुम सिर्फ लम्बी ही नहीं हो। इस समय शब्द के द्वारा उच्चारित होने के कारण यद्यपि तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर ही तुम्हारा अधिकार हो। मोटाई, गोलाई आदि तुम्हारे शेष/अनन्त धर्म भाई भी तुम्हारे ही तरह अस्तित्ववान् हैं। वे उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी की तुम्हारी लम्बाई।"

'स्यात्' शब्द के इसी रहस्य को उजागर करते हुए प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कि[1] – 'शब्द का स्वभाव है कि वह अवधाराणात्मक होता है इसलिए अन्य का प्रतिषेध करने में वह निरंकुश हो जाता है। उस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान् घटः' वाक्य घट के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह रूपवान् ही है यह अवधारण करके घड़े में रहने वाले रस, गन्ध आदि का प्रतिषेध नहीं, कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे यहाँ तक तो कोई हानि नहीं पर यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने ही स्वार्थ को सब कुछ मान शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थिति का विपर्यास करना है। स्यात् शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अनुस्यूत रहता है, और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। स्यात् यह निश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली ही नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। उसमें अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा स्यात् शब्द करता है।

'रूपवान् घटः' में 'स्यात्' शब्द रूपवान् के साथ नहीं जुटता, क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वयं ही दे रहा है। किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। वह रूपवान् को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है और साफ कह देता है कि घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्त धर्म हैं रूप भी उसमें एक है। यद्यपि रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि में मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है, पर रस की विवक्षा होने पर रूप

1. जैन दर्शन पृ. 363

गौण राशि में शामिल हो जाएगा और रस प्रधान हो जाएगा। इस तरह समस्त शब्द गौण मुख्य भाव से अनेकान्त अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसी सत्य का उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

हमने पहले ही बताया है कि स्यात् शब्द एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिए जो 'स्यात्' का 'रूपवान्' के साथ अन्वय करके उसका अर्थ शायद, सम्भावना और कदाचित् करते हैं वे प्रगाढ़ भ्रम में हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' इस वाक्य में 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता, किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य 'नास्ति' आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है, वह पूरी वस्तु को ही न हड़प जाए और अपने नास्ति आदि अन्य सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रति वाक्य में चेतावनी देता रहता है, "हे भाई अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम अपने नास्ति आदि भाइयों के हक को हड़पने की कुचेष्टा मत करना।" इस भय का कारण है कि प्राचीन काल में नित्य ही है। अनित्य ही है आदि हड़पू प्रकृति के अंश वाक्यों ने वस्तु पर पूर्णाधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत् में अनेक प्रकार के वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किए हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-विवाद ने अनेक कुमतवादों की सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से विश्व को अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकाल देता है जिससे अहंकार और पक्षपात का सृजन होता है।"

नित्य व्यवहार की वस्तु

स्याद्वाद हमारी नित्य व्यवहार की वस्तु है। इसकी उपादेयता को स्वीकार किए बिना हमारा लोक-व्यवहार एक क्षण को भी नहीं चल सकता। लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति अपनी पिता की अपेक्षा से पुत्र कहलाता है, वही अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी माना जाता है। इसी प्रकार अपने चाचा की अपेक्षा से भतीजा, भतीजे की अपेक्षा से चाचा, तो मामा की अपेक्षा से भाँजा और

भाँजे की अपेक्षा से मामा कहलाता है। इस प्रकार देखने से प्रतीत होता है कि पुत्र-पिता, चाचा-भतीजा, मामा-भाँजा आदि सब रिश्ते परस्पर विरोधी हैं, किन्तु उनका एक ही व्यक्ति से भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार पदार्थ के विषय में भी सापेक्षता की दृष्टि से अविरोधी तत्त्व प्राप्त होते हैं। विरोधी धर्मों के समन्वय के अभाव में अर्थात् एकान्त के सद्भाव में सदा संघर्ष और विवाद होते रहते हैं, विवाद का अन्त तो तभी सम्भव है जब स्याद्वाद से तत्त्वों का परस्पर सापेक्ष कथन करके अपने दृष्टिकोण के साथ अन्यों के दृष्टिकोणों का भी समन्वय हो।

इस प्रकार स्याद्वाद वस्तु तत्त्व के निरूपण की तर्कसंगत और वैज्ञानिक प्रणाली है। यह न अनिश्चयवाद है और न सन्देहवाद। यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद किसी निश्चित अपेक्षा से एक निश्चित धर्म का प्रतिपादन करता है उसमें सन्देह के लिए रञ्चमात्र भी अवकाश नहीं।

सप्तभङ्गी

सप्तभङ्गी का अर्थ

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्येक पदार्थ विरोधी अनेक धर्म युगलों का पिण्ड है। वे वस्तु में एक साथ रह तो सकते हैं, परन्तु उन्हें युगपत् व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इसके युगपत् प्रतिपादन के लिए भाषा में क्रमिकता और सापेक्षता चाहिए। स्याद्वाद पद्धति द्वारा प्रत्येक धर्म का वर्णन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से अस्ति (विधि) नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि रूप से सात प्रकार से किया जाता है, क्योंकि प्रत्येक धर्म-युगल धर्म सप्तक लिये हुए हैं। वे सात धर्म सात वाक्यों द्वारा कहे जाते हैं। प्रत्येक धर्मों की सप्त प्रकारीय इस वर्णन शैली को सप्तभङ्गी कहते हैं। सप्तभङ्गी अर्थात् सात प्रकार के भङ्ग, सात प्रकार के वाक्य विन्यास।[1] सप्तभङ्गी का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि-

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभङ्गी।[2]

प्रश्नानुसार वस्तुगत किसी भी एक धर्म में विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। जब वस्तुगत किसी धर्म का विधि निषेधपूर्वक अविरुद्ध कथन करना होता है तब जैन दार्शनिक सप्तभङ्गी न्याय का अनुसरण करते हैं। सप्तभङ्गियाँ इस प्रकार हैं[3]-

स्याद् अस्ति एव- किसी अपेक्षा से है ही।

---

1. सप्तभिः प्रकारैः वचन विन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते। स्या. वा. मं.का. 23 टी
2. त.वा. 1.6.51
3. सिय अत्थि, णत्थि उहयं अवतव्वं ण्णो य तत्तिदयं।
   दव्वं खु सत्त भङ्गी आदेसवसेण सम्भवदि। **प. का. गा. 14**

स्याद् नास्ति एव- किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव - किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अवक्तव्यमेव - किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से है ही पर किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव, स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

भङ्ग सात ही क्यों?

उक्त सात भङ्गों में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भङ्ग ही मूल भङ्ग हैं। शेष चार भङ्गों में तीसरा, पाँचवाँ और छठा भङ्ग द्विसंयोगी है तथा सातवाँ भङ्ग त्रिसंयोगी है। गणित के नियमानुसार भी 'अस्ति', 'नास्ति' और 'अवक्तव्य' इन तीन भङ्गों से चार संयुक्त भङ्ग बनकर सप्तभङ्गी दृष्टि का उदय होता है। नमक, मिर्च और खटाई इन तीनों स्वादों के संयोग से चार और स्वाद उत्पन्न होंगे। नमक, मिर्च, खटाई, नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई तथा नमक-मिर्च और खटाई। इस प्रकार सात स्वाद होंगे। इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक धर्म युगल में सप्त ही भङ्ग बनते हैं, हीनाधिक नहीं।

ये सातों भङ्ग वक्ता के अभिप्राय अनुसार बनते हैं। वक्ता की विवक्षा के अनुसार एक ही वस्तु है भी कह जा सकती है और नहीं भी। दोनों के योग से 'हाँ ना' एक मिश्रित वचन भङ्ग भी हो सकता है और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कहा जा सकता है। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तु है भी और फिर भी अवक्तव्य है, नहीं है फिर भी अवक्तव्य है अथवा है भी नहीं भी है फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात दृष्टियों के आधार पर सप्तभङ्गियाँ बनी हैं। सप्तभङ्गियों की सार्थकता को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं। किसी ने पूछा, ''आप

ज्ञानी हैं?'' इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो जानता ही हूँ। मैं कह सकता हूँ कि **''मैं स्याद् ज्ञानी हूँ।''** चूँकि मुझे आगम का ज्ञान है, किन्तु गणित, विज्ञान आदि अन्य अनेक विषयों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है उस अपेक्षा से कहूँ कि **''मैं स्याद् अज्ञानी हूँ''** तो भी अनुचित नहीं होगा। कितनी ही बातों का ज्ञान है और कितनी ही बातों का ज्ञान नहीं है। अतः मैं यदि कहूँ कि **''मैं स्याद् ज्ञानी भी हूँ और नहीं भी''** तो भी असंगत नहीं होगा। अगर इस दुविधा के कारण मैं इतना ही कहूँ कि **''मैं कह नहीं सकता कि मैं ज्ञानी हूँ या नहीं''** तो भी मेरा वचन असत्य नहीं होगा। इन्हीं आधारों पर सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूँ कि **''मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नहीं सकता कि आप जिस विषय को मुझसे जानना चाहते हैं उस विषय पर प्रकाश डाल सकता हूँ या नहीं।''** इसी बात को दूसरी तरह से कह सकता हूँ कि **''मैं इस विषय में विशेष नहीं जानता अतः यह नहीं सकता कि प्रकृत विषय में प्रकाश डाल सकूँ या नहीं।''** अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूँ कि **''मैं कुछ ज्ञानी भी हूँ कुछ नहीं भी हूँ।'' अतः कह नहीं सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं।** ये समस्त वचन प्रणालियाँ अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं तथा पृथक्-पृथक् रूप में वस्तु-स्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं, उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं।

स्याद्वाद का एक शास्त्रीय उदाहरण है, घट, जिसका स्वरूप नियमन जैन दार्शनिक सप्तभङ्गी के माध्यम से इस प्रकार करते हैं-

स्यात् अस्ति एव घटः ....कथञ्चिद् घट है ही।

स्यात् नास्ति एव घटः ....कथञ्चिद् घट नहीं ही है।

स्यात् अस्ति नास्ति एव घट :- कथञ्चिद् घट है ही, कथञ्चिद् घट नहीं ही है।

स्याद् अवक्तव्य एव घटः- कथञ्चिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव घटः- कथञ्चिद् घट है ही पर कथञ्चिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव घटः- कथञ्चिद् घट नहीं ही है और कथञ्चिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव घटः:- कथञ्चिद् घट है ही, कथञ्चिद् घट नहीं ही है और कथञ्चिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्यात् अस्ति एव घटः:- कथञ्चिद् घट है ही। इस वाक्य में 'घट' विशेष्य और अस्ति विशेषण है। एवकार विशेषण से युक्त होकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य में 'स्यात्' का प्रयोग नहीं होता तो 'अस्तित्व एकान्तवाद' का प्रसंग आ जाता, जो इष्ट नहीं है, क्योंकि घट में केवल अस्तित्व धर्म ही नहीं है, इसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमें हैं। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'एवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मों का संग्रहण- इन दोनों की निष्पत्ति के लिए 'एवकार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।

सप्तभङ्गी के प्रथम भङ्ग में विधि की और दूसरे में निषेध की कल्पना है। प्रथम भङ्ग में विधि प्रधान है और दूसरे में निषेध। वस्तु स्वरूप शून्य नहीं है इसलिए विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है। और वह सर्वात्मक नहीं है। अतः निषेध की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है।

जैसे विधि वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। यह विधि है पर-द्रव्य की अपेक्षा से घट का नास्तित्व है। यह निषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषेध आपेक्षिक पर्याय है, दूसरे के निमित्त से होने वाला पर्याय है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निषेध की शक्ति द्रव्य में निहित है। द्रव्य में यदि अस्तित्व धर्म हो और नास्तित्व धर्म न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नहीं रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है इसलिए उसे आपेक्षिक या पर निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा कवच का काम करता है, एक के अस्तित्व में दूसरे को मिश्रित नहीं होने देता। 'स्व द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर द्रव्य की अपेक्षा से घट नहीं है' ये दोनों विकल्प इस सत्यता को प्रकट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस क्षण में उसका अस्तित्व है, उस क्षण में उसका नास्तित्व नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व (विधि और निषेध) दोनों युगपत् हैं किन्तु एक क्षण में एक साथ दोनों का प्रतिपादन कर सकें, ऐसा कोई शब्द नहीं है। इसलिए युगपत् दोनों धर्मोंका बोध कराने के लिए अवक्तव्य भङ्ग

का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य है कि दोनों धर्म एक साथ हैं, किन्तु उनका कथन नहीं किया जा सकता। उक्त विवेचन का सार यह है कि स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य आदि भङ्ग घट वस्तु के द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव पर निर्भर करते है। घट जिस द्रव्य से निर्मित है जिस क्षेत्र काल और भाव में हैं उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से उसका अस्तित्व है, किन्तु अन्य द्रव्य, अन्य क्षेत्र, अन्य काल और अन्य भाव की अपेक्षा में उसका नास्तित्व है। इस प्रकार घट में अस्तित्व-नास्तित्व दोनों है और इन युगल धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। अतः वह (घट)अवक्तव्य भी है। अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य-ये तीनों मूल भङ्ग हैं। शेष चार इन्हीं भङ्गों से निष्पन्न होते हैं। अतः उनका विवेचन अनावश्यक है। सप्तभङ्गी से घटादि वस्तु समग्र भावाभावात्मक, सामान्य विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक धर्मों का युगपत् कथन सम्भव है।

अनेकान्त स्याद्वाद और सप्तभङ्गी में सम्बन्ध

यहाँ पर जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभङ्गी इन तीनों में क्या अन्तर हैं? इसका उत्तर संक्षेप में यह है कि अनेकान्त वस्तु है/वाच्य है, स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है/वाचक है और सप्तभङ्गी स्याद्ववाद का साधन है। स्याद्वाद जब अनेकान्त रूप वस्तु का कथन करता है तो सप्तभङ्गी के माध्यम से ही करता है। इसका आश्रय लिये बिना वह उसका निरूपण नहीं कर सकता। इसे और स्पष्टतया समझें कि स्याद्वाद स्याद्वादी वक्ता का वचन है। अनेकान्त उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है, और सप्तभङ्गी उसके प्रतिपादन की शैली, पद्धति या प्रक्रिया है। अतः सप्तभङ्गी में सात भङ्गों का समन्वय है इसलिए उसे सप्तभङ्गी कहा जाता है।

इस प्रकार यह स्याद्वाद का संक्षिप्त रूप है। यद्यपि यह विषय अत्यन्त व्यापक है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, फिर भी यहाँ उसका संक्षिप्त स्वरूप दर्शाना ही इष्ट है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए जैन न्याय के ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

परिशिष्ट 1

पारिभाषिक शब्द सूची

परिशिष्ट -2

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्रमांक	संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
1.	अमित श्रा.	अमितगति श्रावकाचार	आचार्य अमितगति	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत	वि.सं. 2015
2.	अष्ट पाहुड	अष्ट पाहुड़	आचार्य कुन्द-कुन्द	अनेकान्त जैन विद्वद् परिषद्, सोनागिरि	वि.सं. 1995
3.	अष्ट स.	अष्टसहस्री	आचार्य विद्यानन्द	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई	1915
4.	अष्टाध्यायी	अष्टाध्यायी			
5.	आ.सा.	आचार सार	आ. वीरनन्दि सि. चक्रवर्ती	दिगम्बर जैन समाज, अशोकनगर	1992
6.	आदिपुराण	–	आचार्य जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	
7.	आ.मी.	आप्त मीमांसा	आचार्य समन्भद्र	भा.जै.सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी	1914
8.	आ.मी.वृ.	आप्त मीमांसा पदवृत्ति	आ.वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती	भा.जै.सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी	1914
9.	आ.प.	आलाप पद्धति	आ.देवसेन	अनेकान्त विद्वद् परिषद, सोनागिरी	1995
10.	आव.नि.	आवश्यक निर्युक्ति	आ.भद्रबाहु (द्वितीय)	दे.ला.जै. पुस्तक फण्ड, सूरत	वि. 1976
11.	आव. वृ.	आवश्यक वृत्ति	हरिभद्र सूरि	–	1976

12.	उतरा. सू.	उत्तराध्ययन सूत्र.	–	पुष्पचन्द्र खेमचन्द वलाद	–
13.	उपा.	उपासकाध्ययन	सोमदेव सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ	1964
14.	ऋग्वेद	–	–	गीता प्रेस	–
15.	कठोपनिषद्	–	–	जै.पू. प्रचारक मण्डल, आगरा	1939
16.	कर्म ग्रन्थ	–	देवेन्द्र सूरि	प्राचीन पुस्तकोद्धारक फण्ड, सूरत	1939
17.	कल्पसूत्र	–	आ.भद्रबाहु	–	–
18.	कर्म प्र.	कर्म प्रकृति	आचार्य नेमिचन्द्र	भारतीय ज्ञानपीठ	1944
19.	क.पा.	कषाय पाहुड़	आचार्य गुणधर	दि.जैन संघ, मथुरा	2000
20.	का.अनु.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कुमार	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास	
21.	गीता	–	–	गीता प्रेस, गोरखपुर	
22.	गो.क.का.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	आचार्य नेमिचंद्र	भारतीय ज्ञानपीठ	1980
23.	गो.जी.का.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	आचार्य नेमिचंद्र	भारतीय ज्ञानपीठ	1978
24.	चा.पा.	चारित्र पाहुड	आ.कुन्द-कुन्द	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई	
25.	चा.सा.	चारित्र सार	चामुंडराय	दि.जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई	1974
26.	छहढाला	–	पं. दौलतराम		
27.	छान्दोग्य उपनिषद्	–	–	गीता प्रेस, गोरखपुर	
28.	जयधवला	–	आचार्य वीरसेन	दि. जैन संघ, मथुरा चौरासी,	
29.	जै.द.सा.	जैन दर्शन सार	पं. चैनसुखदास	वीर पुस्तक भंडार, जयपुर	1974
30.	जैन लक्षणावली	–	पं. बालभद्र सिद्धान्तशास्त्री	वीर सेवा मंदिर दरियागंज, दिल्ली	1973

31.	जै.सि.को.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष	जिनेन्द्र वर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ	1985
32.	त.अ.	तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	भा.अनेकान्त विद्वत् परिषद् सोनागिरि	
33.	तत्त्वबोध	–	शंकराचार्य	स्टीम प्रेस, मुम्बई सम्वत्	1988
34.	त.भा.वृ.	तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति	हरिभद्र सूरि	ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	1992
35.	त.वा.	तत्त्वार्थवार्तिक	भट्टाकलंक देव	दुलीचन्द वाकलीवाल देरगाँव, असम	
36.	त.वृ.	तत्त्वार्थ वृत्ति	श्रुतसागर सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ	
37.	त.वृ.भा.	तत्त्वार्थ वृत्ति (भास्करनन्दि)	अनु.आ. जिनमति	पाँचूलाल जैन, किशनगढ़	
38.	त.सा.	तत्त्वार्थसार	आचार्य अमृतचन्द वर्णी	दिगम्बर जैन ग्रन्थालय, वाराणसी	1970
39.	त.सू.	तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य उमास्वामी	पं. मोहनलाल शास्त्री जबलपुर	
40.	त.सू.	तत्त्वार्थसूत्र	पं.फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	वर्णी दि. जैन ग्रन्थमाला वाराणसी	
41.	त.स.	तर्क संग्रह	अन्नम भट्ट	हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी	सप्तम संस्करण
42.	तर्क भा.	तर्क भाषा	केशव मिश्रा	साहित्य भण्डार, मेरठ	1976
43.	ति.प.	तिलोयपण्णत्ति	आ. यतिवृषभ	भारतवर्षीय दि. जैन महासभा, लखनऊ	
44.	द्र.सं.	द्रव्य संग्रह	नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव		
45.	द्वात्रिंशतिका	द्वात्रिंशतिका	आचार्य अमितगति		
46.	ध.पु.	धवला पुस्तक	आचार्य वीरसेन	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	

47.	धर्म सं. श्राव.	धर्म संग्रह श्रावकाचार		अनेकानत विद्वत् परिषद्, सोनागिरि	
48.	नि.सा.	नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द		
49.	न्या.कु.च.	न्याय कुमुदचन्द्र	प्रभाचन्द्राचार्य	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला हीराबाग, मुम्बई	
50.	न्याय सू.	न्याय सूत्र	गौतम ऋषि	संस्कृति संस्थान, बरेली	1964
51.	पं.सं.प्रा.	पंच संग्रह प्राकृत	अज्ञात	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	
52.	पञ्चम कर्म ग्रन्थ				
53.	पञ्चास्तिकाय	आचार्य कुंदकुंद	अनेकान्त विद्वत् परिषद्, सोनागिरि		
54.	पञ्चाध्यायी		पं. राजमल	महावीर आश्रम, कारंजा	1978
55.	पं.सं.स्वो.	पंचसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति		मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर, डभोई	1938
56.	पद्मनंदि पञ्चविंशतिका	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	आ.पद्मनन्दि	जीवराज ग्रन्थमाला	1932
57.	पद्मपुराण (जैनेतर)				
58.	पातञ्जल महाभाष्य	–	–	–	
59.	पु.सि.उ.	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय	आचार्य अमृतचन्द्र		
60.	प्रतिक्रमण सूत्र				
61.	प्र.मी.	प्रमाणमीमांसा	आचार्य हेमचन्द्र	सीधी ग्रन्थमाला, कलकत्ता	1939
62.	प्रवचनसारोद्धार		नेमिचन्द्र सूरि	जीवनचन्द खेबरचन्द ज्वेहरी, मुम्बई	
63.	प्रमेयकमलमार्तण्ड		प्रभाचन्द्राचार्य	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई	1941

64.	वा.अनु.	वारस अणुवेक्खा	आचार्य कुन्दकुन्द		
65.	भग.आ.	भगवती आराधना	आ.शिवकोटि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर	
66.	भ.आ.वि.टी.	भगवती आराधना	अपराजित सूरि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर	
		विजयोदया टीका		जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर	
67.	भा.सं.	भावसंग्रह	वामदेव सूरि	माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला	
68.	मज्झिम निकाय	–	–	महाबोधि सभा, सारनाथ	
69.	मनुस्मृति	–	–	रणधीर बुक सेल, हरिद्वार	
70.	महा. पु.	महापुराण	आ. जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ	
71.	महाभारत	–	–	गीता प्रेस, गोरखपुर	
72.	मी.श्लो.वा.	मीमांसा श्लोक वार्तिक	–	–	
73.	मु.उ.	मुण्डक उपनिषद्	–	गीता प्रेस, गोरखपुर	
74.	मू.चा.	मूलाचार	आ.वट्टकेर	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	
75.	मो.मा.प्र.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	पं. टोडरमल	मुसद्दीलाल चेरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली	
76.	य.चम्पू	यशस्तिलकचम्पू	सोमदेव सूरि	निर्णयसार प्रेस, मुम्बई	
77.	यो.सार	योगसार	आ.अमितगति	भारतीय ज्ञानपीठ	1968
78.	योगसार स्वो. वृ.	योगसार स्वोपज्ञवृत्ति	आ.हेमचन्द्र	आत्मनन्द जैन पुस्तकालय	1922
79.	र.क.श्रा.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार	आ. समन्तभद्र	मुनि संघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर	
80.	रयणसार	–	आ. कुन्द-कुन्द		
81.	ल.सा.	लब्धिसार	आ.नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती		

82.	ला.सं.	लाटी संहिता	कवि राजमल	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई	
83.	वसु.श्रा.	वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दि	भारतीय ज्ञानपीठ	1992
84.	व्र.वि.सं.	व्रत विधान संग्रह	पं. बारेलाल जैन (राजवैद्य)	वैद्य बाबूलाल राजेन्द्रकुमार जैन, टीकमगढ़	
85.	वि.त.प्र.	विश्व तत्त्व प्रकाश	भावसेन त्रैविध्य	जै.सं. संरक्षक संघ. सोलापुर	1964
86.	ष.खं.	षट्खण्डागम	आ. पुष्पदन्त भूतबली	जै.सं. संरक्षक संघ. सोलापुर	
87.	ष.समु.	षड्दर्शन समुच्चय	आ. हरिभद्र सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ	1981
88.	सं.प्र.	संबोध प्रकरण	आ.हरिभद्र सूरि		
89.	स.सा.	समयसार	आ. कुन्दकुन्द	ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर	1987
90.	स.सि.	सर्वार्थसिद्धि	आ. पूज्यवाद	भारतीय ज्ञानपीठ	1989
91.	सां.का.	सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, दिल्ली	1976
92.	सा.ध.	सागार धर्मामृत	पं. आशाधर	भा.दि.जै. ग्रन्थमाला, मुम्बई	1972
93.	सि.विनि.	सिद्धि विनिश्चय	आ. अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ	1959
94.	स्था.	स्थानांग	–	–	
95.	स्या.मं.	स्याद्वाद मंजरी	आ. मल्लिसेन	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास	
96.	स्वयंभूस्तोत्र	स्वयंभूस्तोत्र	आ.समन्तभद्र		
97.	ह.पु.	हरिवंश पुराण	आ. जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ	

हिन्दी की पुस्तकें

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष
1.	अशोक के धर्मलेख	जनार्दन भट्ट	काशी	
2.	उड़ीसा में जैन-धर्म	नीलकण्ठदास	अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा	1958
3.	कर्म सिद्धान्त	जिनेन्द्र वर्णी	जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला, पानीपत	
4.	जैन इतिहास पर लोकमत	राजेन्द्र कुमार जैन	श्री जैन समाज, मेरठ	1968
5.	जैन दर्शन	प्रो. महेन्द्रकुमार जैन	गणेश वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी	
6.	जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान	मुनि नागराज	आत्माराम एंड संस, दिल्ली	
7.	जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास	डॉ. भागचन्द भास्कर	नागपुर विद्यापीठ प्रकाशन	1977
8.	जैन धर्म	पं. कैलाशचन्द जैन	भा.दि.जै. संघ मथुरा, चौरासी	
9.	जैन धर्म	पं. नाथूराम डोंगरीय	वीर निर्वाण ग्रन्थमाला, इन्दौर	
10	जैन धर्म दर्शन	मोहनलाल मेहता	-	
11.	जैन साहित्य का इतिहास	पं. कैलाशचन्द जैन	गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणासी	
12.	जैन साहित्य में विकार	पं. बेचरदास दोशी	दि. जैन युवक संघ, ललितपुर	
13.	तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ	-	जीवाजी राव विश्वविद्यालय	
14.	दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि	बाबू कामताप्रसाद जैन	दि.जै. सर्वोदय तीर्थ, अमरकंटक	
15.	नय दर्पण	जिनेन्द्र वर्णी	जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला, पानीपत	
16.	प्राचीन भारत	आर.सी. मजूमदार	मोतीलाल बनारसीदास	1990
17.	पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ	सं.डा. नेमीचन्द्र शास्त्री	आरा	1958

18.	भट्टारक संप्रदाय	विद्याधर जोहरापुरकर	शोलापुर	1958
19.	भरत और भारत	डॉ. प्रेमसागर	कुंदकुंद भारती, दिल्ली	
20.	भारतीय इतिहास और संस्कृति	डॉ. विशुद्धानन्द पं. जयशंकर	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	
21.	भारतीय इतिहास एक दृष्टि	डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन	भारतीय ज्ञानपीठ	1966
22.	भारत के प्राचीन राजवंश	विश्वम्भरनाथ रेउ	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, मुम्बई	
23.	भारतीय दर्शन	प्रो. हरेन्द्रप्रसाद	मोतीलाल बनारसीदास	1974
24.	भारतीय दर्शन	डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली	
25.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	1966	
26.	भारतीय दर्शन	वाचस्पति गैरोला	लोकभारती प्रकाशन	
27.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	एम. हिरियन्ना	राजकलम प्रकाशन, नई दिल्ली	1993
28.	भारतीय संस्कृति के विकास में जैन धर्म का योगदान	डॉ. हीरालाल जैन	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी	भोपाल
29.	भारत में संस्कृति और धर्म	डॉ. एम.एल. शर्मा	मनीषा ट्रस्ट, सतना	
30.	मानवता की धुरी	नीरज जैन	मनीषा ट्रस्ट, सतना	
31.	मार्कण्डेय पुराण एक अध्ययन	डा. वासुदेवशरण अग्रवाल		
32.	मोहनजोदड़ो जैन परम्परा और प्रमाण	आ. विद्यानन्द	कुन्द-कुन्द भारती, दिल्ली	
33.	शान्तिपथ प्रदर्शन	जिनेन्द्र वर्णी	जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला, पानीपत	
34.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन	
35.	हिमालय में भारतीय संस्कृति	विश्वम्भरसहाय प्रेमी		
36.	हिन्दू सभ्यता	राधाकुमुद मुखर्जी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	

English Books

S.No.	Name of Book	Writer's Name	Publisher	Year
1.	Cosmology old and new	G.R. Jain	Bhartiya Gyanpith	
2.	The Heart of Jainism	Miss. Stevension	Munshiram Manohar Lal, Delhi	
3.	The Jain Stupe Mathura			
4.	Indian Antiquary			
5.	Harrappa and Jainsm	T.N. Ramchandran	Kundkund Bharti Prakashan	
6.	The Nature of the Physical World			

पत्रिकाएँ

1.	अहिंसा वाणी (ऋषभदेव विशेषांक) अप्रैल–मई 1957	सम्पादक बाबू कामताप्रसाद जैन	अखिल विश्व जैन मिशन
2.	श्रमण	डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्या आश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
3.	ऋषभ सौरभ	हृदय राज जैन	ऋषभदेव प्रतिष्ठान, दिल्ली
4.	णाणसायर (ऋषभ अंक)	डॉ. अशोक जैन	अरिहन्त इंटरनेशलनल, दिल्ली
5.	जैन सिद्धान्त भास्कर	जैन सिद्धान्त भवन, आरा	